शुभ कामना

हिज़ होलीनैस श्री वि केशवन नम्पूतिरी जी
रावल श्री बदरीनाथ मंदिर

'मैंने श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी द्वारा लिखित "हिमालय में भारतीय संस्कृति" पुस्तक देखी। मुझे इसे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। हिमालय के सम्बन्ध में लिखा यह ग्रंथ आज न केवल भारत के प्राचीन गौरवमय स्थलों से परिचय कराता है, वरन् भारतीय संस्कृति का जैसा विकास हिमालय की कन्दराओं में हुआ उसका प्रभावशाली परिचय देता है।'

'मुझे विश्वास है कि इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का साहित्यिक क्षेत्र में सम्मान होगा।'

भूमिका

श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी द्वारा लिखित 'हिमालय में भारतीय संस्कृति' शीर्षक पुस्तक देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। यह अत्यन्त व्यापक आधार पर लिखी गई है और हिमालय प्रदेश का इसमें बहुत ही हृदयग्राही परिचय दिया है। कालिदास ने 'अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' लिखकर भारतीय जनता को हिमालय के प्रति सचेत किया था। चाहिए तो यह था कि हिमालय की प्राचीर से सुरक्षित रहते हुए हम लाखों की संख्या में हिमालय की यात्रा करते और वहां की देवभूमियों, नदियों, चोटियों और द्वारों से अपना परिचय बढ़ाते किन्तु हमने हिमालय को भुला दिया और महाहिमवन्त के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया उसी का फल आज सामने आ गया है।

कालिदास हिमालय के बहुत बड़े प्रशंसक और प्रेमी थे। वे मानते थे कि हिमालय के पश्चिमी छोर की एक सीमा वंक्षु नदी है और दूसरी सीमा ब्रह्मपुत्र की शाखा लौहित्य नदी है। इन दोनों के बीच में हिमालय के अनेक जनपद हैं जिनमें सबसे पश्चिम में कम्बोज और सबसे पूरब में कामरूप या प्राग्ज्योतिष है। यहां की उत्सव संकेत और किन्नर नामक जातियों का उन्होंने उल्लेख किया है जिनका जन जीवन आज भी संगीत और नृत्य से तरंगित रहता है।

हिमालय का विस्तृत परिचय देने के लिए स्वीजरलैण्ड के दो पर्वतारोही बुलार्ड और हेडेन ने चार भागों में 'ए स्केच आफ दी ज्योग्रफी एण्ड जालजी' नामक ग्रंथ लिखा था जो आज भी वहां की चोटियों और नदियों के सम्बन्ध में मूल्यवान् सूचनाओं से परिपूर्ण है। इसी प्रकार एक अन्य लेखक ने कैलास पर्वत को देवों का इन्द्रासन या 'थ्रोन आफ दी गाड्स' का

पद प्रदान किया है। यद्यपि आज कैलास और मानसरोवर भारतीय भूगोल के अंग नहीं रहे किन्तु भारतीय धार्मिक भावना में वे सदा के लिए अमर हैं।

हिमालय के दो भौगोलिक खण्ड माने जाते हैं—एक बद्री केदार खण्ड और दूसरा कैलास मानसरोवर खण्ड। बद्री केदार की ऊंची चोटियों से गंगा यमुना का जन्म हुआ है। कैलास पर्वत के तटान्त प्रदेश में सिन्धु, शुतुद्रु, काली, कर्णाली और ब्रह्मपुत्र इन पांच बड़ी नदियों का उद्गम है जिनसे भारत की भूमि सदा उपकृत हो रही है। हिमालय में २० सहस्र फुट से ऊंचे अनेक गिरि शृंग हैं जिनमें काराकुरम, बदरी केदार, गुसाईं थान, धौलागिरि, कंचन जंघा, गौरीशंकर, एवरेस्ट आदि हैं। प्राचीन भारतवासी इनके विषय में जानते थे और हिमालय के भूगोल में उन्होंने इस प्रदेश को महाहिमवन्त कहा है। यही अन्तगिरि भी कहलाता था। इस गर्भ शृंखला से दक्षिण की ओर हिमालय की दूसरी शृंखला है जो ६-१० हजार फुट ऊंची है। मसूरी, नैनीताल, डलहौजी आदि नामक पर्वतीय स्थान उसी में हैं। उसका प्राचीन नाम बहि गिरि या युल्लुहिमवन्त था। हिमालय का तीसरा भाग जो आज तराई कहलाता है प्राचीन उपत्यका या उपगिरि कहा जाता था। इसके निवासियों में रामायण और महाभारत की कथायें भरी हुई हैं और वे भारतीय लोक वार्ता शास्त्र, संगीत और नृत्य के सुरक्षित गढ़ हैं। इन्हीं के गढ़वाल और कुमायूं प्रदेश उत्तर प्रदेश के भू भाग हैं और रामपुर बसहर एवं कुल्लू काङ्गड़ा (प्राचीन कुलूत और त्रिगर्त) पंजाब के अङ्ग हैं।

हिमालय में दक्षिण की ओर आने के लिए अनेक दर्रे हैं जिन्हें संस्कृत भाषा में द्वार कहते हैं। बंगाल और आसाम की ओर से तिब्बत में जाने के लिए कितने ही दर्रे आज भी दुआर या द्वार कहलाते हैं। भारत के नवयुवकों के लिए आवश्यक है कि वे हिमालय के भूगोल को निकट से जानें। यह कार्य दो प्रकार से सम्भव है—एक तो प्रतिवर्ष गर्मियों की छुट्टियों में छात्रों के दल यात्री रूप में हिमालय का भ्रमण करें जिनका निर्देशन और व्यय शिक्षा विभाग की ओर से मिलना चाहिए। दूसरा उपाय हिमालय सम्बन्धी ग्रंथों को पाठ्य-क्रम में स्थान देना है और विशेष व्याख्यानों का प्रबन्ध कराना है।

मुझे इस बात का बहुत हर्ष है कि श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी ने स्वयं हिमालय का निकट से दर्शन करके इस उपयोगी और रोचक ग्रन्थ की रचना की है। हिमालय की रमणीय शोभा का इसमें विशेष वर्णन है जो देश-वासियों को हिमालय की द्रोणियों में प्रवेश करने के लिए निरंतर निमन्त्रण भेज रही हैं। इस सम्बन्ध में कालिदास का हिमालय के लिए यह प्रशस्ति वाक्य सदा स्मरण रखने योग्य है—

'पितुः प्रदेशाः तव देव भूमयः'

यह पवित्र वाक्य स्वयं शिव ने पार्वती से कहा था तुम्हारे पिता हिमालय के ये रम्य प्रदेश साक्षात् देवभूमि या स्वर्ग ही हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
२३-१२-६५

वासुदेव शरण

प्राक्कथन

हिमालय के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्रथम बार लगभग ४४ वर्ष पूर्व हुआ था परन्तु पिछले वारह तेरह वर्षों में मुझे हिमालय में अवस्थित मुख्य तीर्थों को देखने और हिमालय के जन-जीवन का निकट से अध्ययन करने के अनेक अवसर मिले। १९६१ में जिस समय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद बदरीनाथ गए थे उस समय मुझे भी वहां जाने का अवसर मिला था। हिमालय के दर्शन से राजेन्द्र बाबू बड़े प्रभावित हुए थे और उन्होंने हिमालय की अलौकिक छटा को देखकर कहा था कि यहां आकर मुझे भगवान के दर्शन जैसा आनन्द प्राप्त हुआ।

हिमालय ने सदा से ही धर्म-प्राण भारतीयों को आकृष्ट किया है। मेरी जिज्ञासा रही है कि कौन सी ऐसी प्रेरणा है जिसने युग युगों से हमारे योगियों, साधकों और धर्माचार्यों को आह्वान किया है। मुझे मेरी जिज्ञासा उन स्थानों में भी ले गई जो स्थापत्य एवं मूर्तिकला की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखते हैं। हिमालय की प्राकृतिक छटा, उसकी गगन-चुम्बी पर्वतमाला, उसके कल-कल निनाद करते प्रपात, जल स्रोत और नदियां मनन और चिन्तन की स्वतः प्रेरणा देते हैं। इसी के कारण भारतीय संस्कृति का विकास करने वाले आचार्यों ने हिमालय की कन्दराओं में बैठकर साधना की।

"हिमालय में भारतीय संस्कृति" पुस्तक लिखने की मेरी बहुत वर्षों से इच्छा थी। मेरे स्नेही मित्र श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, अध्यक्ष पुरातत्व विभाग, सागर विश्व-विद्यालय ने, जिन्हें हिमालय में मेरी यात्राओं से जानकारी थी, मुझे इस पुस्तक को शीघ्र पूर्ण करने की प्रेरणा की। साथ ही जब आदरणीय डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने मुझे इस विषय पर लिखने के लिए प्रोत्साहित किया तो मैंने इस पुस्तक को मूर्त्त रूप देना आरम्भ किया।

भारतीय संस्कृति का इतिहास प्रायः सृष्टि के आदि से प्रारम्भ होता है। वेदों की रचना से ही वैदिक संस्कृति का प्रारम्भ माना जाता है। पुराणों के द्वारा भी भारतीय संस्कृति का निरूपण हुआ। विविध कालों में इसके रूप में अनेक परिवर्तन हुए परन्तु संस्कृति की मूल आत्मा ज्यों की त्यों बनी रही। भारत की संस्कृति के मौलिक स्वरूप की ओर विश्व भर के दर्शनकार और विद्वान आकर्षित होते रहे हैं और भौतिकवाद के इस युग में भी पाश्चात्य विद्वान भारत की सांस्कृतिक थाती से कुछ न कुछ ग्रहण करने को उद्यत रहते हैं।

हिमालय में विभिन्न युगों में भारतीय संस्कृति का जिस प्रकार विकास हुआ उसका मैंने इस पुस्तक में उल्लेख करने का यत्न किया है। फिर भी यह विषय इतना गहन है कि इस पर काफी मनन और विचार किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति के साथ-साथ मैंने हिमालय में अवस्थित तीर्थों का विश्लेषण करते हुए पर्वतीय जन-जीवन पर कुछ प्रकाश डाला है। साथ ही इस बात को प्रगट करने का यत्न किया है कि यह लोग भारत के उत्तरी सीमा पर रहते हुए किस प्रकार उसकी रक्षा करते हैं। मेरा विश्वास है कि हिमालय का अध्ययन अनेकानेक दृष्टि-कोणों से किया जा सकता है और भारतीय संस्कृति के विविध स्रोत उसमें निहित ज्ञान सामग्री से प्राप्त किए जा सकते हैं। इस दिशा में विद्वानों को प्रवृत्त होने की आवश्यकता है।

भारत के मुकुट हिमालय पर इस समय संसार भर की दृष्टि लगी है। योगियों, तपस्वियों और साधकों के प्रिय हिमाच्छादित शृंगों पर इस समय आधुनिक शस्त्रों की गड़गड़ाहट सुनाई देने लगी है और हमारे पड़ौसियों की गृध्रदृष्टि उसकी ओर लगी है। ऐसी दशा में हिमालय भारत का प्राण बन गया है। बिना प्राण के जीवन एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता। आज सारा देश हिमालय की रक्षा के लिये हर प्रकार के बलिदान के लिए कटिबद्ध है।

प्रस्तुत पुस्तक मेरी यात्राओं और जन-जीवन का अध्ययन करने की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप लिखी गई है। साहित्य-सेवा की स्पृहा मन में रखते हुए भी मैं कभी तदनुकूल साधना नहीं कर सका, किसी प्रकार के अनुसंधान-कार्य की तो कल्पना भी मेरे लिए असंभव है। फिर भी जिज्ञासा मेरा स्वभाव है। उसी के परिणाम स्वरूप कुछ लिख लेता हूं जिसका उद्देश्य जन साधारण को कुछ संदेश देना ही होता है, विद्वानों की श्रेणी में बैठने की आकांक्षा या साहित्यकार कहलाने का अहंकार कदापि नहीं।

मैं आदरणीय श्री वि केशवन नम्पूतिरी रावल श्री बदरीनाथ मंदिर का अत्यन्त आभारी हूं कि उन्होंने मुझे अपनी शुभ कामना भेजने की महती कृपा की।

भारतीय संस्कृति के मूक साधक, श्रद्धास्पद डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मैं हृदय से आभारी हूं कि उन्होंने रुग्ण होते हुए भी इस पुस्तक की भूमिका लिखने एवं हिमालय दर्शन के लिये कुछ सुझाव देने का कष्ट किया।

मैंने इस पुस्तक की रचना में जिन ग्रथकारों, चित्रकारों एवं विद्वानों की सामग्री का उपयोग किया है मैं उन सभी के प्रति हार्दिक आभार प्रगट करता हूं। यदि इस कृति से जनता का हिमालय विषयक कुछ ज्ञानवर्द्धन हो सका तो मैं अपना श्रम सार्थक मानूंगा और यदि कोई मनीषी अनुसंधाता इस आधार पर उच्चतर अध्ययन प्रस्तुत कर सके तब तो और भी अहोभाग्य।

विश्वम्भर सहाय प्रेमी

अनुक्रम

हिमालय में भारतीय संस्कृति

हिमालय

भारतीय संस्कृति

विदेशियों का भारत आगमन

हिमालय की पुण्यभूमि

हिमालय के तीर्थ

हिमालय की चित्रकला

हिमालय पर

हिमालय

कालिदास द्वारा गुणगान

विदेशी विद्वानों द्वारा स्तुत्य

वैदिक संस्कृति

पौराणिक संस्कृति

जैन संस्कृति

बौद्ध संस्कृति

विदेशों में बौद्ध धर्म

विदेशियों का आगमन

हिमालय

पौराणिक ग्रंथों में हिमालय को देवताओं और देवाङ्गनाओं की क्रीड़ा-भूमि बताया गया है। उनका कहना है कि हिमालय देवतात्मा है, हिमालय शिव स्वरूप है। शिव और पार्वती का सम्बन्ध हिमालय के साथ जुड़ा हुआ है। उनके विचारानुकूल न जाने कितने देवता आज भी हिमालय के उन्नत शिखरों पर वास करते हैं। हमने जिस समय प्रथम बार बदरीनाथ की यात्रा की तो पण्डा ने हमें बताया कि मंदिर के दोनों तरफ जो विशाल शिखर दिखाई दे रहे हैं, इनके नाम नर और नारायण हैं। इन पर नर और नारायण नाम के दो तपस्वी आज भी तपस्या करते हैं। हिमालय में देवताओं के निवास की इस प्रकार की अनेक गाथायें जुड़ी हुई हैं।

हिमालय भारत माता का स्वर्ण मुकुट है। हिमालय का सम्बन्ध युग-युगों से भारत के महापुरुषों, ऋषियों और तपस्वियों के नाम के साथ जुड़ा है। इसकी कन्दराओं और उपत्यकाओं में भगवान् शंकराचार्य जैसे तत्वदर्शियों ने साधना की है।

हिमालय वसुधा के लिए अनुपम कोषागार है। हिमालय अनेक सरिताओं का उद्गम स्थान है जिनमें इस देश को गौरवान्वित करने वाली गंगा और यमुना जैसी नदियाँ सम्मिलित हैं। हिमालय खनिज-सम्पत्ति का अनूठा भण्डार है। हिमालय साधना करने वाले व्यक्तियों के लिए तपोभूमि है। हिमालय का अनुपम सौन्दर्य अनायास ही मानव-हृदय को मोह लेता है।

हिमालय-आत्मचिन्तन, ज्ञान और मुक्ति प्राप्ति के लिए साधकों, चिन्तकों एवं योगियों को प्रश्रय देता रहा है। न जाने कितने तपस्वियों और महापुरुषों ने इसे अपना साधना-क्षेत्र बनाया। इसकी कन्दराओं में अनेक ग्रंथों की रचना हुई। महाकवि कालिदास ने इसकी उपत्यकाओं में जो काव्य-रचना की, वह आज संसार के विद्वानों को भी विमुग्ध कर रही है।

हिमालय की उपत्यकाओं में भारतीय संस्कृति का उदय हुआ, उस संस्कृति का जो अनेक आघात सहकर भी ज्यों की त्यों अक्षुण्ण बनी हुई है। इसका मनमोहक सौन्दर्य कलाकारों और चित्रकारों को अनायास ही मोहित कर लेता है।

अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।

—कालिदास

'कुमारसम्भव' के प्रथम सर्ग में कविकुल गुरू कालिदास ने हिमालय की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है :—

"भारत के उत्तर में देवता के समान पूजनीय हिमालय नाम का बड़ा भारी पहाड़ है। वह पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तक फैला हुआ ऐसा लगता है मानों वह पृथ्वी को मापने-तौलने का मापदंड हो।

"राजा पृथु के कहने से सब पर्वतों ने मिलकर इसे बछड़ा बनाया और दुहने में चतुर मेरु पर्वत को दुहने वाला बनाकर पृथ्वी रूपी गौ से सब चमकीले रत्न और जड़ी-बूटियां दुहकर निकाल लीं।

"इस अनगिनत रत्न उत्पन्न करने वाले हिमालय की शोभा हिम के कारण कुछ कम नहीं हुई, क्योंकि जहां बहुत से गुण हों वहां यदि एक आध अवगुण भी आ जाय तो उसका वैसे ही पता नहीं चल पाता जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक छिप जाता है।

"हिमालय की कुछ चोटियों पर मेरु आदि धातुओं की अनेक रंग-विरंगी चट्टान हैं। इसीलिए कभी-कभी उन चट्टानों के पास पहुंचे हुए बादलों के टुकड़े उनके रंग की छाया पड़ने से संध्या के बादलों जैसे रंग-विरंगे दिखाई पड़ने लगते हैं। उन्हें देखकर सन्ध्या होने के पहले ही वहां की अप्सराओं को यह भ्रम हो जाता है कि संध्या हो गयी और इस हड़बड़ी में वे सायंकाल के नाच-गान के लिए अपना शृंगार करना प्रारम्भ कर देती हैं।

"इसकी कुछ चोटियां इतनी ऊंची हैं कि मेघ भी उनके बीच तक ही पहुंच कर रह जाते हैं, उनके ऊपर का आधा भाग मेघों के ऊपर निकला रहता है। इस लिए निचले भाग में छाया का आनन्द लेने वाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होने से घबड़ा उठते हैं, तब वे बादलों के ऊपर उठी हुई उन चोटियों पर जाकर रहने लगते हैं जहां उस समय धूप बनी रहती है।

"यहां के सिंह जब हाथियों को मारकर चले जाते हैं तब रक्त से लाल उनके पंजों की पड़ी हुई छाप हिम की धारा से धुल जाती है। फिर भी उन सिंहों के नखों से गिरी हुई गज-मुक्ताओं को देखकर ही यहां के किरात पता चला लेते हैं कि सिंह किधर गये हैं।

"इस पर्वत पर उत्पन्न होने वाले जिन भोज-पत्रों पर लिखे हुए अक्षर हाथी के सूंड पर बनी हुई लाल बुंदकियों जैसे दिखाई पड़ते हैं उन्हें विद्याधरियां अपने प्रेम-पत्र लिखने के काम में लाया करती हैं।

"इस पहाड़ पर ऐसे छेद वाले वांस बहुतायत से होते हैं जो वायु भर जाने पर वजने लगते हैं। तब ऐसा जान पड़ता है मानों ऊंचे स्वर से गाने वाले किन्नरों के गाने के साथ वे संगत कर रहे हों।

"जव यहाँ के हाथी अपनी कनपटी खुजलाने के लिए देवदारु के पेड़ों से माथा रगड़ते हैं तंव उनसे सुगन्धित दूध वहने लगता है और उसकी महक से इस पर्वत की सभी चोटियां एक साथ गमक उठती हैं।

"यहां की गुफाओं में रात को चमकने वाली जड़ी-वूटियां भी बहुत होती हैं। इसलिए यहां के किरात लोग जब अपनी-अपनी प्रियतमाओं के साथ उन गुफाओं में विहार करने आते हैं तब ये चमकने वाली जड़ी बूटियां ही उनकी काम-क्रीड़ा के समय विना तेल के दीपक वन जाती हैं।

"यहां की किन्नरियां जव जमे हुए हिम के मार्गों पर चलती हैं तब उनकी उंगलियां और एड़ियां ऐंठ जाती हैं, पर वे करें क्या? अपने भारी नितम्बों और स्तनों के बोझ के मारे वे वेचारी शीघ्रता से चल नहीं पातीं और चाहते हुए भी वे अपनी स्वाभाविक मन्द गति को नहीं छोड़ पातीं।

"हिमालय की लम्बी गुफाओं में दिन में भी अंधेरा छाया रहता है। ऐसा लगता है मानों अंधेरा भी दिन से डरने वाले उल्लू के समान इसकी गहरी गुफाओं में जाकर दिन में छिप जाता है और हिमालय उसे अपनी गोद में शरण दे देता है। क्योंकि जो महान होते हैं वे अपनी शरण में आये हुए नीच लोगों से भी वैसा ही अपनापन वनाये रखते हैं जैसा सज्जनों के साथ।

"जिन हरिणियों की पूंछों के चंवर वनते हैं वे चमरी हरिणियां जव यहां चन्द्रमा की किरणों के समान अपनी धौली पूछों को इधर उधर घुमाती हुई चलती हैं तव ऐसा प्रतीत होता है मानों वे इस पर्वतराज पर पूंछ के चंवर डुलाकर इसका गिरिराज नाम सच्चा कर रही हों।

"जव यहां की गुफाओं में किन्नरियां अपने प्रियतमों के साथ काम-क्रीड़ा करती रहती हैं, उस समय जव वे शरीर पर से वस्त्र हट जाने के कारण लजाने लगती हैं तव वादल उन गुफाओं के द्वारों पर आकर ओट करके अंधेरा कर देते हैं।

"गंगा जी के झरनों की फुहारों से लदा हुआ, वार-वार देवदारु के वृक्ष को कंपाने वाला और किरातों की कमर में वंधे हुए मोर पंखों को फरफराने वाला यहां का शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन उन किरातों की थकान मिटाता चलता है जो मृगों की खोज में हिमालय पर सदा इधर उधर घूमते रहते हैं।

"इसकी ऊंची चोटियों पर के तालों में खिलने वाले कमलों को स्वयं सप्तर्षिगण पूजा के लिए अपने सप्तर्षि मण्डल से आकर तोड़ ले जाया करते हैं। उनके चुनने से

जो कमल बच रहते हैं उन्हें नीचे उदय होने वाला सूर्य अपनी किरणें ऊंची करके खिलाया करता है।

"यज्ञ में काम आने वाली सामग्रियों को उत्पन्न करने के कारण और पृथ्वी को संभाले रखने की शक्ति होने के कारण इस हिमालय को स्वयं ब्रह्माजी ने उन पर्वतों का स्वामी बना दिया जिन्हें यज्ञ में भाग पाने का अधिकार मिला हुआ है।"

हिमालय को तपस्वियों की साधना की पुण्य भूमि माना गया है। मत्स्य पुराण में लिखा है—

अल्पेन तपसा यत्र सिद्धिं प्राप्स्यन्ति तापसाः ।
यस्य दर्शनमात्रेण सर्वकल्मषनाशनम् ॥

इसका अभिप्राय यह है कि हिमालय में तपस्या करने वाले तपस्वियों को थोड़े समय तक तपस्या करने पर ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके तो दर्शन मात्र से ही सभी प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं।

आज भी हिमालय की कन्दराओं में अनेक योगी और महात्मा एकान्तवास कर रहे हैं। सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त होकर वे निर्जन स्थान में भगवान की आराधना करते हैं। इस प्रकार हिमालय युग-युगों से तपस्वियों की साधना स्थली बना हुआ है।

किरातार्जुन में इस सम्बन्ध में लिखा है -

वीतजन्म जरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोऽपहादितः संभवन्ति मतयोभवच्छिदः ॥

जैसे शास्त्र-ज्ञान से बुद्धि निर्मल होती है वैसे ही यहां जन्म जरा-रहित ब्रह्म के परम निष्कलंक पद को प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों की बुद्धि सांसारिक आकर्षणों से मुक्त हो जाती है।

'किरातार्जुन' में हिमालय को स्वर्ग से भी सुन्दर बताया गया है और इसके उन्नत शिखरों पर वास करने वालों को देव तुल्य माना है।

कवियों की भावना—

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने हिमालय के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

वह अगला समतल जिस पर है देवदारु का कानन
घन अपनी प्याली भरते ले जिसके दल से हिमकन।
श्रम, ताप और पथ पीड़ा क्षण भर में थे अन्तर्हित,
सामने विराट धवल नग अपनी महिमा से विलसित।

उसकी तलहटी मनोहर श्यामल तृण वीरुध् वाली
नव कुंज, गुहा, गृह सुन्दर हृद से भर रही निराली।
वह मंजरियों का कानन कुछ अरुण पीत हरियाली
प्रतिपर्व सुमन संकुल थे छिप गई उन्हीं में डाली।
यात्री-दल ने रुक देखा मानस का दृश्य निराला
खग-मृग को अति सुखदायक छोटा-सा जगत् उजाला।
मरकत की वेदी पर ज्यों रक्खा हीरे का पानी
छोटा-सा मुकुर प्रकृति का या सोई राका रानी।
दिनकर गिरि के पीछे अब हिमकर था चढ़ा गगन में
कैलास प्रदोष-प्रभा में स्थिर बैठा किसी लगन में।

राष्ट्र कवि मैथलीशरण गुप्त ने हिमालय के वर्णन में बताया है --

शैलराज सहस्र शीर्षोपम बड़ा है
वरद विभु सा अभय-मुद्रा में खड़ा है।
शून्य भर कर यह रजत मंदिर बड़ा है
मिहिर हीरक कलश-सा इस पर चढ़ा है।

कविवर सुमित्रा नन्दन पंत ने हिमाद्रि और समुद्र के वर्णन में लिखा है --

वह शिखर-शिखर पर स्वर्गोन्नत,
स्तर पर स्तर ज्यों अंतर्विकास
चढ़ सूक्ष्मतम चिद् नभ में
करता हो शुचि शाश्वत विलास।
वह मौन गंभीर प्रशांत ऊर्ध्व
स्थित-धी असंग चिर निरभिलाप,
आत्मा की गरिमा का भू पर
बरसाता हो अकलुष प्रकाश।

कविवर रामधारीसिंह दिनकर ने 'मेरे नगपति' रचना में हिमालय का वर्णन करते हुए लिखा है—

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम- किरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

युग युग अजेय, निर्बन्ध मुक्त,
युग युग शुचि, गर्वोन्नत महान्,
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखंड यह चिर समाधि,
यतिवर, कैसा यह अमिट ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल ?
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

स्वर्गीय गोपालसिंह नेपाली ने अपनी रचना 'हिमालय और हम' में लिखा है–

गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है,
चालीस करोड़ों का जत्था गिर गिर कर भी उठ जाता है।

१

इतनी ऊंची इसकी चोटी कि सकल धरती का ताज यही
पर्वत-पहाड़ से भरी धरा, पर केवल पर्वतराज यही
अम्बर में सिर, पाताल चरन
मन इसका गंगा का बचपन
तन वरन वरन, मुख निरावरन
इसकी छाया में जो भी है वह मस्तक नहीं झुकाता है,
गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।

२

अरुणोदय की पहली लाली, इसको ही चूम, निखर जाती
फिर सन्ध्या की अन्तिम लाली, इस पर ही झूम, बिखर जाती
इन शिखरों की माया ऐसी
जैसा प्रभात सन्ध्या वैसी
अमरों को फिर चिन्ता कैसी
इस धरती का हर लाल खुशी से उदय अस्त अपनाता है,
गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।

३

भारत का ऊँचा शीश यही, है उत्तर की दीवार यही
हम पहरेदार जगत् भर के तो अपना पहरेदार यही

साथी है जन्म मरन दुख का
रखवारा लाखों के सुख का
मन का दानी, गूंगा मुख का।
इसकी गोदी में जो रह ले वह मन का दिया जलाता है,
गिरिराज हिमालय के भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।

श्री शिवसिंह सरोज ने 'महा महिमा हिमालय' रचना में हिमालय की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है--

शैल राट् सम्राट, शिखर-कुल के सुषमा संकुल हे,
अतुल राशि रत्ना की संचित, नित महिमा मंजुल हे।
मंजु मुकुर हिम मंडित रवि के तरुण-अरुण आनन के,
और स्फीत फुंकार सुसंचित सहसा, सहसानन के।
जय हो अडिग हिमालय, जय हो शोभित शृंग शिवालय,
जय जय-कार उदार तपस्वी. मौन मनस्वी की जय।
तुमने रोके चरण मरण के, अशरण शरण अमर हो,
जब से जगत् बना तुम तब से, तप में ही तत्पर हो।
पार्वती-शंकर के परिणय और प्रणय के घर हो,
सिद्ध साधुओं के गह्वर हो विद्ध विहग के पर हो।

हिमालय और विदेशी विद्वान--

भारत में समय २ पर अनेक विदेशी यात्री आये। उन्होंने अपनी अपनी रुचि के अनुसार भारत, भारत के साहित्य एवं भारत के निवासियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का यत्न किया। इनमें ऐसे विद्वान भी सम्मिलित थे जिन्होंने इस देश के प्राकृतिक दृश्यों का मुख्य रूप से अवलोकन किया। इनमें से कुछ हिमालय की यात्रा करने में सफल हुए।

जापानी साहित्यकार एवं दर्शक, इकाई कावागुची ने हिमालय की ऊंची २ चोटियों की चढ़ाई की और वे मानसरोवर की यात्रा के लिए भी गये। उन्होंने मानसरोवर यात्रा से लौटकर लिख

'विराट अष्टकोणीय, सम तटीय भूमि शान्त और निर्मल जल—जिसके उत्तर पश्चिम कैलाश के ऊंचे-ऊंचे शिखर—यह सब मिलकर ऐसा चित्र बन जाता है जो वर्णनातीत है, अतुलनीय है। इसका शालीन वातावरण—निस्तब्ध भव्य और मुक्त। हिमाच्छादित चोटियों के और भी ऊपर कलाश की चोटी देखकर ऐसा लगता है कि भगवान् बुद्ध शान्त मुद्रा में अपने पांच सौ भिक्षुओं को उपदेश दे रहे हैं। निस्संदेह यह प्रकृति प्रदत्त 'मंडल है। भूख और प्यास, हरहराती हुई नदियों का

रौद्र स्वर रक्त को जमा देनें वाले अंधड़-आश्रय रहित मुक्त वातावरण में भ्रमण करने का आंतरिक भय, अंग अंग को तोड़ देने वाली थकान से सब कष्ट और संकट जिनको पार कर हम यहां आ पहुंचे हैं—मानसजल के दर्शन मात्र से न जाने कहां विलुप्त हो गए।"

श्री ई० वी० हेवेल बहुत वर्षो तक भारत में रहे। उन्होंने यहां के कला केन्द्रों में बहुत वर्षो तक अध्यापन कार्य किया। उन्होंने हिमालय के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'हिमालय इन इंडियन आर्ट' में बहुत कुछ लिखा है। वे लिखते हैं—

'जो महत्व ईसाइयों में जरुसलम का है, मुसलमानों में मक्का का है, यही महत्व भारत में हिन्दुओं के लिए हिमालय का है। प्रतिवर्ष भारत के हर भाग से आने वाले यात्रियों की दृष्टि से तो हिमालय का गौरव है ही, मनीषी ब्राह्मण भी अपनी दर्शन-पद्धति के लिए यहां के प्राकृतिक प्रतीकों का उपयोग करते हैं। .... सरसरी दृष्टि से भारतीय साहित्य को देखिए। भारतीय काव्य और पौराणिक कथाएं इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि हिमालय विश्व की केन्द्र भूमिका है और देवता इसी ऊंचाई पर रहते हैं।'

श्री हेवेल ने हिमालय को भारतीय संस्कृति का केन्द्र विन्दु माना है और कहा है 'देवता इसी ऊंचाई पर रहते हैं।'

निकोलस रोरिक एक दूसरे विदेशी यात्री हैं जिन्होंने हिमालय को अपने अध्ययन, अपनी साधना और चित्रकारी का विषय बनाया। रोरिक एक विख्यात कवि और चित्रकार हैं। उन्होंने 'हिमालय एबोड आफ लाइट' नाम की एक पुस्तक की रचना की। पुस्तक में हिमालय सम्बन्धी चित्र हैं और उन्हीं के साथ कविताएं दी हैं। उन्होंने भारत में घूम फिर कर भारतीय संस्कृति का भी अध्ययन किया था। वह लिखते हैं :—

"प्रबुद्ध भारत के प्राचीन निवासियों ने हिमालय के वैभव में उस पौरुषवान् विष्णु का स्मित हास्य देखा जो अपराजित योद्धा के रूप में शंख, चक्र, गदा, पद्म लेकर प्रगट हुआ, विष्णु ही क्यों ? उसके सब अवतारों की कल्पना की पृष्ठ भूमि में हिमालय है।"

हिमालय की प्रशस्ति में रोरिक लिखते हैं—

हिमालय ! ऋषियों की तपोभूमि हिमालय ! यहां कृष्ण की वंशी के स्वर प्रतिध्वनित हुए थे। अमिताभ गौतम बुद्ध का जन्म यहीं हुआ था। वेदों की रचना भी इसी के प्राङ्गण में हुई। पाण्डवों ने इसी क्षेत्र में शरण ली। यही पावन प्रदेश आर्यावर्त्त है। यहीं शंभला है, यहीं कैलाश है। यह है हिमालय भारत का भूषण ! यह है हिमालय विश्व का वैभव ! यह है हिमालय, पावनता का पुण्य प्रतीक !

* * * *

'ओ विश्व विमोहन भारत, तुम्हारी प्राचीन महत्ता ने, तुम्हारे वैभवशाली नगरों और मंदिरों ने, तुम्हारे हरे-भरे अंचल ने, तुम्हारे देव-वनों ने, तुम्हारी पवित्र सरिताओं ने और तुम्हारे विराट् हिमालय ने जो गरिमा और प्रेरणा मुझे प्रदान की है, उसके लिए मेरा हार्दिक अभिनन्दन स्वीकार करो ।

* * * *

'हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों के आरोहण में, अभियान में एक अव्यक्त अनिर्वचनीय आनन्द निहित है । अन्तरात्मा की कोई शक्ति हमें सतत इस उच्चता की ओर बढ़ने के लिए आह्वान करती रहती है । यदि कोई हिमालयोन्मुख इन साहसिक यात्राओं का प्रारम्भ ढूंढने का उपक्रम करे तो अद्भुत परिणाम प्रकाशित होगा । वस्तुत: इन शिखरों के आकर्षण की पृष्ठभूमि का परिज्ञान यह सिद्ध कर देगा कि हिमालय 'अप्रतिभ' क्यों है ? अज्ञात अतीत-काल में असंख्य विभूतियों का इस पार्वत्य अंचलों से सम्बन्ध संग्रथित है ।

* * * *

'हे हिमागार ! हे वसुधा के यशोस्नात सौन्दर्य, हे रहस्यमय, तुम्हें नमस्कार है । तुम्हारा यह अनन्त वैभव, तुम्हारा यह दिव्यालोक युग-युग से आकर्षण का केन्द्र रहा है । तुम्हारे दर्शन मात्र से चित्त उत्फुल्ल और भव्य भावनाओं से परिपूर्ण हो जाता है । तुम धन्य हो, तुम अनन्य हो !'

रोरिक आगे प्रकृति का चित्राङ्कन करते हुए लिखते हैं—

"हिमाच्छादित शिखरों पर लीला करने वाले सूर्य की प्रमुदित करने वाली वह क्रीड़ा विश्व के किस अंचल में विद्यमान है ? तब नीलिमा नीलम के समान और भी गंभीर हो जाती है, जहां सुदूर प्रांत से फिसल फिसल कर आता हुआ हिम अगणित रंगों की मणियों जैसा प्रकाश बिखेरता है । सब धर्म, सब शिक्षाएं हिमालय में एकीभूति हो गई हैं । वेदकालीन कुमारी उषा उसी गरिमा में आती है जिस प्रफुल्लित वदन से लक्ष्मी । सब प्रतीक, सब महान् विभूतियां विश्व के उच्चतम आसन पर एकत्र हो जाते हैं, नहीं, मानवीय आत्मा देवताओं के एकदम निकट जा बैठती है । जब आप हिमालय पर होते हैं, तब क्या नक्षत्र आपके और निकट नहीं आ जाते ?"

आगे कवि रोरिक ने लिखा है—

'केवल पौराणिक कथाओं में ही नहीं, यहां भी ऋषियों के आश्रम हैं । यह वह जगह है जहां से युगों तक मानव ने संदेश सुने हैं । यह संदेश आज भी स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं, ये अनेक भाषाओं में अनुदित हो चुके हैं । उपलब्धियों के ये पारदर्शी तत्व चोटियों पर पथरा गये हैं ।'

'हिमालय का सौन्दर्य देखकर हम सृष्टा के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहां से प्राप्त करें ? गुरु के मार्ग पर, ऋषियों के इन शिखरों पर, आत्मा के यात्री को पहाड़ी

चढ़ाई पर वह निधि प्राप्त होती है जिसे भारी से भारी वर्षा नहीं बहा सकती, कोई भी उल्कापात उसे नहीं जला सकता। जो उर्ध्वगामी है, उसे कठिनाइयों को पार कर जाने का वरदान प्राप्त है।'

'विश्व की किसी भी शिखर-शृंखला से हिमालय की तुलना एक दुर्बल और भाग्यहीन प्रयास है। आन्देस, काकेशिया, आल्पस, और अल्ताई से बराबरी करना ऐसा ही है जैसे इनमें सर्वाधिक सुन्दर शिखर का प्रतिनिधि, हिमालय की सैंकड़ों शिखरों में कोई एक हो।"

रोरिक ने हिमालय के देवदार वृक्षों, वहां के असंख्य ग्लेशियरों और उन्नत शिखरों की शोभा को अनुपम सौन्दर्य की महान राशि बताया है।

हिमालय के प्रशंसक तीसरे विद्वान अंग्रेज सैनिक अधिकारी सर फ्रांसिस यंग हस्बैण्ड हैं। इनका जन्म १८६३ ई० में हुआ। यह युवक इक्कीस वर्ष की आयु में भारत आया था। इसने सात वर्ष तक भारत में रहकर हिमालय की खोज की। उसने हिमालय की यात्रा का विवरण भी लेखों के रूप में प्रकाशित कराया। इंगलैण्ड की 'ज्योग्राफीकल सोसाइटी' ने इसकी रचनाओं को बड़ा सम्मान दिया। सोसाइटी ने मि० यंग हस्बैण्ड को अपना अध्यक्ष भी बनाया १९२४ में इनकी 'वण्डर्स आफ दी हिमालय' पुस्तक प्रकाशित हुई। उन्होंने अपनी पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर हिमालय की प्रशंसा में लिखा है—

> "सब जगह की पहाड़ी शृंखलाओं में हिमालय सर्वाधिक आश्चर्य की जगह है। हिमालय का महत्व केवल इस बात में नहीं है कि वह सबसे ऊंचा है। अपनी असीमित विविधता में भी हिमालय महान है। बाहरी बनावट के ढांचे में, फूलों और जंगलों की समृद्धि में, पशु-पक्षी और कीड़ों मकोड़ों की दुनिया में, यहां तक कि मनुष्यों की उपजातियों की आंख से भी हिमालय वर्णनातीत है। इतना गौरव-मय कि भारतवासी इसे सदैव आश्चर्य और भक्ति की दृष्टि से देखते रहे हैं और हम, जो उसे सब से अच्छी तरह जानते हैं, सबसे अधिक प्रभावित हैं।"

सिक्किम प्रदेशीय हिमालय का वर्णन करते हुए मि० यंग हस्बैण्ड लिखते हैं—

"प्राकृतिक सौन्दर्य के अध्ययन की दृष्टि से सिक्किम प्रदेशीय हिमालय जहां से हम बड़े मैदानों से सुविस्तृत भारत और दूसरी ओर तिब्बत की ढाल देखते हैं— सर्वाधिक उपयुक्त जगह है। मैं इन स्थानों को इस लिए महत्व देता हूं कि इनमें कोई भी मनुष्य बड़ी आसानी से जाकर अपनी सौन्दर्य-दर्शन की प्यास बुझा सकता है और बार बार आकर देख सकता है। कई बार देखने पर ही यह सौन्दर्य आत्मा का अंग बन सकता है।"

यंग हस्वौण्ड ने हिमालय की दुर्गम घाटियों और उसके उन्नत शिखरों के सम्बन्ध में लिखा है—

"पुनः हिमालय रहस्य के धुंध में अन्तर्धान सा हो गया हूं। मैं इस के सर्वोच्च शिखरों पर खड़ा हुआ हूं। मैंने इसकी भयावहतम ढालू चोटियों में भी जान का खतरा मोल लिया है। मैं इसके बड़े से बड़े ग्लेसियरों पर फिसला हूं। मैंने इसके अन्तर में छिपे उन निवासियों को देखा है जो कभी भी इस सुसंस्कृत जगह में नहीं आते। क्या मैंने यह सब उहापोह करने के अनन्तर कोई रहस्य समझा है ? या मैंने यह परिश्रम यों ही किया है ? मुझे विश्वास है कि मैंने यह रहस्य पा लिया है। इस रहस्योद्घाटन का उदाहरण काश्मीर है। इसके इतिहास से पता लगता है कि यहां सदैव अनेक जातियां आईं और आपस में लड़ती रहीं। यहां धार्मिक उन्माद का ताण्डव भी हुआ। इसकी घाटियों में पत्रावन आए, दुर्भिक्ष ने सहस्त्रों का संहार किया भूकम्पों ने तो जैसे पहाड़ों की जड़ें ही हिला दीं। आये दिन कोई न कोई बला काश्मीर को घेरे रही। फिर भी हम इस अंधकार पक्ष के कारण तो काश्मीर को पसंद नहीं करते। मनुष्य ने सदैव इन कठिनाइयों का डटकर मुकाबला किया है और उनपर विजय प्राप्त की है। मनुष्य ही नहीं पशु, पक्षी कीटाणु, पौधे, वे अणु जिनसे ये पहाड़ बने हैं— इन सबने विनाश को जीतकर सृजन प्राप्त किया है। निश्चय ही देव प्रवृत्ति आसुरी प्रवृत्ति पर हावी रही है। खोखले और पुराने पेड़ों के तनों पर शत-शत पुष्प और पौधे फूट पड़ते हैं। काश्मीर का मुख इतना प्यारा है कि देश देशान्तरों के मनुष्य इसे बार-बार देखने आते हैं।" *

हिमालय के अनेक शिखरों का अन्य युरोपीय विद्वानों ने भी वर्णन किया है। बहुत से विदेशी पर्यटक भी समय २ पर हिमालय की चोटियों पर पहुंचते रहे। हिमालय के अनेक स्थल ऐसे हैं जहां उनमें से कुछ विदेशी सदा के लिये बस भी गए। इस प्रकार के विदेशियों का कुछ विवरण हम आगे के उन पृष्ठों में देने का यत्न करेंगे जिनमें वे बसे। शिमला, मसूरी जैसे पर्वतीय नगरों को सुन्दर रूप देने में इन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया है।

विदेशी पर्यटक अब भी हिमालय की यात्रा के लिये आते हैं। वे अपने साहस और उत्साह के बल पर हिमालय के उन उन्नत शिखरों पर चढ़ने का यत्न करते हैं, जहां पहुंचने में कभी २ मानव जीवन का मोह तक त्याग बैठता है। मैंने जितनी बार बदरीनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री या हिमालय के कुछ अन्य तीर्थों की यात्रा की, मुझे ऐसे कई विदेशियों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। वेहमारी तरह 'जय गंगोत्री', 'जय यमुनोत्री' और 'जय बदरी विशाल' बोलते हुए साहस के साथ आगे बढ़ते थे।

* इस अध्याय की अधिकांश सामग्री त्रिपथगा के हिमालय अंक से ली गई है।

हिमालय में सृष्टि की उत्पत्ति—

सृष्टि की उत्पत्ति यद्यपि अनेक प्रकार से हुई मानी जाती है, परन्तु विद्वानों और पुरातत्व वेत्ताओं के अन्वेषण से यह बात प्रगट होती है कि आदि सृष्टि हिमालय में हुई। इस सम्बन्ध में सबसे पहले हम महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया है। समुल्लास के प्रारम्भ में महर्षि ने जगत की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। पृथ्वी किन तत्वों से बनी है, जीव और परमात्मा का क्या सम्बन्ध है, आदि सृष्टि के मनुष्यों की स्थिति क्या थी जैसे विषयों का विश्लेषण करने के पश्चात् स्वामी दयानंद ने सृष्टि की उत्पत्ति के स्थान का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

(प्रश्न) मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ? (उत्तर) त्रिविष्टप अर्थात् जिसको तिब्बत कहते हैं।

इससे आगे स्वामी जी ने प्रश्नोत्तर के रूप में बताया है कि आदि सृष्टि में एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् आर्य और दस्यु दो नाम हुए। जब उनसे प्रश्न किया गया वे यहां कैसे आये तब उन्होंने बताया "जब आर्य और दस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव अविद्वान जो असुर उनमें सदा लड़ाई बखेड़ा हुआ करता, जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे इसी से इस देश का नाम 'आर्य्यावर्त्त' हुआ।"

आर्य्यावर्त्त की अवधि कहां तक है; इस प्रश्न का उत्तर देते हुये स्वामी जी लिखते हैं –

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र। इसका विस्तार करते हुये उन्होंने आगे लिखा है— 'पश्चिम में अटक नदी पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल के बंगाले के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है जिसको ब्रह्मपुत्र कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्य्यावर्त्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्य्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्य्यावर्त्त कहाया है।'

जब उनसे प्रश्न किया गया कि इस देश का नाम क्या था और इस में कौन बसते थे तो उन्होंने उत्तर दिया–इससे पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्य्यों से पूर्व इस देश में बसते थे क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे।

उनसे फिर एक प्रश्न किया गया कि कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आए इसी से इन लोगों का नाम आर्य हुआ है। इनके पूर्व यहां जंगली लोग वसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे आर्य लोग अपने को देवता वतलाते थे और उन का जो संग्राम हुआ उसका नाम देवासुर संग्राम कथाओं में ठहराया। इसे स्वामी दयानंद ने सर्वथा झूठ बताया है।

अन्य विद्वानों का दृष्टिकोण

स्व० पं० रघुनन्दन शर्मा ने वैदिक ग्रंथों की वड़ी खोज की। वे अनेक भाषाओं के विद्वान थे। उन्होंने वर्षों के अध्ययन के उपरान्त 'वैदिक सम्पत्ति' नाम के ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में आदि सृष्टि की रचना पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। उनका मत है कि आदि सृष्टि हिमालय पर हुई।

उन्होंने आदि सृष्टि की सात कसौटियां वताई हैं (१) यह स्थान संसार भर में सवसे ऊंचा और पुराना हो (२) उस स्थान में सरदी और गरमी जुड़ती हो (३) उस स्थान में मनुष्य की प्रारम्भिक खूराक फल और अन्न मिलते हों (४) उस स्थान में अव भी मूल पुरुषों के रंग रूप के मनुष्य वसते हों (५) उस स्थान के आसपास ही सव रूप रंगों के विस्तार और विकास की परिस्थिति हो (६) उस स्थान का नाम सभी जातियों के स्मरण में हो विशेषकर भारतीय आर्यो और ईरानियों के यहां तो स्पष्ट लिखा है कि मनुष्य अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ; क्योंकि आर्यो की ये ही दो जातियां शेष हैं (७) वह स्थान उच्च कोटि के देशी और विदेशी विद्वानों के अनुमान के वहुत विरुद्ध न हो।

हिमालय पृथ्वी का सर्वोच्च पहाड़ माना गया है। हिमालय की ऊंचाई और मनुष्य सृष्टि के सिद्धान्त पर अमेरिका का प्रसिद्ध विद्वान 'डेविस' अपनी 'हारमोनिया' नामी पुस्तक के पांचवें भाग पृष्ठ ३२८ में 'ओकन' की गवाही से लिखता है कि हिमालय सवसे ऊंचा स्थान है, इसलिए आदि सृष्टि हिमालय पर ही हुई।

हिमालय सरदी गर्मी को मिलाता है। इस पर दोनों ऋतुओं का प्रभाव रहता है। हिमालय पर ही काश्मीर, नेपाल, तिव्वत और भूटान आदि देश वसे हुए हैं। इनके निवासी कहते हैं कि यहां सरदी और गर्मी मिलती है। इससे हिमालय ही मूल स्थान होता है।

तीसरी वात के सम्वन्ध में पंडित जी लिखते हैं—'हिमालय पर फल, अन्न और घास आदि खाद्य पदार्थ होते हैं। अव यह वात निर्विवाद हो गई है कि मनुष्य का प्रधान खाद्य दूध और फल है। दूध पशुओं से और फल वृक्षों से पैदा होते हैं। इससे पाया जाता है कि मनुष्य के पहिले वृक्ष और पशु हो चुके थे, तथा मनुष्य ऐसे मातदिल

(समशीतोष्ण) देशों में रह सकता है, जहां पशु रह सकते हों और वनस्पति उग सकती हों। पहाड़ों के सबसे ऊंचे बर्फानी स्थानों और ग्रीनलैण्ड आदि देशों में वनस्पति नहीं उग सकती। इसलिए वहां पशु पक्षी भी नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि वनस्पति और पशु पक्षी भी मनुष्य की भांति किसी मातदिल देश के ही रहने वाले हैं अर्थात् सारी सृष्टि किसी एक ही स्थान में पैदा हुई मालूम होती है। परन्तु यहां दो शंकाएं प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि ग्रीनलैण्ड आदि में मनुष्य क्यों पाये जाते हैं दूसरी यह कि सर्द और गर्म प्रदेशों में रहने वाले, बाल वाले बिना बाल वाले दो प्रकार के प्राणी एक ही प्रदेश में कैसे उत्पन्न हुये ?

इनके उत्तर में पंडित जी लिखते हैं—'उन देशों के निवासी जल स्थल के परिवर्तनों के कारण; युद्धों और सभ्यता के समय प्रवासों के कारण वहां गए होंगे और बहुत दिन तक जारी रहने वाले सृष्टि-परिवर्तनों के कारण वहां से न आ सके होंगे। अब रही दूसरी शंका उसका उत्तर यह है··· सर्द और गर्म देशों में रहने वाले बाल वाले और बिन बाल वाले प्राणी एक ही स्थान में (जहां सर्दी और गर्मी जुड़ती हो) पैदा हुए, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।'

'हम देखते हैं कि हिमालय रूपी शंकर की गोद में वनस्पति रूपी पार्वती अधिकता से विद्यमान है। वहां गाय; भैंस; घोड़ा; बकरी; ऊंट, हाथी और कुत्ता आदि मनुष्य के संगी प्राणी बहुतायत से रहते हैं। विद्वानों ने पता लगा लिया है कि हिमालय पर प्राणियों के शरीरांश (कोसील) पाए जाते हैं। पृथ्वी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जो हिमालय स्थित प्राणियों के शेषाङ्गों से अधिक पुराने चिन्ह दे सके। ऐसी दशा में स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य के पूर्व उत्पन्न होने वाले और उनके जीवन आधार वृक्ष और गाय आदि पशु पूर्वातिपूर्व काल में उत्पन्न हो गए थे। अतएव हिमालय आदि सृष्टि उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखता है।'

हिमालय के कई स्थानों पर मानव शरीरांश मिले हैं। शरीर विज्ञान के विशेषज्ञों ने उनके सम्बन्ध में अन्वेषण भी किया है। अभी इस सम्बन्ध में और भी पता लगाने की आवश्यकता है।

अन्य बातों का उत्तर देते हुये पंडित जी लिखते हैं—

चौथी बात मूल पुरुषों के रंग रूप वाले मनुष्यों के समान वाले मनुष्यों के बसने की है। मूल पुरुषों की उत्पत्ति लिखते समय हमने कहा था कि मूल पुरुषों का रंग रूप ऐसा होना चाहिए, जिसमें सभी रूप रंगों का मिश्रण हो। यह मिश्रित रंग-रूप देखने के लिए हमने एक चित्र और एक पुतला बनवाया था, जो हुबहू काश्मीर के ब्राह्मणों के रंग रूप से मिलता था। हम यहां देख रहे हैं कि काश्मीर हिमालय का ही एक भाग है, जहां के निवासी मूल पुरुषों की सूरत शक्ल के पाए जाते हैं। इसलिए हिमालय को अब मूल स्थान कहने में जरा भी सन्देह प्रतीत नहीं होता। एक

वहुत वड़े भापा शास्त्री की साक्षी से टेलर, महोदय कहते हैं—'मनुष्य जाति की जन्मभूमि, स्वर्ग तुल्य काश्मीर ही है।'*

वंगाल के प्रसिद्ध पुरातत्व विशारद वावू अविनाशचंद्र दास 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि 'आर्यों का आदि जन्म स्थान काश्मीर ही है।' §

आर्यों के विशुद्ध रूप रंग के ब्राह्मण काश्मीर में आज भी निवास करते हैं; जिससे वलपूर्वक कहा जा सकता है कि आदि सृष्टि हिमालय पर ही हुई।

पांचवीं वात—हिमालय के आसपास समस्त रंगरूपों के विकास की परिस्थिति हो। भारत देश की ऐसी वनावट है; जहां नित्य ही छहों ऋतुएं वर्तमान रहती हैं। इसी देश में सव रंग रूप के आदमी निवास करते हैं। यह इतना पूर्ण और सर्व गुण सम्पन्न देश है; जहां प्रत्येक स्वभाव के मनुष्य का निर्वाह हो जाता है। मूल स्थान के पास ऐसी विस्तृत भूमि की आवश्यकता थी; जहां आकर संसार भर में रहने की योग्यता प्राप्त करके; मनुष्य पृथ्वी में सर्वत्र फैलें। भारत जैसे देश के सामीप्य के कारण भी यही प्रतीत होता है कि हिलालय पर ही मनुष्यों की आदि सृष्टि हुई।

छटा कारण—समस्त मनुष्यों को हिमालय की याद हो। संसार की समस्त जातियों को सामान्यत: ईरानी तथा भारती आर्यों को विशेषत: हिमालय की आदिम कथा याद है। दुनिया की वहुत सी जातियों को हिमालय पर हुए जलप्लावन की कथा याद है। इसी तरह हिमालय के दूसरे नाम 'मेरु' का स्मरण अनेक जातियां भिन्न-भिन्न नामों से करती हैं भारतीय आर्य 'मेरु' जेन्द भाषा वाले ईरानी "मौरू" यूनान वाले 'मेरोस'; दक्षिणी तुर्किस्तान वाले 'मेरुव'; मिश्र वाले 'मेरई' और असीरिया वाले 'मोरुख' कहते हैं। ईरान के पारसी आर्य और भारतीय आर्य अपना अर्थात् आदि मूल पुरुषों का आदि स्थान हिमालय वताते हैं। किन्तु आर्यों के लक्षणों और उनके मूल निवास के विषय में पाश्चात्यों ने ऐसा भ्रम और उलझन फैला दी है कि जव तक यह भी निश्चित न हो जाय कि आर्यों का मुख्य मूल स्थान कहां है; तव तक हिमालय के सिद्धान्त पर काफी प्रकाश नहीं पड़ सकता।

---

*Adelung th· father of comparative philology and leader in 1806 placed the cradle of mankind in the valley of Kashmir, which he identified with Paradise. (Tailor's Origin of the Aryans, P. 9)

§ That this beautiful mountanous country (Kashmir) and the plains of Saptsindhu wer· the cradle of the Aryan race. (Rigvedic India P. 55)

आर्यों का मूल निवास

आर्यों के मूल निवास के विषय में अब तक अनेक कल्पनायें की जाती रही हैं। जर्मनी के कुछ विद्वान आर्यों की जन्मभूमि जर्मनी और रूस के बीच बतलाते हैं। वे मानते हैं कि उनके पूर्वज लम्बे कद और बड़े शिर वालों की संतति हैं। इसलिए वे अपने देश की एक लम्बे कद और बड़े शिर वाली जाति विशेष को आदिम आर्य मानते हैं।

परन्तु अनेक प्रमाणों से अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जर्मनों का आर्यों से कोई जाति या वंश का सम्बन्ध नहीं। हां, उन्होंने आर्यों से भाषा और सभ्यता अवश्य सीखी जिसका उल्लेख इतिहास में मिलता है। विद्वानों का कहना है कि आर्यों का मूल स्थान जर्मन अथवा योरप का कोई स्थान नहीं है।

दूसरा मत ऐसे व्यक्तियों का सामने आया है कि आर्यों का उद्गम मध्य-एशिया में हुआ। प्रो० मैक्समूलर ने 'सायंस आफ दी लैंग्वेजेज़' में आर्यों का आदि स्थान मध्य एशिया बताया था परन्तु जब भाषा की दृष्टि से उनके विचार को कसौटी पर कसा गया और भाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों पर विचार किया गया तब उन्होंने मध्य एशिया' के स्थान में 'कहीं एशिया' में आर्यों का आदि स्थान होना स्वीकार किया। उन्होंने अपने अंतिम लेख में लिखा है कि "जिस प्रकार ४० वर्ष पूर्व मैंने कहा था, उसी तरह अब भी कहता हूं कि आर्यों की जन्म-भूमि कहीं एशिया में है।"*

लोकमान्य तिलक ने जर्मनी और मध्य एशिया के सिद्धान्त का खंडन करके अपना एक नया ही मत स्थापित किया है। वे कहते हैं कि आर्य लोक ध्रुवप्रदेश के निवासी हैं। आज से कोई दस हजार वर्ष पूर्व ध्रुवप्रदेश में वर्फ का तूफान आया, इसी के कारण आर्य लोग वहां से भागे और योरप, मध्य एशिया, ईरान और भारत में आकर आवाद हुए।

परन्तु लोकमान्य तिलक का यह कथन सत्य नहीं ठहरा। ध्रुव प्रदेश में आर्यों का आदि स्थान होने का न तो भारतीय विद्वान समर्थन करते हैं और न विदेशी विद्वान उनके मत से सहमत हैं।

भारत के विख्यात विद्वान पूना निवासी नाना पावगी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि' के पृष्ठ २७२ पर लिखा है—'हिमालय ही हमारे और हमारे देवताओं का आदि कालिक जन्म स्थान है।

*I should still say, as I said forty years ago, somewhere in Asia and no more. (Good Words, Aug. 1887)

इसी प्रकार बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान अविनाश चन्द्र दास अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' के पृष्ठ ३७६ पर लिखते हैं—'वेदों में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें काश्मीर और हिमालय के ऊंचे पहाड़ों पर से ही देखा था।'*

आर्यो के आदि मूल स्थान के सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है—

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः
अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः।
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तम पर्वतः।
ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥

अर्थात् संसार में पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। इसमें एक योजन चौड़ा और ५ योजन घेरेवाला मेरु है जहां पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियां निकलती हैं, यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। इन प्रमाणों से विदित होता है कि हिमालय के मेरु पर्वत पर आदि सृष्टि हुई।

वायुपुराण में मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर वैवस्वत मनु के निवास करने का वर्णन किया गया है। मानस हिमालय पर्वत-माला में एक विशाल झील है जो 'मानसरोवर' नाम से विख्यात है।

महाभारत वन पर्व में एक स्थल पर लिखा है—'अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावे बध्नीतमाचिरम्' अर्थात् मनु ने इस हिमालय के शृंग में शीघ्रता से जलप्लावन की नाव को बांधा।

मनु मनुष्य जाति के मूल पुरुष माने गए हैं। वे हिमालय पर रहते थे और वहां पर जलप्लावन हुआ था। मानस जिसे अब मानसरोवर कहते हैं, आर्यो के मूल स्थान का केन्द्रविन्दु माना गया है। मानसरोवर हिमालय में स्थित है। इसका सम्बन्ध तिब्बत मे रहा है। कभी यह क्षेत्र भारत के अन्तर्गत था। परन्तु अब यह तिब्बत प्रदेश में सम्मिलित है।

---

*On the other hand, if it refers to the constellation of Ursa Major which is the most prominent in the northern parts of India and particularly in the high tableland north of Kashmir and the peaks of the Himalaya from which the Vedic bar· may have made his observations it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon. (Rigvedic India, P. 376)

मनु के अनुसार आर्यों ने आर्यावर्त को बसाया। यह आर्यावर्त देश ऐसा था जिसके समान भूगोल में उस समय कोई दूसरा देश न था। इस भूमि को स्वर्ण-भूमि भी कहते थे। 'सृष्टि के आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे।'

मनु का कहना है :-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

मनुस्मृति २/२०

इसी आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने २ योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।

मनु ने मानव समाज की जीवन सम्बन्धी सभी बातों का मनुस्मृति में विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस ग्रंथ में उन्होंने व्यक्ति से लेकर मानव समाज के लिए नियम निर्धारित किए हैं जो सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। ऐसा समझा जाता है कि सहस्रों वर्षों तक भारत का शासन इसी ग्रंथ के आधार पर चलता रहा।

श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने 'विश्व संस्कृति के आदि प्रतीक' लेख में सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है ;—

'हजारों, शायद लाखों वर्ष पूर्व विश्व में मानव-जाति का उद्गम एक परिवार के रूप में हुआ था। जन संख्या में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के साथ उसने भूखंड के विविध भागों में प्रसार किया, भिन्न-भिन्न वर्ग बने, जातियाँ बनीं। एक ही देह, वर्ण और आकृति का देशकाल भेद से रूपान्तर हुआ और अन्त में विविध सभ्यताओं का विकास हो गया।

'विधाता ने किस भूभाग को इस मानव प्रसार के आदि स्रोत बनने का सौभाग्य दिया और किस किस दिशा में आदि मानव की जनधारा प्रवाहित हुई, इन प्रश्नों का उत्तर इतिहास नहीं देता। फिर भी भूगर्भ-विज्ञों ने इस रहस्य का कुछ अन्वेषण किया है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आदि मानव का प्रथम अभ्युदय एशिया महाद्वीप के मध्यभाग में हुआ था। अभिवृद्धि के बाद उसका प्रसार भिन्न-भिन्न दिशाओं में हुआ। एक धारा कुछ दक्षिण की ओर उतर कर पूर्व दिशा में भारत की ओर फैल गई। वहां से वह मलाया अन्तर्द्वीप में बहती हुई प्रशान्त के अनेक छोटे-छोटे द्वीपों को लांघकर आस्ट्रेलिया में प्रवेश कर गयी। दूसरी धारा दक्षिण की ओर थोड़ा चलकर अफ्रीका व मिस्र

में उतर गयी। एक और धारा काकेशस शिखरों को लांघती हुई पश्चिम के ग्रीस, स्पेन, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में फैल गयी।'

'एक मानव धारा मध्य एशिया के ऊपर उत्तर की ओर रूस में भी फैली, जो साइबेरिया के घने जंगलों को पार कर अलास्का होती हुई उत्तर व दक्षिण अमेरिका में उतर गयी।'*

विदेशों के पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार अब यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि हजारों वर्ष पूर्व की आर्य सभ्यता युरोप के अनेक देशों में फैली।

सोवियत संघ के अनेक भागों में ऐसी सामग्री मिली है जो उस समय की आर्य सभ्यता पर प्रकाश डालती है। सोवियत भू-रसायनज्ञ आदि मानव का पता लगाने का बराबर प्रयत्न करते रहे हैं। इस सम्बंध में सोवियत भूरसायनज्ञ मिखाइल क्लापच्छुक ने यह सिद्ध किया है कि आदि मानव कजाखस्तान के मध्य भाग में रहता था।

भूगर्भीय अभियानकारी दलों के सदस्य के रूप में क्लापच्छुक को प्रस्तर और कांस्य युगों की एक सौ बस्तियां मिली।

क्लापच्छुक ने यह प्रतिपादित किया है कि कजाखस्तान के मध्य भाग में अब से करीब एक लाख वर्ष पहले आदि मानव रहते थे।

क्लापच्छुक की इस खोज का समाचार तास एजेंसी द्वारा अल्माअता से १३ सितम्बर को प्रसारित किया गया है।

क्लापच्छुक की खोज कहां तक सही है, इस सम्बंध में हमें कुछ नहीं कहना परन्तु इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सृष्टि की उत्पत्ति का समय दस बीस हजार वर्ष नहीं किन्तु बहुत प्राचीन है जिस की अवधि का पता लगाने की अभी बड़ी आवश्यकता है।

क्लापच्छुक का यह विचार भी अभी अधूरा समझा जायगा कि आदि मानव कजाखस्तान के मध्य भाग में रहता था। अभी इस सम्बंध में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है।

आर्यों के आदि-देश के सम्बंध में विद्वानों और इतिहासकारों में यद्यपि मतभेद रहा है परन्तु हिमालय सृष्टि के आदिकाल से इस बात का प्रमाण रहा है कि यहीं से ज्ञान का सूर्य उगा और उसने संसार भर को प्रकाशित किया। वसुन्धरा पर यही वह स्थल है जहां पर आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का रहस्य प्रगट हुआ।

---

*धर्मयुग ७ अक्तूबर १९५१

जिन ऋषियों, मनीषियों एवं ज्ञानियों ने इस वैदिक संस्कृति का रहस्य प्रगट किया, वे हिमालय की उपत्यकाओं में ही उत्पन्न होते रहे। इन्होंने अपने ज्ञान के बल पर हिमालय को 'देवताओं की भूमि' की पदवी प्रदान की।

अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त मातृभूमि की वंदना का एक अनुपम चित्र उपस्थित करता है। इसके ग्यारहवें मंत्र में गिरि पर्वत का भी उल्लेख किया गया है। मानव मातृभूमि की वंदना करता हुआ कहता है —

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवी-
मिन्द्रगुप्ताम्। अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

ये गिरि-पर्वत हिमवंत, गहन वन तेरे,
हे मातृभूमि ! हों मोद-निकेतन मेरे।
पिङ्गल श्यामल अरुणाय अनूप अचञ्चल,
हे हरिपालित बहुरूप धरा का अञ्चल।
अविजित, अक्षत, आघात रहित नित होकर,
मैं करूं यहां अधिवास त्रास सब खोकर॥

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति से मेरा आशय आर्यावर्त की प्राचीनतम उस संस्कृति से है, जो सृष्टि के आदि में वेदों के अनुकूल स्थिर हुई। 'संस्कृति' शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगने पर प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय संस्कार–निखरना या निखारना है।

अब संस्कृति का अर्थ कुछ लोग 'सभ्यता' भी लगाने लगे हैं। इसके लिए अंग्रेजी शब्द कल्चर (Culture) प्रयोग में आता है। जिस संस्कृति में आचार और विचार दो धारायें निहित थीं, अब उसमें से विचार को प्रथम स्थान दे दिया गया है और आचार को गौण मान लिया है। संस्कृति का रूप ही अब बदलता जा रहा है। आर्यावर्त की प्राचीन संस्कृति का मूलाधार धर्म रहा परन्तु वर्तमान संस्कृति में धर्म का कोई महत्व नहीं।

वैदिक संस्कृति—

वैदिक संस्कृति का आशय लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अभ्युदय के लिए मन, बुद्धि और शरीर द्वारा की गई श्रेष्ठ गतिविधियों से है। साधारण व्यक्ति के लिए 'संस्कृति' का अर्थ उत्तम कर्म में लीन रहना है। उत्तम संस्कार करते रहना ही वैदिक संस्कृति का मूलाधार माना गया है।

वेद एवं वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी संस्कार ही वैदिक संस्कृति का लक्ष्य है। वैदिक संस्कृति को ही सनातन वैदिक संस्कृति भी कहा गया है और अब व्यापक रूप में वह 'हिन्दू संस्कृति' नाम से भी विख्यात हो गई है। इसी को 'भारतीय संस्कृति' का नाम भी दे दिया गया है।

वैदिक संस्कृति का उदय आर्यावर्त में हुआ। यहां के आर्यों ने इस वैदिक संस्कृति का विश्व भर में विस्तार किया। इसलिये इसे 'आर्य संस्कृति' भी कहा गया है। हम इस संस्कृति के सम्बंध में यह भी कह सकते हैं कि लौकिक, पारलौकिक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक उन्नति का वेदादि शास्त्र-सम्मत मार्ग ही वैदिक संस्कृति है।

वैदिक काल के आर्यों की सभ्यता का मूलाधार वेदों की शिक्षा रहा। जिस व्यक्ति का आचरण वेदों के अनुकूल रहा, वही धर्मात्मा या वैदिक धर्मी कहलाता था। वैदिक संस्कृति का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति बताया गया है। इसके सम्बंध में यहां हम वेदों के ज्ञाता एवं आर्य विद्वान स्वर्गीय पं० रघुनन्दन शर्मा द्वारा रचित वैदिक सम्पत्ति ग्रंथ का कुछ अंश देना आवश्यक समझते हैं। उन्होंने लिखा है—

'मोक्ष प्राप्ति की सुदृढ़ भूमिका पर आर्यों ने अपनी सभ्यता की इमारत स्थिर की है। उन्होंने अपना अंतिम ध्येय मोक्ष को ही माना है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि मोक्ष भी इसी संसार के द्वारा ही प्राप्त होता है, इसलिए मुमुक्षु को इस संसार के तत्व का और उसके उचित उपयोग का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है। संसार का तत्व-ज्ञान और उसका उचित उपयोग ही मोक्ष का साधन है, इसलिए आर्यों ने संसार का उपयोग करते हुए मोक्ष प्राप्त करने की विधि को अपनी सभ्यता का मूल ठहराया है और उस विधि को चार भागों अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष से विभक्त किया है।'

'अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष आर्यों की सभ्यता की आधार शिलायें हैं।'

इससे आगे वे लिखते हैं :

"शरीर पोषण के लिए अर्थ की, मनस्तुष्टि के लिये काम की, बुद्धि के लिये धर्म की और आत्मा की शान्ति के लिये मोक्ष की आवश्यकता होती है। क्योंकि विना भोजनादि (अर्थ) के शरीर निकम्मा हो जाता है। बिना काम (स्त्री) के मन निकम्मा हो जाता है, विना मोक्ष (अमरता) के आत्मा निकम्मी हो जाती है और विना धर्म (सत्य और न्याय) के बुद्धि निकम्मी हो जाती है। अर्थ और शरीर का, काम और मन का तथा मोक्ष और आत्मा का सम्वन्ध तो प्रत्यक्ष ही है, इसमें किसी को शंका नहीं हो सकती, परन्तु धर्म और बुद्धि का सम्वन्ध सुनकर सम्भव है लोग कहने लगें कि यह बात ठीक नहीं हैं क्योंकि संसार के धर्मों को बुद्धि का साथ करते हुए नहीं देखा जाता। परन्तु हम जिस वैदिक धर्म की बात कर रहे हैं उसकी दशा ऐसी नहीं है। वैदिक धर्म बुद्धिपूर्वक ही है। इसका कारण यही है कि वैदिक धर्म वेदों के द्वारा स्थिर किया गया है और वेद 'बुद्धि पूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे' अनुसार बुद्धिपूर्वक हैं, इसलिये इस धर्म पर यह शंका नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि बुद्धि ज्ञान से सम्वन्ध रखती है। जैसे जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे ही वैसे बुद्धि का विकास होता है। इसलिए बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। जिस प्रकार बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के दो विभाग हैं, उसी तरह धर्म और ज्ञान भी एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। क्योंकि देखा जाता है कि जैसे जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे ही

वैसे धर्म की भी वृद्धि होती है। धर्म में जितना ही ज्ञानांश होता है और ज्ञान में जितना ही धर्मांश होता है, बुद्धि में उतनी ही स्थिरता होती है।'

पं० रघुनन्दन शर्मा जी ने इस सम्बन्ध में युरोप के प्रसिद्ध विद्वान हक्स्ले का निम्न उद्धरण दिया है—

"सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म दोनों यमज भाई हैं। इनमें से यदि एक दूसरे को अलग कर दिया जायगा तो दोनों की मृत्यु हो जायगी। विज्ञान में जितनी ही अधिक धार्मिकता होगी उतनी ही अधिक उसकी उन्नति होगी। विज्ञान का अभ्यास करते समय मन की धार्मिक वृत्ति जितनी ही अधिक होगी, विज्ञान विषयक खोज उतनी ही अधिक गहरी होगी और उसका आधार जितना ही अधिक दृढ़ होगा, धर्म का विकास भी उतना ही अधिक होगा। तत्व वेत्ताओं ने जो अब तक बड़े बड़े काम किये हैं, उन्हें सिर्फ उनके बुद्धि वैभव का ही फल न समझिये, किन्तु उनकी धार्मिक वृत्ति ही इसमें अधिक कारणभूत है।"*

हक्स्ले का यह तर्क आज के भौतिकवादियों को सही प्रतीत न हो। आज के वैज्ञानिक हो सकता है कि विज्ञान की खोज में धर्म को स्थान न दें। परन्तु उनको यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान की प्रत्येक खोज के लिए उन्हें अपने ज्ञान और अपनी वुद्धि का मंथन करना पड़ता है। जिस समय विज्ञान की खोज करने वाला आत्मलीन होकर अपनी खोज में लगता है उस समय उसके मन की स्थिति शुद्ध एवं सात्विक होती है और अपनी उसी सात्विक भावना के बल पर वह अपनी खोज में सफलता प्राप्त करता है।

आज के वैज्ञानिक युग मे विज्ञान के बड़े परीक्षण हो रहे हैं। मानव चंद्र लोक में उतरने की तैयारी में है। मानव ने पृथ्वी के अनेक चक्कर लगाए हैं और गहन सागर के तल को खोजा है। इन खोजों के लिये मानव ने भारी साधना की है। न जाने कितने कितने समय के लिये वह संसार के भौतिक सुखों को भुलाकर अपनी खोज के चिन्तन में लगा रहा है। मैं मानव की इस प्रकार की तल्लीनता और साधना को धर्म के अन्तर्गत मानता हूं।

परन्तु इस समय विज्ञान की खोज का एक दूसरा रूप भी हमारे सामने उपस्थित है। विज्ञान में मानव विनाश की जो वृत्ति इस समय आई है, वह धर्म की सीमा को लांघ जाती है। मान लीजिये कि एक विद्वान वैज्ञानिक वर्षों तपस्या करके अणु बम बनाने में सफल होता है। जितने समय तक वह उसके निर्माण में लीन रहता है, उतने समय तक उसे केवल निर्माण की चिन्ता रहती है। परन्तु जिस समय उसके अणु बम का उसकी बताई विधि से मानव संहार के लिये प्रयोग किया जाता है, तब

---

*वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ६८८ हर्बर्ट स्पेंसर रचित 'एजुकेशन' ग्रंथ से उद्धृत।

उसकी सात्विकता, एकाग्र चित्तता और मानव प्रेम की भावना का कोई मूल्य नहीं रह जाता। आज विज्ञान भौतिक सुख और मानव संहार का साधन बन गया है और उस भौतिक सुख की प्राप्ति में धर्म और अधर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से विज्ञान का जो अनुशीलन होना चाहिए था, वह अब प्राणियों के संहार के लिए हो रहा है।

वैदिक संस्कृति की यह विशेषता रही है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का दास न बनने पाए। अर्थ संचय में वह पूरी ईमानदारी बरते और उस अर्थ का सही प्रयोग करे। अर्थ का दूसरा नाम सम्पत्ति है। सम्पत्ति का संचय पाप और अन्याय से नहीं होना चाहिए किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा सम्पत्ति का उपार्जन करे। भारतीय दर्शनकारों का कहना है—'अर्थ मोक्ष का प्रधान सहायक है।' यह बात आज समझ में आने वाली नहीं क्योंकि मानव आज अर्थ संचय के लिए घृणित से घृणित कार्य करने को भी तैयार है।

मनु महाराज का कहना है

'सर्वेषामेव शौचानामर्थं शौचं परं स्मृतम्'

अर्थात् समस्त पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अर्थ संग्रह करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके पास एक भी पैसा ऐसा न आने पाए जो अधर्म से या अन्यायपूर्वक संचय किया गया हो।

मनु महाराज ने अर्थ संग्रह के पांच नियम निर्धारित किए हैं। वे लिखते हैं—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रोजीवेदनापदि।
यात्रामात्र प्रसिद्ध्यर्थं स्वैर्कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्यं कुर्वीत धनसंचयः।
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः॥

अर्थ संचय का पहला नियम यह है कि अर्थ संग्रह करते समय किसी भी प्राणि को कष्ट न हो। दूसरा नियम यह है कि अर्थ संग्रह करते समय अपने शरीर को भी कष्ट न हो। तीसरा नियम यह है कि अपने ही पुरुषार्थ से उत्पन्न किये गये अर्थ से निर्वाह किया जाय, दूसरों की कमाई से नहीं। चौथा नियम यह है कि अपना उत्पन्न किया अर्थ किसी गर्हित कर्म के द्वारा उत्पन्न न किया गया हो। पांचवां नियम यह है कि अर्थोपार्जन के कारण स्वाध्याय में विघ्न उत्पन्न न होता हो। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्थ इन नियमों के अनुसार कमाया जाय, वही पवित्र होता है।

परन्तु आज के युग में इन पांचों नियमों का पालन करना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो गया है। भौतिकवादी इन पांचों नियमों को इस युग में स्वीकार करने को भी तैयार नहीं। पहले नियम की परख करते समय आज का भौतिकवादी दूसरे प्राणि को कष्ट न देने को कोई महत्व नहीं दे रहा। मांसाहारी लोग संसार के अनेक पशु, पक्षियों को मार डालना अपना अधिकार समझते हैं। उनकी दृष्टि में तो मानव पीड़ा का भी कोई मूल्य नहीं। सबल निर्बल को खा जाने के लिए तैयार है। आज देश में ऐसे अनेक व्यक्ति मौजूद हैं जो धन संचय के लिए बनावटी औषधियां, दवाइयां और अन्य गन्दी खाद्य वस्तुएं बेचकर मनुष्य जीवन के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। ये सब बातें किसी भी धर्म में मान्य नहीं।

दूसरा नियम अपने शरीर को क्लेश दिये बिना अर्थ संग्रह करने का है। आज का वह भौतिकवादी जो बड़े २ कल कारखाने चला रहा है, भले ही कुछ काम न करता हो परन्तु इस बात को वह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि श्रमिक शरीर को क्लेश दिये बिना अपनी जीविका कमाये। वह तो चाहेगा कि श्रमिक अधिक से अधिक श्रम करे और उसका कारखाना चलाने में मददगार बने। आज श्रमिक और मध्यम वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति जीवकोपार्जन के लिए अपने शरीर से अधिक से अधिक काम ले रहा है। श्रमिक महिलाएं कभी २ दुर्बलता के कारण श्रम करते करते मूर्छित तक हो जाती हैं।

मनुष्यों का एक वर्ग ऐसा भी है जो मानव को गधे घोड़ों की तरह इस्तैमाल करने में भी नहीं हिचकिचाता। अतः मानव-पीड़ा और क्लेश इनकी दृष्टि में कुछ नहीं।

मनुष्य को कहा गया है कि वह बिना क्लेश पाये अर्थ संचय करे। इसका आशय यही था कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के लिये आसानी से धन संचय करे। मनुष्य ने जिस दिन से अपनी आवश्यकतायें बढ़ाई हैं, तभी से वह वैदिक संस्कृति से दूर जा रहा है। वह स्वयं क्लेश पाता है और अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को क्लेश देने में भी नहीं चूकता।

तीसरे नियम में मनुष्य को पुरुषार्थ से अर्थ संचय करने को कहा गया है। इसका आशय है कि मनुष्य निठल्ला बैठकर दूसरों के कमाये धन पर मौज न मारे। प्रत्येक व्यक्ति में पुरुषार्थ द्वारा अर्थ संचय की भावना रहनी चाहिये। दूसरों की कमाई पर निर्भर रहने वाले व्यक्ति समाज के लिए भार बन जाते हैं। यहां इस बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि रोगी, अपाहिजों, बालकों और वृद्धों आदि पर यह नियम लागू नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों के पालन पोषण का भार तो समाज पर होता है।

चौथे नियम में निन्दनीय, पापमय और धर्म से गिरे कामों से रुपया कमाने से मनुष्य को रोका है। आज समाज की दशा यह हो रही है कि रुपया कमाने में लोग धर्म अधर्म में कोई भेद नहीं करना चाहते। धन के लालची निन्दनीय से निन्दनीय मार्ग को धन कमाने का साधन बना लेते हैं।

पांचवें नियम में अर्थोपार्जन करने में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक बताया है कि मनुष्य के स्वाध्याय में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। वैदिक संस्कृति के अनुसार मनुष्य को जीवन पर्यन्त सत् शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। परन्तु इस समय मनुष्य अर्थ संचय के सामने स्वाध्याय को कोई महत्व नहीं दे रहा।

हो सकता है कि कुछ मनुष्य कुछ देर पूजा पाठ कर लेते हों परन्तु धर्मशास्त्रों के विधिवत् अध्ययन को मनुष्य अब छोड़ चुका है। इने गिने विद्वान, महात्मा या सन्यासी भले ही इस पर आचरण करते हों।

वैदिक संस्कृति में धर्म का स्थान बहुत ऊंचा है। धर्मानुसार जीवन बिताने से ही लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त हो सकता है। वैदिक धर्मानुसार लोक और परलोक दोनों के सम्बंध में मनुष्य को ध्यान रखना आवश्यक है। कुछ ऐसे सम्प्रदाय और मत भी हैं जो परलोक के सुख में विश्वास नहीं रखते, जिनका ईश्वर में विश्वास नहीं वे मुख्यतः परलोक की बात को भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु ईश्वरविश्वासी को लोक के साथ परलोक का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

जहां तक धर्म शब्द का सम्बंध है। इसके सम्बंध में भी अनेक विचार सामने आते हैं। कुछ दार्शनिक मानव के शुभ कर्मों को ही धर्म मानते हैं और कुछ मानव-मात्र के प्रति दया और सहानुभूति प्रगट करने को धर्म तक सीमित करते हैं। परन्तु वैदिक धर्म में इन सब बातों को धर्म की प्राप्ति का साधन माना गया है। दर्शनकार लोक और परलोक दोनों के लिए सुख प्राप्त करने वाले मार्ग को धर्म का मार्ग मानते हैं। वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि धर्म का लक्षण करते हुए कहते हैं—

'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसि सिद्धिः स धर्मः'

इसका तात्पर्य यह है कि जिससे अर्थ काम सम्बंधी लोक सुख की और मोक्ष सम्बंधी परलोक सुख की सिद्धि हो वही धर्म है।

इस प्रकार वैदिक संस्कृति का मूलाधार धर्म रहा है। धर्म का पालन वे ही व्यक्ति कर पाते थे जिनका जीवन सात्विक और पवित्र होता था। जो व्यक्ति जीवन में सत्य का आचरण करते थे और शुद्ध आहार का सेवन करते थे वे ही धर्म के नियमों का पालन कर पाते थे। ऐसे व्यक्तियों का सारा जीवन प्राणिमात्र के कल्याण में बीतता था। ऐसे व्यक्ति दूसरों को पीड़ा देना धर्म विरुद्ध समझते थे।

आर्य संस्कृति के सम्वन्ध में स्वर्गीय पं० रघुनन्दन शर्मा का कहना है—

"संसार में अनेकों सभ्यताओं का जन्म हुआ और विस्तार हुआ, पर आज उनका कहीं नामोनिशान (चिन्ह) भी वाकी नहीं है। किन्तु आर्यों का आहार-विहार, वेशभूषा, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, यज्ञ-याग, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, धर्म-कर्म, दया-प्रेम, दर्शन-विज्ञान, योग-समाधि, कर्म-फल, वन्ध-मोक्ष, ब्रह्मचर्य, पातिव्रत, गोभक्ति, वाटिका भक्ति और कृमि-कीट आदि समस्त प्राणियों के साथ सहानुभूति आदि जितने आदिम कालीन मन्तव्य और कर्तव्य हैं, वे आज भी ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। इससे यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि आर्यों की सभ्यता में अपनी रक्षा कर लेने की पूरी योग्यता है और उसको चिरजीवी रखने की पूर्ण शक्ति है।" *

उपरोक्त वर्णित जिन विशिष्ठ गुणों के कारण वैदिक सभ्यता आज भी संसार में सर्वोपरि स्थान रखती है, उनकी ओर से हटते जाना कभी कल्याणकारी न होगा। इन गुणों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्वंध है। इनमें से किसी एक गुण की उपेक्षा करने से मानव के नीचे गिर जाने का भय है।

परन्तु आज का नास्तिक और वैज्ञानिक इन सब वातों में विश्वास करने को तैयार नहीं। वह समझता है कि जो वस्तुयें भी उसे उपलब्ध हैं, उनका उसे प्रयोग करने का पूरा अधिकार है। इसी प्रकार वह वेश-भूषा और रहन-सहन को भी अपने आराम की कसौटी पर कस लेना पर्याप्त समझता है। आचार-व्यवहार में वह उस मार्ग को अपनाता जा रहा है जिसके द्वारा उसे अधिक से अधिक सांसारिक सुख प्राप्त हो। यही कारण है कि आज हमारा नैतिक स्तर वरावर गिरता जा रहा है। यज्ञ-याग को आज का अधिकांश शिक्षित वर्ग ढकोसला समझता है। दान-पुण्य का स्वरूप भी इस समय वहुत कुछ वदल गया है। देश के हजारों पूंजीपति ऐसे मिलेंगे जो राजनीतिक दवाव में धर्मादे का धन सार्वजनिक संस्थाओं को देकर दानी कहलाने का दम भरते हैं।

आज के भौतिकवाद में अधिकांश शिक्षित वर्ग व्रत-उपवास, धर्म-कर्म और दया-प्रेम को कोई स्थान नहीं देता। ब्रह्मचर्य एवं पातिव्रत जैसे महत्वपूर्ण गुणों को भी भौतिकवाद में ग्रसित व्यक्तियों ने ठुकरा दिया है। इन दोनों गुणों के विना इस देश की उन्नति होना कठिन है। आज हमारे देश के युवक और युवतियां पश्चिमी देशों के अनुसार विलासिता को ही सभ्यता की निशानी समझ वैठे हैं। पश्चिमी भोग विलास का अन्धा अनुकरण करना वे जीवन का आदर्श समझते हैं।

वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ८११

जहां तक गोभक्ति का प्रश्न है, इसमें भी भारतवासी बराबर उदासीन होते जा रहे हैं। आर्यों के जीवन में गाय का बड़ा महत्व रहा है। ऋषियों, महात्माओं, राजा, महाराजाओं और जनसाधारण ने गाय को प्राणों के समान प्रिय समझा। परन्तु आज मांसाहारियों की प्रवृत्तियों ने उस धार्मिक भावना को करारी चोट लगा दी है। फिर भी वैदिक संस्कृति के रक्षकों को गोभक्ति की भावना को जागृत करने का भरसक यत्न करना चाहिये। भारतवर्ष में सृष्टि के आरम्भ से गाय के प्रति भक्ति की भावना रही है। आर्यों ने गाय को ऐसा पशु माना है जिसका पालन करना उसके लिए धार्मिक कृत्य था।

वैदिक काल की संस्कृति का नाम हमने वैदिक संस्कृति दिया है। इसी का नाम आगे चलकर 'भारतीय संस्कृति' या 'हिन्दू संस्कृति' पड़ा।

वेदों के अनुसार आचरण करने वाले आर्यों ने जिस संस्कृति को अपने आचरण में स्थान दिया, उसी वैदिक संस्कृति का कालान्तर में रूप बदल गया। आर्यों के उत्थान काल में जो वैदिक संस्कृति समस्त संसार में फैली वही उनके पतन के समय विकृत रूप धारण कर गई। विकृत रूप से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि वेदों के अनुसार आचरण करना कठिन समझकर भारतवासियों ने नये देवी देवताओं की कल्पना करके वैदिक संस्कृति के मूलाधार वेदों को विस्मृत कर दिया।

भारत फिर भी वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों एवं अन्य स्मृति ग्रंथों के आधार पर अपनी वैदिक संस्कृति की रक्षा का यत्न करता रहा। परन्तु विदेशियों के अनेक आक्रमणों ने भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति के रूप में एक नया परिवर्तन ला दिया और विवश होकर भारत के आर्यों को अपनी प्राचीन संस्कृति का नाम हिन्दू संस्कृति कर देना पड़ा।

हिन्दू संस्कृति—

भारत में जिस संस्कृति का उदय हुआ वह यद्यपि 'हिन्दू' तक सीमित कर दी गई परन्तु उसका आशय भारत की उसी प्राचीन संस्कृति से है जो ऋषियों ने वेदों के अनुसार स्थिर की। हिन्दू संस्कृति आध्यात्मिकता पर आधारित रही और इसमें धार्मिक कृत्यों के पालन करने पर विशेष बल दिया गया। ईश्वर में अटल विश्वास रखना और सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करना ही आध्यात्मिकता का आधार माना गया है।

इस आध्यात्मिक बल के कारण ही भारत की संस्कृति आज तक सुरक्षित रही है। विधर्मी वैदेशिक शासकों ने इस देश पर अनेक बार आक्रमण किए और इसकी अपार सम्पत्ति को लूटा और साथ ही इसमें रहने वाले करोड़ों व्यक्तियों के

धर्म पर भी आघात किए परन्तु फिर भी वह संस्कृति आज भी जीवित है और उसका संसार की सभ्यता में सर्वोपरि स्थान है।

इस हिन्दू संस्कृति ने एक सहस्र वर्ष की अग्नि परीक्षा द्वारा अपनी अजेयता को सिद्ध कर दिया है। मुसलमानों के अमानुषिक अत्याचारों को शताब्दियों तक सहने पर भी हिन्दुओं ने अपनी संस्कृति की रक्षा की। इसका मुख्य कारण यही था कि हिन्दुओं को अपनी यह संस्कृति प्राणों से भी प्रिय थी।

भारत की संस्कृति पर मुसलमान लोगों ने काफी प्रहार किये। शक, हूण और यवनों ने जहां इस देश को लूटा वहां उन्होंने यहां की संस्कृति को भी मिटाने का प्रयत्न किया। हिन्दू संस्कृति पर उन्होंने क्रूर और घातक प्रहार किये। इसके पश्चात् इस देश पर अंग्रेजों ने आक्रमण किये और वे इस देश के मालिक बन गये। उनके हाथ में शक्ति, वैभव और धन था। साथ ही वे ईसाई धर्म को भी इस देश पर लादना चाहते थे। उन्होंने इस देश की निर्बलता का अध्ययन किया और उससे लाभ उठाकर हिन्दू संस्कृति को मिटाने के लिए वे एक नये रूप में सामने आये। उन्होंने इस देश के शिक्षित वर्ग को अपनी ओर नौकरियों का प्रलोभन देकर ईसाई धर्म फैलाने का यत्न किया और इसमें वे बहुत अंश तक सफल भी हुये। इन्होंने हिन्दू संस्कृति के प्रति भारतीय युवकों में घृणा की भावना उत्पन्न करने का यत्न किया। परन्तु फिर भी हिन्दू संस्कृति जीवित रही और उसने आज भी संसार भर के देशों में अपनी उच्चता का सिक्का जमाया हुआ है।

अंग्रेजों ने भारतवासियों के धर्म को मिटाने में बड़ी कूटनीति बरती। उन्होंने ऊपर से तो यह घोषणा की कि वे किसी भी भारतीय के धर्म या मजहब में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते हैं परन्तु अन्दर ही अन्दर वे ईसाई धर्म को विस्तार देने में लगे रहे। उन्होंने भारत में शिक्षा संस्थायें खोलकर युवकों को ईसाई बनाने का यत्न किया। भारत के निम्न वर्ग को अर्थ का प्रलोभन देकर ईसाई बनाया। कहीं-कहीं उन्होंने हिन्दू धर्म का भी खण्डन किया। इतना होने पर भी वे हिन्दू संस्कृति को मिटा न सके। भारी से भारी आघात सहकर भी हिन्दू धर्म के रक्षकों ने अपनी संस्कृति की रक्षा की और इसे अमर बनाये रक्खा।

हिन्दू संस्कृति का आधार—

वैदिक संस्कृति का मूलाधार चार-वेद थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद। इन चारों में वर्णित ज्ञान और कर्म काण्ड के अनुसार आचरण करते हुए प्राचीन समय के आर्यों ने अपनी संस्कृति को संसार भर में फैलाया।

वेदों के अनुकूल जितने भी आर्षग्रंथ थे, वे भी वैदिक संस्कृति को विस्तार देने में सहायक सिद्ध हुए। इनमें चार उपवेद, छः वेदांग और छः दर्शन सम्मिलित थे।

वैदिक कालीन आर्यों ने जीवन में उपासना को मुख्य स्थान दिया। उनका जीवन सरल रहा और उनको वेदों की शिक्षाओं को अपने जीवन में ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हुई।

ब्राह्मण ग्रंथों के समय जीवन में कर्मकाण्ड ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया परन्तु ईश्वरोपासना का क्रम फिर भी बना रहा।

उपनिषद काल में विद्वानों एवं ज्ञानियों ने ज्ञान बल बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया। उपनिषदकार प्रत्येक बात की गहराई में गए और उन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म रजकण के भाग करने की चेष्ठा की।

इतना होते हुए भी आर्य, वैदिक संस्कृति का अनुकरण करते रहे। उन्होंने जीवन की प्रत्येक समस्या को सुलझाने का यत्न किया। व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक जीवन तक की पूरी व्यवस्था करने में वे सफल हुए। राजनीतिक जीवन में उन्होंने वेदानुकूल राजधर्म की शरण ली। उनके सिद्धान्तानुसार वही व्यक्ति राजा बनने का अधिकारी हो सकता था जो धर्मात्मा हो और जिसका धर्म शास्त्रों में विश्वास हो। उस समय की शासन व्यवस्था के चलाने वाले धर्मात्मा व्यक्ति होते थे। राजा को उचित परामर्श देने के लिए उस समय की व्यवस्था में राजगुरु का विशेष स्थान था।

इस व्यवस्था को रामायण कालीन महाराजा दशरथ ने भी स्थिर रक्खा। दशरथ गुरु वशिष्ठ से परामर्श लेकर शासन कार्यों का सम्पादन करते थे।

वैदिक कालीन आर्यों ने राज धर्म के जो सिद्धान्त अपनाए वे सब वेदानुकूल थे और उनके पालन करने में न तो राजा को कठिनाई होती थी और न प्रजा को। वैदिक शासन व्यवस्था के अनुसार राजा प्रजा का पालक कहा जाता था और प्रजा अपने राजा के प्रति स्वामीभक्त होती थी।

महाभारत काल में भी राजगुरुओं से परामर्श लेने और उनके विचारों से लाभ उठाने की परम्परा बनी रही। परन्तु उसका रूप कुछ बदल सा गया था। फिर भी यह बात निर्विवाद समझनी चाहिए कि उस समय भी राजा लोग राज गुरुओं से परामर्श लेते थे। धृतराष्ट्र के राजदरबार में महात्मा विदुर और भीष्म पितामह इस प्रकार के विद्वान थे जो महाराज धृतराष्ट्र की सहायता करते थे।

सामाजिक जीवन को उत्कृष्ट रखने में आर्यों ने पूरी सावधानी बरती और सारे सामाजिक जीवन को इस प्रकार का रूप दिया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का पूरा अवसर प्राप्त था। आर्यों की आश्रम व्यवस्था ने मानव जीवन को सुखी रखने में पूर्ण सहायता प्रदान की। उन्होंने मनुष्य के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त

किया। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चारों आश्रम उस समय के आर्यों का जीवन सुखी रखने में सही सिद्ध हुए।

उस समय इन चार आश्रमों के विभाजन ने मनुष्य की वृत्तियों को सात्विक बनाये रखने में पूरी सहायता की। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करने वालों के लिए कठोर से कठोर नियम बनाये गये परन्तु उनका पालन करना उस समय की सामाजिक स्थिति में साधारण बात थी। इस आश्रम की अवधि में प्रत्येक बालक एवं बालिका को अधिक से अधिक ज्ञानोपार्जन का अवसर दिया जाता था और वह अपनी बुद्धि के अनुसार ज्ञान प्राप्त करता था।

वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था में इसके पश्चात् गृहस्थ आश्रम को स्थान दिया गया है। जीवन के इस चौथाई भाग में गृहस्थी को धर्मपूर्वक अपने परिवार के पालन पोषण का उत्तरदायित्व निभाना पड़ता था। वह समाज पर भार नहीं बनता था किन्तु समाज के प्रति अपना कर्तव्य पालन करता था। वास्तविक बात तो यह है कि गृहस्थ आश्रम की सफलता पर ही ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास अन्य तीन आश्रमों की सफलता निर्भर करती थी।

गृहस्थ आश्रम की अवधि समाप्त करने पर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य था क्योंकि समाज के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी जो अपना आगे का जीवन सामाजिक कार्यों में लगा सकें। वानप्रस्थ में प्रवेश करने पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार समाज सेवा का कार्य संभालते थे। उदाहरण के रूप में जो व्यक्ति शिक्षा देने की क्षमता रखते थे, वे गुरुकुलों में जाकर शिक्षा का काम करते थे और जिनका ज्ञान चिकित्सा या शिल्प कला या अन्य किसी विद्या में बढ़ा चढ़ा होता था, वे उन्हीं कार्यों में योग देते थे। ऐसे व्यक्तियों का जीवन किसी एक का नहीं किन्तु पूरे समाज का होता था।

सन्यास आश्रम की व्यवस्था ने उस काल की सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाये रक्खा। उस समय इस बात की आवश्यकता थी कि ब्रह्मचारियों, गृहस्थियों एवं वानप्रस्थियों को सत-परामर्श देने वाले व्यक्ति हों। अतः संन्यासी इन तीनों को ही अपने ज्ञान से लाभान्वित करते थे। इसका सबसे बड़ा लाभ यह था कि वे परमात्म-चिन्तन में लगने का एक ऐसा अवसर प्राप्त कर लेते थे जो उनको जीवनभर गृहस्थी बने रहने में कभी प्राप्त न होता। मुक्ति प्राप्त करने के लिये इस आश्रम में रहकर प्रत्येक संन्यास साधना भी करता था।

मैं यहां इस बात की आलोचना में नहीं जाना चाहता की आर्यों के चार आश्रमों का यह क्रम समाज के लिये सही था या गलत क्योंकि आज के युग में इस

क्रम को चलाना सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा। [यह दूसरी बात है कि अपनी स्वयं की इच्छा से कुछ व्यक्ति संन्यासी बन जायं। जहां तक जीवन को सौ वर्ष का मानकर उसकी चौथाई अवधि को ही गृहस्थी के रूप में व्यतीत करने का प्रश्न है, यह भी आज किसी को मान्य न होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वैदिक काल में इन चार आश्रमों का आर्य लोग पालन करना कठिन समझते थे या इनका पालन न करते थे। जब सारा समाज किन्हीं बातों को स्वीकर कर लेता है, तब उनके ग्रहण करने में समाज के व्यक्तियों को कोई कठिनाई नहीं होती।

संन्यासी उस समय के समाज के पथ प्रदर्शक थे। इनके आश्रमों में धनी और निर्धन दोनों वर्ग समान रूपसे ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी थे। संन्यासी अपने अनुभवों से सारे समाज को लाभ पहुंचाते थे और उनके हृदय में मानव कल्याण की भावना रहती थी जिसने समाज को स्वस्थ और सम्पन्न बनाये रक्खा।

उस समय की वर्ण व्यवस्था ने भी समाज को उन्नत बनाने में बड़ी सहायता प्रदान की। ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त होकर इन सभी ने समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का यत्न किया।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणों ने समाज को अपने ज्ञान से लाभान्वित किया और क्षत्रियों ने अपनी भुजाओं के बल पर राष्ट्र की रक्षा की। वैश्यों ने अपनी व्यापारिक बुद्धि एवं वाणिज्य से देश को धनधान्य से पूर्ण किया। इसी प्रकार शूद्रों ने अपनी सेवा से समाज को सुखी बनाने में सहायता दी। इन चार वर्णों में विभाजित समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने २ कर्तव्य पालन में लगा रहना अपना धर्म समझता था।

मनुस्मृति में इन चारों वर्णों के कर्तव्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों को समाज का आवश्यक अंग माना है। इनमें से किसी एक के बिना समाज का कार्य नहीं चल सकता था।

वर्णों के सम्बन्ध में दो विचार धाराएं हमारे सामने आती हैं। कुछ विद्वान जन्म से जाति (वर्ण) मानते हैं और कुछ कर्म से। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जन्म से नहीं किन्तु कर्म से जाति मानी है। उनके अनुसार शूद्र के घर में उत्पन्न हुआ बालक बड़ा होकर यदि विद्या प्राप्त कर लेता है तो वह ब्राह्मण पद को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ब्राह्मण का मंद बुद्धि बालक शूद्र भी हो सकता है। ऐसे ही क्षत्रीय और वैश्य अपने २ कर्मों की प्रधानता के कारण दो अलग २ जातियों में विभाजित हुए।

स्वामी दयानन्द ने इन चार वर्णों के सम्बन्ध में मनु महाराज का निम्न श्लोक उद्धृत करते हुए गुण कर्मानुसार जातियों का विभाजन माना है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

मनु० १० । ६५

"गुरुकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण वा शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस २ वर्ण के सदृश जो २ पुरुष वा स्त्री हो वह २ उसी वर्ण में गिनी जावे।*

परन्तु वैदिक युग का यह जाति विभाजन आगे चलकर एक नया रूप धारण कर गया। उस काल में ब्राह्मण के मूर्ख पुत्र को भी ब्राह्मण मान लिया गया और शूद्र के घर में जन्म लेने वाले उस बालक को भी अन्य वर्ण में सम्मिलित होने का अवसर न दिया गया जिसकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। इसका प्रभाव हमारी संस्कृति पर ऐसा बुरा पड़ा कि देश हजारों प्रकार की उप-जातियों में विभाजित हो गया। इन चारों वर्णों में से एक एक वर्ण सैंकड़ों उप-जातियों में बंट गया। इससे राष्ट्रीय-एकता में भारी बाधा पड़ी और आज तो यह भयंकर रोग और भी अधिक हानि पहुंचा रहा है।

वैदिक संस्कृति के अनुसार स्त्री एवं पुरुष को वैदिक काल में उन्नति करने का समान अवसर दिया गया। उनको वेद पढ़ने का वैसा ही अधिकार प्राप्त था जैसा पुरुषों को था। भारत में जिस प्रकार पुरुष अपनी विद्वत्ता के कारण विद्वान कहलाते थे, उसी प्रकार स्त्रियां भी अपनी योग्यता के कारण विदुषी कही जाती थीं।

स्त्री और पुरुष दोनों ने समान रूप से सामाजिक व्यवस्था को श्रेष्ठ बनाने का यत्न किया। ऋषियों के आश्रमों में जहां उनका सम्मान होता था वहां ऋषि पत्नियां भी बड़ी विद्वान व कार्य कुशल होती थीं। भारतीय ग्रंथों में ऐसी अनेक विदुषी देवियों की गौरव गाथाएं आज भी अंकित हैं।

परन्तु भारत के अधः पतन का एक समय ऐसा आया जब स्त्रियों को पुरुषों से निम्न मान लिया गया। उस समय के धर्मगुरुओं ने उनको वेदों का अध्ययन करने से रोक दिया और जो देवियां पुरुषों के साथ साथ यज्ञों में भाग लेने का अधिकार रखती थीं, वे भी उससे वंचित कर दी गईं। परिणाम यह हुआ कि नारी विवश होकर सामाजिक जीवन में पिछड़ गई और वह पुरुष की दासी समझी जाने लगी।

---

*सत्यार्थ प्रकाश बारहवां संस्करण पृष्ठ ८८

हजारों वर्षों से पीड़ित नारी की ओर अनेक महापुरुषों ने फिर ध्यान दिया। उन्होंने नारी को उसी स्थान पर प्रतिष्ठित करने का यत्न किया जहां से उसे नीचे गिराया गया था। उन्नीसवीं शती के महर्षि, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य किया।

जब स्वामी जी से प्रश्न किया गया—'क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें" तो उन्होंने उत्तर दिया–'अवश्य'। उन्होंने बताया कि स्त्रियां यज्ञ में वेद मंत्रों से आहुतियां देती थीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वर सहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके। भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषण रूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थीं यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे फिर सुख कहां? इसलिए जो स्त्री न पढ़ें तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें तथा राजकार्य्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

"देखो आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्ध विद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो केकयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं? और युद्ध कर सकतीं इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या और शुद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए क्योंकि इनके सीखे बिना सत्याऽसत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्य्यों को जैसा चाहिए वैसा करना कराना वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहैं शिल्प विद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्र विद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सके। इसलिये वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु श्वशुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट मित्र

और सन्तानादि से यथा योग्य धर्म से वर्त्तें। यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाए अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निजभाग लेते हैं और विद्या कोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥
मनु० ७। १५२ ॥

"राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों का उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रख के विद्वान् कराना जो कोई इस आज्ञा को न माने उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्य्य कुल में रहें जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।"

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदान विशिष्यते।
वायन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥
मनु० ४। २३३ ॥

"संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेद विद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इसलिये जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।"*

स्वामी दयानन्द के समय में अनेक समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने ब्राह्मणों की इस बात को स्वीकार नहीं किया कि स्त्री को वेद पाठ का अधिकार नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के अनेक भागों में स्त्री शिक्षा प्रारम्भ हो गई। स्त्रियों ने दृढ़ता के साथ उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ओर पग बढ़ाया। दैवयोग से उन्हें राजनैतिक नेताओं का संरक्षण भी प्राप्त हो गया। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, महामना पंडित मदन मोहन मालवीय एवं महात्मा गांधी जी आदि ने राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियों को पुरुषों से भी अधिक सम्मान प्रदान किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो महिला वर्ग शिक्षा की दृष्टि से हीन समझा जाने लगा था, उसी ने अपनी विद्या के बल पर समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया। जो वेदपाठी ब्राह्मण स्त्रियों को वेद पाठ का अधिकार देने को अधर्म समझते थे, वे ही अब उनको वेद पढ़ाने में गौरव मानते हैं।

---

*सत्यार्थ प्रकाश बारहवां संस्करण पृष्ठ ७५-७६

स्त्रियों ने न केवल अंग्रेजी या अन्य विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की है किन्तु उन्होंने संस्कृत का गहरा अध्ययन किया है। धर्म शास्त्रों के अध्ययन में आज अनेक देवियां लगी हुई हैं और उन्होंने अपने ज्ञान से समाज को बड़ा लाभ पहुंचाया है।

इस तरह वैदिक संस्कृति में स्त्री एवं पुरुष के समान रूप में विद्या प्राप्त करने की जो भावना विद्यमान थी, वह अब पुनः अपना स्थान प्राप्त कर रही है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि इस समय स्त्री शिक्षा के दो रूप हमारे सामने आ रहे हैं। एक रूप वह है जो उनको और समाज को भारतीय संस्कृति की ओर प्रेरित करता है और दूसरा रूप वह है जो उनको पश्चिमी सभ्यता या कल्चर का दास बना देना चाहता है। आज का महिला वर्ग इन दोनों को ही ग्रहण करना चाहता है। पश्चिमी सभ्यता की ओर कदम बढ़ाने वाली नारियां संसार के अन्य देशों की नारियों के समान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम करना चाहती हैं और भारतीय संस्कृति का ध्यान रखने वाला शिक्षित नारी समाज अपने देश की मान्यताओं का ध्यान रखकर जीवन के सीमित क्षेत्र में काम करना चाहता है। मेरे विचार से हिन्दू संस्कृति की रक्षा और उसके पोषण में इस प्रकार का नारी समाज ही सहायक सिद्ध होगा।

इस समय समाज को श्रेष्ठ और उन्नत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में आध्यात्मिकता की भावना जागृत हो। अपनी संस्कृति से विमुख होकर भारत कभी उन्नत न हो सकेगा। हमें अपने आचार और विचारों को श्रेष्ठ बनाने की आवश्यकता है। इस समय मानव में जो स्वार्थ भावना घुसती जा रही है, उसने इस देश के आचार विचार पर गहरा आघात लगाया है। हमें अपने अध्यात्म-बल से अपने देश के आचार विचार की रक्षा करने की आवश्यकता है। स्वामी विवेकानंद जी का कहना है

'यदि मनुष्य के पास संसार की प्रत्येक वस्तु है, पर आध्यात्मिकता नहीं है तो क्या लाभ? वे (हिन्दू लोग) जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टि के मूल में वह सत्य और दिव्य आत्मबल निहित है, जिसे कोई पाप कलुषित नहीं कर सकता, कोई आचार भ्रष्ट नहीं कर सकता और कोई दुर्वासना गंदा नहीं कर सकती, जिसे अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, जिसे गर्मी सुखा नहीं सकती और मृत्यु मार नहीं सकती। उसकी दृष्टि में मनुष्य की यह परा प्रकृति आत्मा उतना ही सत्य है जितना कि एक पाश्चात्य-व्यक्ति की इन्द्रियों के लिए कोई भौतिक पदार्थ। इसी विचारधारा में वह शक्ति निहित है जिसने उनको शताब्दियों के उत्पीड़न और वैदेशिक आक्रमण या अत्याचार के बीच अजेय रक्खा है। आज भी राष्ट्र जीवित है और उस राष्ट्र में भयंकर से भयंकर विपत्ति

के दिनों में भी आध्यात्मिक महापुरुष कभी उत्पन्न होने से न चूके हैं। सैकड़ों वर्षो तक लहरों पर लहरें प्रत्येक वस्तु को तोड़ती फोड़ती हुई देश को आप्लावित करती रही हैं, तलवार चली है और 'अल्लाहो अकबर' के गगन भेदी नारे लगे हैं, किन्तु वे बाढ़ें चली गईं और राष्ट्रीय आदर्शो में परिवर्तन न कर सकीं हजार वर्षो के असंख्य कष्ट और संघर्षो में यह हिन्दू जाति मर क्यों न गई ? यदि हमारे आचार-विचार इतने खराब हैं तो क्योंकर हम लोग अब तक पृथ्वी पर से मिट न गये ? क्या भिन्न-भिन्न वैदेशिक विजेताओं ने हमें कुचल डालने में किसी बात की कमी रक्खी ?

'तब हिन्दू बहुत से अन्य देशों की भांति क्यों न समूल नष्ट हो गये ? भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है वह और उस वक्त तक अमर रहेगा जब तक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में रहेगी, जब तक कि उसके लोग आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे।'†

यहां स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिकता पर जोर देते हुए भारत की संस्कृति को संसार की सर्वोपरि संस्कृति बताया है। तलवार चलाने और 'अल्लाहो अकबर' के नारे लगने पर भी हिन्दुओं ने अपने अध्यात्म-बल पर अपने देश की संस्कृति की रक्षा की। उनके कथनानुसार वैदेशिक विजेताओं ने भारतवासियों को कुचल डालने में कोई कमी न की परन्तु अपने आचार-विचार के बल पर वे अपनी संस्कृति की रक्षा करने में सफल रहे।

वैदिक काल में मनुष्य को धर्म प्रिय रहा। उस समय प्रत्येक व्यक्ति अधर्म से दूर रहना और धार्मिक कामों को करना अपना मुख्य कर्तव्य समझता था। पाप और पुण्य दोनों में वह भेद करता था। जो काम उसकी दृष्टि में ऐसे थे जो उसे पाप की ओर ले जायं, उनसे वह बचता था। उसका सारा जीवन ऐसे नियमों में बंधा रहता था कि जहां पाप करने का कोई अवसर ही न था।

उस समय सारा समाज वेदानुकूल आचरण करना अपना कर्तव्य समझता था। वेदोक्त ईश्वर की उपासना करना, सत्य का आचरण करना, परोपकार की भावना रखना, शुद्ध सात्विक भोजन का प्रयोग करना, अपनी इन्द्रियों पर अनुशासन रखना और प्राणि-मात्र के प्रति दया व प्रेमभाव रखना जैसे गुण पूरे समाज ने अपना लिये थे और उनके बल पर समाज में धार्मिकता की भावना बनी रही।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आर्यो ने उन्नति की। ब्रह्मनिष्ठ होते हुये भी वे जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे। ज्ञान एवं विज्ञान दोनों में ही

---

† कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक पृष्ठ. १६४

वे समान रूप से अपनी बुद्धि का प्रयोग करते थे। विज्ञान में उन्होंने जो उन्नति की, उसके सम्बंध में आज के विज्ञानवेत्ता अन्वेषण करते रहे हैं। ज्ञान की दृष्टि से तो आर्यों ने विश्व गुरु का पद प्राप्त किया और इस समय भी उसके धार्मिक तत्वों के प्रति विश्व भर के दार्शनिक विद्वान श्रद्धा से मस्तक झुकाते हैं।

पैरिस विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक प्रो० लुई रिनाउ का कहना है—'संसार के देशों में भारतवर्ष के प्रति लोगों का प्रेम और आदर उसकी वैदिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के कारण है।'

आर्य या वैदिक संस्कृति के अन्य अनेक महत्वपूर्ण अंगों के सम्बन्ध में हम आगे के पृष्ठों में कुछ उल्लेख करेंगे। आर्यों ने जिस संस्कृति को अपनाया, वह मानव जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली रही। सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान स्व० पंडित रघुनन्दन शर्मा का कहना है—

> 'इस सभ्यता के अनुसार व्यवहार करने से लोक परलोक से सम्बंध रखने वाली जितनी इच्छायें हैं, सबकी पूर्ति हो जाती है।'

रामायण कालीन संस्कृति—

वैदिक काल के पश्चात् वैदिक संस्कृति का स्वरूप बदलता गया। वेदों के आधार पर मानव जीवन के लिए जो नियम निर्धारित किए गए थे, उनका पालन कठिन हो जाने से धार्मिक विचारों में शिथिलता आने लगी। इसका प्रभाव जहां सर्व साधारण पर पड़ा, वहां इसने विद्वानों को भी प्रभावित किया। महाभारत काल से पूर्व तक इस देश के आर्यों (जिन्हें अब हिन्दू कहते हैं) ने वेदों को ही अपना मार्ग दर्शक समझा और उनमें वर्णित आज्ञाओं का पालन किया। परन्तु महाभारत युद्ध के पश्चात् मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त हो गई और वे वेदानुसार आचरण न कर सके।

रामायण काल में धार्मिक प्रवृत्तियों को पूरा सम्मान मिलता रहा परन्तु वैदिक काल की सात्विक प्रवृत्तियों में कुछ परिवर्तन आने से राजसिक एवं तामसिक प्रवृत्तियों ने भी अपना स्थान बना लिया। उदाहरणस्वरूप जहां महाराज दशरथ एक न्यायप्रिय राजा थे, वहां उस काल में राक्षसी प्रवृत्तियों वाले राक्षसों की भी कमी न थी। ऋषि विश्वामित्र जब राक्षसों के उत्पात से व्याकुल हो गये तब उनको महाराज दशरथ के राजदरबार में उपस्थित होकर राम और लक्ष्मण को अपनी सहायता के लिये मांगना पड़ा। विश्वामित्र को विश्वास था कि राम में वह अपार शक्ति है कि जिसके सम्मुख राक्षस न ठहर सकेंगे। महाराज दशरथ ने राक्षसों से युद्ध करने के लिए राम और लक्ष्मण को देने में संकोच किया परन्तु ऋषि विश्वामित्र के यह

विश्वास दिलाने पर कि राम में अपार बल है, वे ही राक्षसों का विनाश करने में समर्थ हैं, उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को उनके सुपुर्द कर दिया।

राम और लक्ष्मण दोनों ने ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की और राक्षसों का विनाश करके देवताओं को सुखी किया।

रामायण में इस प्रकार की अन्य अनेक घटनाओं का भी वर्णन मिलता है। राम ने अपने वनवास काल में मारीच जैसे राक्षस का भी वध किया। इस तरह उस काल में जहां सात्विक प्रवृत्तियां अपना काम कर रहीं थीं, वहां तामसिक प्रवृत्तियों ने भी अपना प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। फिर भी इस देश में वैदिक संस्कृति को ही मान्यता प्राप्त थी। उसी के अनुकूल राजा और प्रजा दोनों अपने २ कर्तव्य का पालन करते थे।

रामायण कालीन संस्कृति में धर्म प्रधान स्थान रखता था। वेदपाठी ब्राह्मणों का समाज में उच्च स्थान था। देश की रक्षा करने वाले क्षत्रिय उनके पश्चात् समाज में अपना दूसरा स्थान रखते थे। धर्माचरण में रत वैश्य समाज के पोषक माने जाते थे और सेवा की वृत्ति रखने वाले शूद्रों का समाज में वही स्थान था जो वैदिक काल में था। इस तरह से वर्ण-व्यवस्था ने समाज को सुन्दर रूप देकर वैदिक संस्कृति को अक्षुण्य बनाये रखने में भारी मदद दी।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार उस काल में राजा और प्रजा दोनों का नैतिक स्तर बड़ा उन्नत था। अयोध्यापुरी के निवासियों के सम्बन्ध में एक स्थान पर आया है— "अयोध्यापुरी में निवास करने वाले सभी मनुष्य धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी, अपने धन से ही सन्तुष्ट रहने वाले, संयमी तथा शील और सदाचार की दृष्टि से महर्षियों की भांति विशुद्ध थे"। प्रतिज्ञा-पालन, सत्यवादिता, कृतज्ञता, इन्द्रिय निग्रह तथा दानशीलता में अयोध्यावासी अपना विशिष्ठ स्थान रखते थे।

वाल्मीकि ने अयोध्यावासियों के जिन गुणों का वर्णन किया है, वे सब गुण वैदिक काल के आर्यो में विद्यमान रहे। उन्होंने अपने इन गुणों के वल पर ही वैदिक संस्कृति को विश्व-व्यापी वनाया।

रामायण-काल में पारिवारिक व्यवस्था का स्वरूप वही रहा जो वैदिक काल में था। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का पूरक था और उसका कार्य बंटा हुआ था। स्त्री घर की स्वामिनी थी और पुरुष परिवार का पोषक। घर के अन्य व्यक्ति परिवार के प्रमुख का आदेश मानना और उसके अनुकूल आचरण करना अपना कर्तव्य समझते थे।

समाज में स्त्री का स्थान वही वना रहा जो वैदिक काल में था। उसे वेद पढ़ने का अधिकार था। अपनी रुचि के अनुकूल वह युद्ध-कौशल सीखने में भी स्वतंत्र

थी। उदाहरण रूप में हम दशरथ की पत्नि केकयी का नाम ले सकते हैं। उस समय की स्त्रियाँ राज्य-कार्यों, यज्ञों, अनुष्ठानों एवं सामूहिक मंगल कार्यों में पुरुष के समान भाग लेती थीं। उनका कार्य जहां घर का प्रवन्ध करना था वहां वे सामाजिक व्यवस्था को वनाये रखने में भी योग देती थीं।

साधु महात्माओं, विद्वानों एवं राजगुरुओं के आदर सत्कार का भार उन्हीं पर रहता था। राज दरबार में जहां राजा महाराजा इन सवको आदर देते थे, वहां राज्य-प्रासादों में रानी महारानियां उनका सम्मान करती थीं।

रामायण काल में वेदपाठी ब्राह्मण का बड़ा सम्मान होता था। शिक्षा की दृष्टि से भारत उस समय वहुत आगे बढ़ा हुआ था। महाराज दशरथ ने अपने चारों पुत्रों को गुरु वशिष्ठ के आश्रम में भेजकर शिक्षा दिलाई। रामचंद्र जी के विद्याध्ययन के सम्बंध में महाकवि तुलसी ने लिखा है—'गुरु गृह पढ़न गए रघुराई। अल्पकाल विद्या सव आई।' इसी प्रकार उनके अन्य तीन भाइयों ने भी अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार गुरु के आश्रम में विद्या प्राप्त की।

इस समय अशिक्षित रहना अधर्म समझा जाता था। इसका यह आशय नहीं कि रामायण काल में सभी पंडित वन जाते थे किन्तु आशय यह है कि अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विद्या प्राप्त करता था। यही कारण था कि राम के राज्य में अशिक्षित नहीं थे।

देश की आर्थिक स्थिति की सारी जिम्मेदारी वैश्य वर्ग पर थी। वैदिक काल में जिस प्रकार वैश्यों पर सारे समाज के पालन पोषण का भार था वैसा ही रामायण काल में भी वना रहा। पूरी ईमानदारी के साथ व्यापार चलाना और देश को आर्थिक दृष्टि से मजबूत वनाये रखना ये दोनों काम वैश्यों ने संभाले हुये थे। यही कारण था कि रामराज्य में कोई व्यक्ति भूखों नहीं मरता था। कहीं दुर्भिक्ष नहीं पड़ते थे और किसी व्यक्ति के सामने अन्न की कोई समस्या नहीं आती थी।

रामायण काल में राजा के प्रति प्रजा अपार प्रेम रखती थी। उसका यह प्रेम धार्मिक रूप धारण किये हुये था। प्रजा धार्मिक दृष्टि से राजा को अपना रक्षक एवं पोषक समझती थी और उसके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने को तैयार रहती थी। पौराणिक मतानुसार उस समय प्रजा के लिये राजा परमेश्वर के समान था। अन्य राजा महाराजाओं की वात तो छोड़ दीजिये परन्तु राम को उनकी प्रजा भगवान का अवतार मानती थी और उनकी उसी रूप में पूजा करती थी।

राज-धर्म का जो स्वरूप वेदों में वर्णित किया गया है, उसी के अनुसार राम ने अपना राज्य-शासन चलाने का यत्न किया। उस समय प्रजा की आवाज में वड़ा

वल था। राजा प्रजा की वात को बड़ा महत्व देता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार राजा तक पहुंचाने की सुविधा थी।

जहां तक रामायण काल के साहित्य एवं इतिहास का प्रश्न है, वाल्मीकि रामायण ही इन दोनों का आधार मानी जाती है। बाल्मीकि रामायण के अनुसार अयोध्या के राज्य के नर नारियों का चरित्र बल बहुत ऊंचा रहा और सारा राज्य धनधान्य से पूरित रहा।

पौराणिक संस्कृति—

महाभारत काल में भारतीय संस्कृति का रूप विल्कुल वदल गया। वेदों के अनुसार जिस धर्म को मानव ने अपनाया था, उसे शब्दों में तो उसने स्वीकार किया परन्तु उसके सही अर्थ को तिलाञ्जलि दे दी। पुराणों में विश्वास करने वाले यद्यपि उनको वेदों के अनुकूल मानते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं।

वेदों के सम्वन्ध में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो गईं। उनके सही अर्थ को बिगाड़ कर उसका दूसरा ही रूप दे दिया गया। जिन वेदों में कहीं मूर्ति पूजा का उल्लेख नहीं दिया गया था, उनके द्वारा मूर्ति पूजा सिद्ध की जाने लगी। देवी देवताओं के शुद्ध रूप को विकृत कर दिया गया और जिन सिद्धान्तों पर चलकर मनुष्य मोक्ष तक प्राप्त करने का यत्न करता था, उनको मिथ्या समझ लिया गया।

सायण, महीधर जैसे विद्वानों ने वेद-मंत्रों का उल्टा अर्थ करके वैदिक धर्म को भारी क्षति पहुंचाई। उन्होंने वेद में वर्णित उच्च विचारों को न समझकर उनका ऐसा अर्थ कर डाला जो वेदों के प्रति घृणा और अश्रद्धा की भावना उत्पन्न करता था।

पुराणों में विश्वास रखने वालों का कहना है कि 'वेदों में समस्त ज्ञान सूत्र रूप से है और परोक्ष पद्धति से वर्णित है। पुराणों में उसी ज्ञान को स्पष्ट एवं विस्तृत किया गया है'।

पुराणों के मानने वालों का कहना है "वेदों में इतिहास है, भूगोल है, ज्योतिष है, मनुष्य समाज का वर्णन है, मनुष्य एवं पशु जातियां हैं। जो कुछ विश्व में होगया, हो रहा है या होने वाला है, वह वेदों में है"।

इस तरह पुराणों को वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद् एवं अन्य धर्म शास्त्रों से भी अधिक महत्वपूर्ण मान लिया गया। पौराणिकों का कथन है कि पुराणों में समस्त धर्म शास्त्रों का सार आ गया है। वे पुराणों के पाठ करने, उसमें वर्णित कथाओं को सुनने को मोक्ष का मार्ग तक मानते हैं। उनके अनुसार किसी एक पुराण का पाठ कर लेने से ही मानव को उसके अभीष्ठ की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उनका कहना है कि कलि-काल में पुराणों का आश्रय लेने से मनुष्य मुक्ति के द्वार पर पहुंच जाता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार निम्न अठारह पुराण हैं

	नाम	श्लोक संख्या
१	ब्रह्म पुराण	दस हजार
२	पद्म पुराण	पचपन हजार
३	विष्णु पुराण	तेईस हजार
४	शिव पुराण	चौबीस हजार
५	श्रीमद्भागवत	अठारह हजार
६	नारदीय पुराण	पच्चीस हजार
७	मार्कण्डेय पुराण	नौ हजार
८	अग्नि पुराण	पंदरह हजार चार सौ
९	भविष्य पुराण	चौदह हजार पांच सौ
१०	ब्रह्मवैवर्त पुराण	अठारह हजार
११	लिङ्ग पुराण	ग्यारह हजार
१२	वाराह पुराण	चौबीस हजार
१३	स्कन्द पुराण	इक्यासी हजार एक सौ
१४	वामन पुराण	दस हजार
१५	कूर्म पुराण	सत्रह हजार
१६	मत्स्य पुराण	चौबीस हजार
१७	गरुड़ पुराण	उन्तीस हजार
१८	ब्रह्माण्ड पुराण	बारह हजार

इस प्रकार इन अठारह पुराणों में चार लाख दस हजार श्लोक हैं। पुराणों विश्वास रखने वाले वेदों में अवतारवाद मानते हैं। उनके विचारानुकूल वेदों में तिहास एवं भूगोल का भी वर्णन है। वे वेदों में अनेक देवी देवताओं की कथाओं ा वर्णन भी मानते हैं।

परन्तु वैदिक धर्मावलम्वी आर्यों ने इन सब बातों को नहीं माना है। उनके चारानुसार वेदों में न तो इतिहास है और न भूगोल। उनके अनुसार वेद केवल वर की उपासना की आज्ञा देते हैं जबकि पुराणों में विश्वास रखने वालों का हना है कि वेदों में अनेक देवताओं का वर्णन है। आर्य समाज के प्रवर्त्तक, उन्नीसवीं ी के धर्म प्रचारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पुराणों को वेदानुकूल नहीं माना। ी प्रकार अन्य आर्य विद्वानों ने भी उनको वेद-विरुद्ध माना है।

ऐसा समझा जाता है कि पौराणिक काल में वेदों का पठन पाठन छूट गया था र उनका सही अर्थ समझना कठिन होगया था। ब्राह्मणों में वह तेज नहीं रहा था

जो वेदार्थ करने के लिये आवश्यक था। ऐसी दशा में वेदोक्त धर्म को छोड़कर भारत-वासी पुराणों में वर्णित बातों को ही धर्म समझ बैठे।

इस युग में हिन्दू धर्म को सबसे बड़ा आघात यह लगा कि वेदों में वर्णित यज्ञों का स्वरूप बदल दिया गया। वैदिक काल में यज्ञों में जहाँ सुगंधित सामग्री का प्रयोग होता था, वहां पशु बलि दी जाने का भी प्रचलन होगया। यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं की बलि देकर इस देश के रहने वालों ने हिंसा को बहुत प्रोत्साहन दिया।

यज्ञों के नाम पर ब्राह्मणों में भी मतभेद उत्पन्न हो गया। जो ब्राह्मण समस्त समाज के पथ-दर्शक माने जाते थे, वे अपने आपको उस पद पर स्थिर न रख सके। इसका मुख्य कारण यह था कि वेदों के वास्तविक तथ्यों का विवेचन करने की उनमें शक्ति नहीं रही। दूसरे अज्ञानवश वे अपने आपको सर्वोच्च वर्ण का मानकर प्रमाद में लिप्त होगये और उन्होंने वेदों का पठन पाठन एवं उनका अनुशीलन करना भी छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो जिसके मन को प्रिय लगा, वही उसने अपना धर्म बना लिया।

इस काल में ब्राह्मणों ने अपने आपको उच्च बनाये रखने में धर्म का सहारा लिया। उन्होंने धर्म के नाम पर लोगों को बताया कि वे ब्राह्मण का अपमान करने पर नरक के भागी बन सकते हैं। ब्राह्मणों के लिए कहा गया –

ब्राह्मणों हि परं तेजो ब्राह्मणों हि परं तपः।
ब्राह्मणान् हि नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते॥

ब्राह्मण स्वयं तेजोरूप हैं, ब्राह्मण स्वयं परम तपः स्वरूप हैं। ब्राह्मणों को नमस्कार करने के प्रभाव से ही सूर्यदेव आकाश में स्थित हैं।

ब्राह्मण को परम देवता बताया गया। वैदिक काल में जो प्रतिष्ठा ब्राह्मणों ने अपने गुण और कर्मो से प्राप्त की थी, उसे स्थिर रखने का उन ब्राह्मणों ने पूरा प्रयास किया जो गुण और कर्म विहीन हो गए थे।

उन्होंने भगवान व्यास के नाम पर समाज को प्रेरणा की कि वे उस ब्राह्मण का भी मान करें जो वेद न भी पढ़ा हो। महात्मा व्यास के निम्न श्लोक का उन्होंने पूरा लाभ उठाया —

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः॥

इसका आशय यह है कि ब्राह्मण वेद पढ़े हों या न पढ़े हों, संस्कार सम्पन्न हों या उनका कोई संस्कार न हुआ हो — किसी भी दशा में उनका अपमान न करना चाहिए क्योंकि वे भस्म से आच्छन्न अग्नि की भांति हैं।

इस मनोवृत्ति का सारे समाज पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार के ब्राह्मणों ने अज्ञानी होते हुए भी समाज में सर्वोत्तम पद बनाए रखने की चेष्ठा की। इसमें संदेह नहीं कि समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग उनके प्रति श्रद्धा प्रगट करता रहा परन्तु समाज में एक वर्ग ऐसा भी उत्पन्न हो गया जिसने धर्म-हीन और कर्म-हीन ब्राह्मणों का साथ न देकर उनका घोर विरोध किया।

ब्राह्मणों ने अपनी रक्षा के लिए अज्ञानी समाज को विशेष रूपसे अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने उस समाज पर इस विचार की छाप लगा दी कि ब्राह्मण तेज बल और क्रोध से विरोधी को भस्मसात कर सकता है। परिणाम यह हुआ कि ज्ञान विहीन ब्राह्मण ने भी समाज को अपने वश में कर लिया।

इस तरह भारत के ज्ञान और विज्ञान दोनों को भारी क्षति पहुंची। समाज का गम्भीर चिन्तन रुक गया और समाज पर एक ऐसा वर्ग छा गया जो केवल जाति के नाम पर उच्च पद प्राप्त किए हुए था। इस ब्राह्मण वर्ण ने समाज के शेष तीनों वर्णों को भी प्रभावित किया। क्षत्रियों में राष्ट्र की रक्षा करने का बल न रहा। उनमें भोग विलास की भावना आ गई और इस बात को भुला बैठे कि सारे समाज की रक्षा का उन पर भार है।

इसी प्रकार वैश्यों ने भी अपने समाज के पालन पोषण के उत्तरदायित्व को तिलाञ्जलि दे दी और वे समझ बैठे कि धन सञ्चय करके, उसका अपने लिए उपभोग करना ही सब कुछ है। वैदिक काल में वैश्यों पर ही पूरे ब्राह्मण समाज का भार था। ऐसे ही श्रम करने वाले शूद्रों ने भी अपनी ओर से वैश्यों को उदासीन देख-कर समाज की सेवा को भार समझ लिया।

इस प्रकार पौराणिक काल में चारों वर्णों की वैदिक व्यवस्था छिन्न भिन्न सी होगई। चारों वर्ण बने रहे परन्तु उनका स्वरूप बदल गया। ब्राह्मणों में अनेक भेद आ गये। क्षत्रियों ने भी अपना दृष्टिकोण बदल लिया। उनमें यहां तक परिवर्तन आया कि कुछ ने उन कामों को अपना लिया जो वैश्यों से सम्बन्ध रखते थे। शूद्रों पर भी इन तीनों वर्णों के छिन्न भिन्न होने का प्रभाव पड़ा और उनमें भी छोटे बड़े का भेद आ गया। इस तरह समाज की सारी वर्ण व्यवस्था का रूप ही परिवर्तित हो गया।

पौराणिक काल में चार आश्रमों पर भी प्रभाव पड़ा। महाभारत काल के पश्चात् आश्रमों की व्यवस्था स्थिर न रह सकी। जिसका मन चाहा उसने संन्यास लिया। वानप्रस्थी बनने का नियम एक प्रकार से भंग होगया। ऐसे ही गृहस्थ आश्रम का स्वरूप भी बदल गया।

इस काल में स्त्रियों के प्रति वह सम्मान भी न रहा जो वैदिक काल में था। स्त्रियों को प्रत्येक दृष्टि से पुरुष के आधीन मान लिया गया। उसका व्यापक क्षेत्र

बहुत सीमित हो गया। इतना ही नहीं किन्तु शिक्षा की दिशा में भी वह पिछड़ गई और उसे वेद पढ़ने से भी वंचित कर दिया गया।

पौराणिक काल में यद्यपि समाज ने नया रूप धारण कर लिया परन्तु फिर भी भारत की धार्मिक भावना, भारत की आध्यात्मिकता और भारत का प्राचीन ज्ञान किसी न किसी रूप में समाज को सहारा देते रहे।

पुराणों के सम्बन्ध में यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि वे सब किसी एक समय में नहीं रचे गये। कुछ का मत है कि ये केवल एक सहस्र वर्ष पुराने हैं परन्तु पुराणों का जो उल्लेख अन्य ग्रंथों में मिलता है, उससे प्रगट होता है कि इनकी रचना डेढ़ दो हजार वर्ष पहले हुई। पुराणों का वर्तमान रूप भी बढ़ता रहा है। समय २ पर इनमें वृद्धि होती रही है। कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणों की रचना ईसा से पहले हुई और उनमें ईसा के पश्चात् भी वृद्धि होती रही। इस तरह पंडितों ने अपनी इच्छानुसार पुराणों में अनेक बातें सम्मिलित करने का भरसक यत्न किया। इन्होंने केवल श्लोक रचना ही नहीं की किन्तु सारे समाज पर पुराणों में वर्णित बातों को लादने का भी यत्न किया।

पंडितों ने पुराणों की कथा को विशेष महत्व दिया। इन्होंने इसके लिए स्त्री वर्ग को विशेषरूप से प्रभावित किया। इन्होंने इसके लिए दो साधन अपनाए। पहले साधन के अनुसार इन्होंने ऐसे ब्राह्मण तैयार किए जो घर २ जाकर कथा सुनाने को प्रोत्साहन दें। इन्होंने स्त्रियों को व्रत एवं अनुष्ठानों की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया। स्त्रियों में अनेक प्रकार के व्रतों का प्रचलन हो जाने से इनको कथा बांचने का अच्छा अवसर मिला। अपनी कथा के बल पर इन्होंने स्त्रियों को अपना भक्त बना लिया। स्त्रियों में कथा वाचक ब्राह्मण के प्रति अपार श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हुई और इस तरह इन्होंने पुराणों की अनेक कथाओं का घर २ में प्रचार किया।

इनका दूसरा साधन सामूहिक कथा कहने का था। तीर्थ स्थानों और अन्य सामाजिक समारोहों पर पंडितों को कथा बांचने का पूरा अवसर मिला। पंडितों ने जन-मानस को पुराणों की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया।

इस प्रकार की कथाओं का प्रचलन आज तक चला आ रहा है। सत्यनारायण की कथा ने विशेष रूप से जनता को अपनी ओर आकर्षित किया। मैं यहां इस विवाद में नहीं जा रहा कि इन कथाओं में क्या सार था। मैं केवल यहां इतना संकेत कर देना पर्याप्त समझता हूं कि इस प्रकार की कथाओं ने धार्मिक भावनाओं को जीवित रक्खा। इन कथाओं का महिलाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा और यही कारण है कि वे अपने नैतिक बल पर इस देश की संस्कृति को संसार की दृष्टि में श्रेष्ठ बनाए हुए हैं।

पुराणों के सम्बन्ध में हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि इनमें आर्यों का इतिहास अंकित है। पुराणों की ऐतिहासिक सामग्री का आज बड़ा महत्व है। इनके द्वारा इतिहासकार आर्यो की वंशावलियों का पता लगाते हैं और इस देश में समय २ पर हुए परिवर्तनों का भी वे अध्ययन करते हैं। 'पुराण अब भारत के परम्परागत इतिहासवृत्त के एक बहुत बड़े प्रमाण माने जाने लगे हैं।'

भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्राचीन इतिहास का पता लगाने में भी पुराण बड़े सहायक हैं क्योंकि इनमें धर्म, समाज शास्त्र, दार्शनिक ज्ञान, अर्थ शास्त्र, राज धर्म, शिल्प शास्त्र एवं भारत की अन्य अनेक कलाओं का समावेश है।

इस समय इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि पुराणों का परिमार्जित रूप विद्वानों के सम्मुख आए। उनमें वर्णित कथाओं में भी सामञ्जस्य होना चाहिए। विद्वानों को इस बात को भी खोज करनी चाहिए कि किस पुराण में कितना अंश बाद में सम्मिलित किया गया है। उनमें वर्णित प्रत्येक बात युक्तियुक्त होनी चाहिए और वह ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर सही उतरने वाली होनी चाहिए।

जैन संस्कृति—

भगवान महावीर स्वामी जैन धर्म के आचार्य माने जाते हैं। भारत में जैन धर्म ने अपना विशिष्ठ स्थान प्राप्त किया। इसका मुख्य कारण यह था कि भगवान महावीर ने मानव की हिंसात्मक वृत्तियों को अहिंसा की ओर मोड़ा। यज्ञों में प्राणियों के वध से उनकी आत्मा पीड़ित हो उठी थी और यज्ञों में पशुओं की बलि से उनका हृदय कांप उठा था। उन्होंने जब देखा कि समाज में दया, प्रेम और मानवता की भावना को कोई स्थान नहीं, तब उन्होंने मानव की हिंसात्मक वृत्तियों को रोकने की पूरी चेष्टा की और वे इसमें सफल भी हुए।

जैन धर्म के सम्बन्ध में हम यहां जैन समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री कामता प्रसाद जैन के विचारों को उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं। उन्होंने अपने लेख में जैन धर्म की प्राचीनता का विवेचन किया है। उन विचारों के ऐतिहासिक महत्व को वे व्यक्ति भली प्रकार परख सकेंगे जिनका भारत के प्राचीन इतिहास से विशेष सम्बंध रहा है। श्री कामताप्रसाद जैन का यह कहना "भारतीय सभ्यता का आदि काल ही जैन धर्म की स्थापना का समय है" वेदों की रचना के सर्वथा विपरीत प्रतीत होता है। फिर भी हमें उनके विचारों को समक्ष रखकर जैन धर्म के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। श्री कामता प्रसाद जैन लिखते हैं—

'जैन धर्म का आरम्भ भगवान महावीर से अथवा भगवान पार्श्वनाथ से न मान कर उससे बहुत पहले मानना उचित है। जैनों की मान्यता के अनुसार भारतीय

सभ्यता का आदि काल ही जैन धर्म की स्थापना का समय है। तीर्थङ्कर ऋषभ अथवा वृषभदेव ने ही मनुष्यों को दैनिक जीवन का रहन-सहन सिखाया था, यह भी जैनी कहते हैं। हिन्दुओं के भागवत पुराण में इन्हीं ऋषभ को आठवां अवतार बताया गया है।

'असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, शिल्प का ज्ञान लोगों को इन्हीं ऋषभदेव ने कराया था। ग़र्ज यह कि जैनी भारतीय सभ्यता की स्थापना का सेहरा अपने पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव के मत्थे बांधते हैं। उनके इस कथन में तथ्य प्रतीत होता है। यदि ऋषभदेव ने भारतीय सभ्यता की स्थापना में महत्वशाली कार्य न किया होता तो यह सम्भव न था कि हिन्दू पुराण उनकी गिनती अपने अवतारों में करते।

'शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से यदि इस प्रश्न पर हम विचार करें तो भी यह मानना पड़ता है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदि काल से ही जैनियों का हाथ था। मोहनजोदारो की मुद्राओं में जैनत्व के बोधक चिन्हों का मिलना तथा वहां की मूर्तियों की योग मुद्रा ठीक जिन मूर्तियों सदृश होना, इस बात का प्रमाण है कि तब ज्ञान और ललित कला में जैनी किसी से पीछे नहीं थे। जैनियों में बड़े बड़े व्यापारी और राजवेत्ता भी होते आये हैं—इस अनुमान पर यह कहा जा सकता है कि तब जो विदेशों से व्यापार प्रचलित था, उसमे जैनियों का हाथ अवश्य होगा।

ई० पूर्व ७ वीं से ५ वीं शताब्दि तक की इतिवार्ता से यह स्पष्ट है कि तब जैनी बड़े २ व्यापारी थे और वह अपने धन से देश को समृद्धिशाली और उन्नत बनाते थे। इस प्रकार भारतीय सभ्यता का जो प्राचीन रूप मिलता है उसमें जैनों का हाथ भी स्पष्ट दीखता है।

'जैनियों ने भारतीय सभ्यता के विविध क्षेत्रों में क्या क्या किया? पहले ही ज्ञान कला को लीजिये। पार्थिव विज्ञान में आज जिस पुद्गल (Matter) के आविष्कार से तरह-तरह के करिश्मे दिखाई पड़ रहे हैं, जैनाचार्यों ने उसका सूक्ष्म विश्लेषण बहुत पहले ही किया था। उन्होंने जीव और अजीव तत्व के आधार से इस जगत के विकास पर प्रकाश डाला था और उसमें अजीव को (१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) आकाश और (५) कालवत् माना था। पुद्गल पदार्थ ठीक वही पदार्थ है जिसे डाल्टन साहब ने 'मैटर' बताया है। उसका सूक्ष्म अविभागी अंश 'अणु' कहलाता है। इस अणुवाद पर जैनों का कथन ही भारतीय साहित्य में प्राचीनतम है।

प्रो० जैकोबी कहते हैं—

'उपनिषदों में अणुवाद का पता नहीं चलता। सांख्य और योग दर्शन में भी वह दिखाई नहीं पड़ता। हां वैशेषिक और न्याय दर्शनों में वह अवश्य मिलता है। जैनों और आजविकों ने भी अणुवाद को अपनाया था। जैनों को प्रमुख स्थान देना

भेंट के लिए लाती थीं। उन्होंने बताया कि कश्मीर में संस्कृत का बड़ा प्रचार रहा है वहां से संस्कृत ग्रंथ, एक प्रिय भेंट समझ कर, बदरीनाथ मंदिर में भेंट करने के लिए लाये जाने सम्भव हैं।

इस बात का एक दूसरा पक्ष भी हो सकता है कि भारत के विद्वान महात्मा अपने पठनपाठन के लिए यहां इस प्रकार की सामग्री लाए हों और लौटते समय वे मंदिर में रहने वाले विद्वानों के पास छोड़ गए हों।

फिर भी इस सब सामग्री से यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि धार्मिक वृत्ति वाले यात्री बदरीनाथ की यात्रा करते समय हस्तलिखित ग्रंथ भी अपने साथ ले जाते रहे।

इस प्रकार की सामग्री को सुरक्षित करना बड़ा ही आवश्यक था परन्तु इस ओर प्रबन्धकों ने कोई ध्यान ही न दिया। परिणाम यह हुआ कि बहुत सी प्राचीन मूल्यवान सामग्री अब मिल नहीं पा रही।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि कश्मीर राज्य की ओर से बदरीनाथ यात्रियों की सहायतार्थ समुचित भेंट भेजी जाती थी इसका उल्लेख मि० एच० जी० वाल्टन ने गढ़वाल गजेटियर में किया है।

बदरीनाथ मंदिर के प्रति तिब्बत निवासी बड़ा आदर भाव प्रगट करते रहे हैं। वहां की एक प्रथा के अनुसार तिब्बत के थोलिङ्गमठ के लामा गुरु बदरीनाथ के पट खुलते समय भगवान बद्रीश के लिये ऊनी वस्त्र, दो चंवर, मेवा एवं कुछ अन्य वस्तुयें भेंट स्वरूप भेजते थे जिसके बदले में रावल मंदिर का प्रसाद वहां भेजते थे।

तिब्बत से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर पुरानी प्रथा के अनुसार अब यह ऊनी वस्त्र माना गांव से आता है। कहा जाता है कि वहां की कोई भी कुवांरी लड़की स्वयं ऊन कातकर इस वस्त्र को एक ही दिन में बुनकर तैयार करती है। माना गांव-वासी पट खुलने वाले दिन बड़ी धूमधाम के साथ यह भेंट मंदिर में लाते हैं।

माना घाटी के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि यह घाटी भारत और तिब्बत व्यापार के लिए एक प्रमुख घाटी रही। तिब्बती यहां से अपने घोड़ों, खच्चरों और भेड़ों की पीठ पर बहुत सा सामान लादकर तिब्बत ले जाते थे।

बदरीनाथ से लगभग दो मील दूरी पर माता मूर्ति का एक छोटा सा मंदिर है। माता मूर्ति नर और नारायण की माता थीं। उनकी स्मृति में यहां के एक बड़े मैदान में एक मेला लगता है जो माता मूर्ति-मेले के नाम से विख्यात है।

माता मूर्ति से आधा मील आगे अलकनन्दा का पुल पार करने पर माना ग्राम आता है। भारत-तिब्बत सीमा पर यह हमारा अंतिम सीमावर्ती ग्राम है। यहां मारछा जाति के लोग रहते हैं। किसी समय इनका तिब्बत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा।

माता मूर्ति के मेले का एक दृश्य

माना गांव के भोटियों के सम्बन्ध में ब्रिटिश गढ़वाल गजेटियर में भी कुछ उल्लेख मिलता है। यह गजेटियर १९१० में प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन मि० एच० जी० वाल्टन आई० सी० एस० ने किया है। उनका कहना है—"गढ़वाल के भोटिया दो वर्गों में बांटे जाते हैं। माना घाटी वाले मारछा और नीति घाटी वाले टोलचा कहलाते हैं। टोलचा अपने को मारछाओं से ऊंचा मानते है। और उनके साथ किसी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करते।"*

* गढ़वाल गजेटियर पृष्ठ ६३

माना मे आगे सरस्वती नदी है जो अलकनन्दा में मिलती है। सरस्वती के साथ, पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा का घनिष्ट सम्बन्ध बताया जाता है। कहा जाता है जब द्रोपदी सरस्वती पार न कर सकीं तब भीम ने एक शिला इस पर रखकर पुल बनाकर उनको नदी पार कराया था। यह शिला भीमशिला नाम से विख्यात है और पुल को 'भीम पुल' कहते हैं। भीम शिला के निकट ही दो गुफायें हैं। इनमें से एक का नाम 'गणेश गुफा' और दूसरी का 'व्यास गुफा' है। कहा जाता है कि यहीं भगवान व्यास ने गणेश जी की सहायता से पुराणों की रचना की थी। सरस्वती और अलकनन्दा के संगम को केशव प्रयाग कहते हैं।

इस स्थान से आगे १२५०० फुट की ऊंचाई पर पहुंचने पर बसुधारा का दर्शन होता है। लगभग ४०० फुट की ऊंचाई से यह धारा नीचे गिरती है। यहां का दृश्य बड़ा ही मनमोहक है।

सतोपंथ बदरीनाथ से १६ मील दूरी पर एक रमणीक ताल है। सतोपंथ जाने का मार्ग लक्ष्मीपुरी के पास से होकर जाता है। सतोपंथ की ऊंचाई १४००० फुट है। इस ताल के तीन घाटों के नाम ब्रह्मघाट, विष्णुघाट और महेश्वर घाट हैं। भोटिया लोग सतोपंथ ताल में अस्थि विसर्जन करते हैं।

सतोपंथ के तीन शिखर हैं जिनमें से एक की ऊंचाई २३२०० फुट है। सतोपंथ का सम्बन्ध अलकापुरी के साथ माना जाता है। पुराणों के अनुसार अलकापुरी कुवेर का निवास स्थान माना जाता है। महाकवि कालीदास ने अपने 'मेघदूत' काव्य ग्रंथ में अलकापुरी का बड़ा ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। मेघदूत में वर्णित निर्वासित यक्ष की विरहिणी-प्रिया अलकापुरी की ही रहने वाली थी।

हमने अब तक यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ चारों धामों एवं उनसे सम्बन्ध रखने वाले तीर्थों का कुछ विवरण देते हुये यह प्रगट किया है कि इनके साथ हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति का गहरा सम्बन्ध रहा है। हिमालय के साथ कुछ अन्य स्थानों का भी सम्बन्ध जुड़ा है।

बदरीनाथ यात्रा के प्रसंग में हम यहां इतना और कहना चाहते हैं कि बदरीनाथ में आने वालों में शिवाजी के गुरू समर्थ गुरु रामदास के पधारने का उल्लेख मिलता है। 'समर्थ गुरु रामदास' की भारत यात्रा के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विद्वान बाबू रामचन्द्र वर्मा 'दास बोध' ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं—

"बारह वर्ष तपस्या कर चुकने के उपरान्त समर्थ ने सोचा कि अब देशाटन और तीर्थ यात्रा करनी चाहिए। इसमें धार्मिक दृष्टि से पुण्य भी होगा और लौकिक दृष्टि से भिन्न २ देशों और उनके निवासियों की दशा जानने का भी अवसर मिलेगा। इसके अनुसार वे काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन,

द्वारका आदि होते हुए श्रीनगर (काश्मीर) गये। वहां से वे बदरीनाथ, केदारनाथ तथा मानसरोवर गए। यहां से अनेक विकट तथा मनोहर प्राकृतिक स्थानों को देखकर वे जगन्नाथ जी गये और वहां से रामेश्वर होते हुये लंका पहुंचे और लौटते समय दक्षिण के अनेक तीर्थो में होते हुए गोकर्ण, महाबलेश्वर, पम्पा परशुराम क्षेत्र और पण्डरपुर आदि होते हुये फिर पञ्चवटी में अपने स्थान पर आ पहुंचे।

'श्री समर्थ जहाँ जाते थे वहां वे प्राय: भगवान रामचन्द्र या हनुमान जी का कोई मंदिर और मठ स्थापित करते थे और उसकी व्यवस्था का भार किसी योग्य पुरुष को सौंप देते थे। इस तरह उन्होंने सारे भारत में सात सौ मठ-मंदिर आदि बनवाये थे। साथ ही वे प्रत्येक स्थान के साधु महात्माओं से भी मिलते थे, उनके सत्संग से स्वयं लाभ उठाते थे और अपने सत्संग से उन्हें लाभ पहुंचाते थे। पञ्चवटी में लौट आने पर उन्होंने वहां के रामचन्द्र जी के मंदिर में भगवान के दर्शन करके अपनी बारह वर्षो की तीर्थ यात्रा का फल भगवान के चरणों में अर्पित कर दिया।

'बारह वर्षो की इस तीर्थ यात्रा में श्री समर्थ को अपने देश तथा धर्म की तत्कालीन दुरावस्था का बहुत अच्छा ज्ञान हो गया था। उन्होंने देश देशान्तर में भ्रमण करके अच्छी तरह समझ लिया था कि हिन्दू धर्म तथा हिन्दू जाति की दिन पर दिन बहुत अधिक अवनति होती जा रही है। अत: उन्होंने सोचा कि इस अवसर पर लोगों को निवृत्ति मार्ग से हटाकर प्रवृत्ति मार्ग की ओर ले जाने की आवश्यकता है। देश तथा धर्म की उन्नति तभी हो सकती है जब लोग अपने स्वार्थ का ध्यान छोड़कर अपने देश तथा धर्म के उद्धार और रक्षा के लिए कर्मवीरों की भांति कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट हों। अत: उन्होंने यही निश्चय किया कि लोगों को ऐसे भक्ति मार्ग की ओर ले जाना चाहिए जो उन्हें कर्म मार्ग पर आरूढ़ कर सके।"

समर्थ गुरु रामदास ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के निमित्त कर्म मार्ग को अपनाकर राष्ट्र को सबल बनाने का भरसक यत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि शिवाजी जैसे वीर ने शक्ति संग्रहीत करके हिन्दू धर्म की रक्षा की।

देहरादून गढ़वाल का अंग था—

हिमालय की घाटी में बसा देहरादून सम्पूर्ण गढ़वाल का एक प्रमुख भाग रहा। चौदहवीं शताब्दी तक यह कत्यूरी राजाओं के अधिकार में रहा। कत्यूरी राज-वंश वीरदेव राजा के समय तक चलता रहा। इसके उपरान्त सन् १३५८ से १३७० तक अजयपाल नाम के राजा ने गढ़वाल पर शासन किया। १३४८ ई० में देहरादून पर तैमूर ने आक्रमण किया था। सन् १३७० के पश्चात सोनपाल गढ़वाल के राजा

हुये। इन्होंने भिलंगना घाटी में गढ़वाल की राजधानी बनाई। इनके बाद बलभद्रपाल का नाम आता है। पाल से ये बलभद्रशाह हुये। मि० एच० जी० वाल्टन ने इनके नाम परिवर्तन के सम्बन्ध में लिखा है 'बहादुर खां लोदी का कासिद गढ़वाल यात्रा पर आया। वह बलभद्रपाल से मिला। उसने बलभद्रपाल का नाम बलभद्रशाह कर दिया। उसने उसका दूसरा नाम बहादुरशाह भी किया।' इसका परिणाम यह हुआ कि गढ़वाल राज्य के शासक इसके बाद से अपने नाम के अन्त में शाह लगाने लगे।

गजेटियर में औरंगजेब के सेनापति खलीलुल्ला खां के देहरादून आने का उल्लेख इस प्रकार किया गया है। "वह सन् १६५४–५५ में ८००० सैनिकों को साथ लेकर देहरादून आया। उसने गढ़वाल के शासक पृथ्वीशाह पर आक्रमण किया। पृथ्वीशाह के पास सुलेमान शिकोह आया हुआ था। खलीलुल्ला खां ने औरंगजेब का पैगाम सुनाकर सुलेमान शिकोह को मांगा। पृथ्वीशाह ने सुलेमान शिकोह को वापिस दे दिया।" *

मि० वाल्टन ने गजेटियर में मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता के कई उद्धरण दिये हैं। उनके अनुसार गढ़वाल क्षेत्र सम्पत्ति का भंडार था। फरिश्ता लिखता है— "मुसलमान बादशाह समझते थे कि दौलत पर्वत के राजाओं के पास है।" फरिश्ता ने पर्वत के राजाओं के पास प्रचुर मात्रा में सोना और चांदी होने का उल्लेख किया है।

बाद में अंग्रेज शासकों ने भी यही समझा कि गढ़वाल में रहने वालों पर अपार धनराशि है। वे देहरादून को सुसमृद्धशाली नगर समझते थे।

औरंगजेब के शासन के पश्चात् सन् १७७६ में रुहेला सूबेदार नजीबुद्दौला ने आक्रमण किया। गढ़वाल के महाराज प्रदीपशाह की सेना उसका मुकाबला न कर सकी।

रुहेलों के आक्रमण के सम्बन्ध में कविरत्न पण्डित मायादत्त शास्त्री संचालक बदरीश विद्यापीठ लिखते हैं—

> "सन् १७८० में महाराजा प्रदीपशाह का देहान्त हो गया। इसके बाद कुमायूं के राजा और सहारनपुर के रुहेलों के साथ गढ़वाल का बारम्बार युद्ध लगा ही रहा। इसी बीच नैपाल की रानी राजेन्द्रलक्ष्मी ने सन् १७९० ईसवी में कुमायूं की राजधानी अलमोड़ा को जीतकर सन् १७९१ ई० में गढ़वाल के सुप्रसिद्ध दुर्ग लंगूरगढ़ पर आक्रमण करके उसे ले लिया। गोरखों के दूसरे आक्रमण का भय समझकर तत्कालीन राजा जयकृतशाह ने २५००० रु० सालाना कर गोरखों को देना स्वीकार करके उनसे सन् १७९२ में सन्धि कर ली।

---

* गढ़वाल गजेटियर पृष्ठ ११३, ११४, ११७ से

सन् १८०३ ईसवी संवत् १८६० विक्रमी में भयङ्कर भूकम्प के द्वारा गढ़वाल का भाग्य-सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हो गया। गढ़वाल की देव-दुर्लभ भव्य भूमि उलट-पुलट होकर नष्टभ्रष्ट हो गई; सभी मठ-मन्दिर मकान अस्त ध्वस्त होकर धराशायी हो गये, कुछ तो धरातल में ही घुस गये।"

आगे वे लिखते हैं—

'इतने पर भी विधाता की कोपाग्नि शान्त नहीं हुई। पूर्वोक्त भूकम्प के वर्ष ही, सन् १८०३ के फरवरी मास में अमरसिंह थापा और हस्तिदल चौतरिया की अध्यक्षता में नैपाल राज्य की सेना गढ़वाल पर चढ़ आई। कुमाऊं पर उनका पहले ही अधिकार हो चुका था, गढ़वाल देश भूकम्प और अकाल से नष्ट हो ही चुका था, राजा के मन्त्रि-मण्डल में भी फूट और स्वार्थ-परायणता का बोलबाला था। धूर्त कर्मचारी चापलूसी से राजा की आंखों में पट्टी बांधे रखते थे। तथापि उपस्थित शत्रु का राजा ने बड़ी वीरता के साथ सामना किया। महाराजा पराक्रमशाह में पराक्रम की किसी प्रकार कमी न थी, किन्तु शत्रुओं की बहुसंख्यक सेना के साथ वे कब तक लड़ते? फलतः राजधानी श्रीनगर शत्रुओं के हस्तगत हो गई। राज-परिवार बड़ी कुशलता से श्रीनगर राजधानी से निकलकर अलकनन्दा के पार बनगढ़ में चला गया।

'गोरखों के साथ अंग्रेज सरकार ने १ नवम्बर सन् १८१४ ई० को युद्ध की घोषणा की थी तथा उनको जीतकर सन् १८१५ ई० में मि० फ्रेजर साहब के द्वारा पूर्वी गढ़वाल की जनता को ब्रिटिश सरकार के अधीन रहने की घोषणा की गई। इसी सन् १८१५ ई० में महाराजा सुदर्शनशाह का अलकनन्दा मन्दाकिनी के पश्चिमी भाग में राज्य निर्धारित हुआ। महाराजा प्रद्युम्नशाह के पुत्र राजा सुदर्शनशाह, ज्वालापुर हरिद्वार में रहते थे। इन्होंने गोरखाओं पर प्रत्याक्रमण करने के लिये अंग्रेजों से सहायता मांगी जिसमें इन्हें पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। सन् १८१५ के बाद गढ़वाल राज्य की राजधानी टिहरी बनी और पूर्वी गढ़वाल में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की विजय-पताका फहराने लगी।"*

देहरादून गुरु रामराय की गद्दी के लिए विख्यात हुआ। गुरु रामराय सिक्खों के सातवें सिक्ख गुरु हरराय के पुत्र थे। उनकी स्मृति में यहां गुरुद्वारा निर्मित किया गया। यहां प्रति वर्ष झंडे का मेला लगता है। उस अवसर पर दूर दूर से हजारों सिख यात्री आकर गुरु रामराय के प्रति मस्तक नवाते है। इस गद्दी के वर्तमान महन्त श्री इन्द्रेशचरण दास. शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। वे स्वयं कई भाषाओं के विद्वान हैं।

---

* ज्योतिष्पीठ का परिचय पृष्ठ १९, २०, २१

विलियम फ्रेजर ने गुरु रामराय की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि उनके कार्य बड़े चमत्कारपूर्ण थे। उन्होंने औरंगजेब को अपने अद्भुत चमत्कार दिखाकर प्रभावित किया था। गढ़वाल के महाराजा फतहशाह ने उनको जागीर में अनेक गांव प्रदान कर दिये थे।

देहरादून से लगभग सात मील पर 'सहस्रधारा' एक रमणीक स्थान है। यहां एक पर्वतीय गुफा में जल के सहस्रों बिन्दु बराबर गिरते रहते हैं। इसके समीप गंधक के सोते हैं। यह स्थान अब पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बन गया है।

मसूरी—

देहरादून के समीप मसूरी एक विख्यात पर्वतीय नगर है। समुद्रतट से इसकी ऊंचाई ६५०० फुट है। मसूरी के साथ मुस्लिम एवं अंग्रेज शासकों के आक्रमणों की अनेक घटनाएं जुड़ी हैं।

मसूरी के सम्बन्ध में पुराने सरकारी कागजों की देख भाल से पता चलता है कि १८१३ ई० में राजा सुदर्शन शाह ने जो कि नेपाल के राजा को कर दिया करता था, समस्त दून प्रदेश जिसमें मसूरी भी सम्मिलित था, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक सैनिक कर्मचारी मेजर हैदर हियरसे को कुछ हजार रुपये में बेच दिया था। यह व्यक्ति ऐंग्लो इंडियन था। अगले वर्ष मेजर हियरसे ने मसूरी तथा देहरादून की घाटी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को इस शर्त पर बेच दी कि उसे और उसके उत्तराधिकारियों को कम्पनी की ओर से १२०० रु० वार्षिक सहायता मिलती रहेगी। गुरखा युद्ध के पश्चात् यह प्रदेश नियमित रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में आ गया। १८२० ई० में मसूरी सहारनपुर के जिलाधीश के आधीन हो गई और श्री कलबर्ट मसूरी के प्रथम डिप्टी कलक्टर नियुक्त हुये। १८२२ ई० में श्री एफ० जे० शोर इस प्रदेश के ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट तथा सुपरिन्टेंडैन्ट नियुक्त किये गए। उन दिनों सहारनपुर का कलवा नाम का एक गूजर डकैत इस प्रदेश में काफी आतंक मचाये हुये था। उसने अपना नाम राजा कल्याण सिंह प्रसिद्ध कर दिया था। दो वर्ष की लगातार आंख-मिचौनी के पश्चात् १८२४ में कल्याण सिंह मारा गया।

श्री एफ० जे० शोर तथा देहरादून गैरीजन के कमांडर कैप्टिन यंग ने मसूरी के कैमिल्स स्थान के पास सबसे पहला मकान बनाया। इन दोनों को शिकार का बड़ा शौक था। यह मकान कच्चा व पक्का बनाया था जो कि "शूटिंग बौक्स" शिकार स्थल के कार्य में प्रयुक्त किया जाता था।

१८२६ ई० में कैप्टिन यंग ने लंढौर में अपने रहने के लिए मलंगार नामक कोठी बनाई। उसके सुझाव पर सरकार ने सैनिकों के लिये एक स्वास्थ्य लाभ पड़ाव बनाया जिसमें अंग्रेज सैनिक बीमार होने की दशा में यहां आकर स्वास्थ्य लाभ करते थे।

१८३६ ई० में बंगाल इंजीनियर्स नामक सैनिक दल के कैप्टिन रेनी टेलर ने क्राइस्ट चर्च नामक प्रथम गिरजाघर बनवाया। पादरी हैनरी स्मिथ इसके सर्व प्रथम पादरी नियुक्त हुये। १८४० में सेन्ट पाल का गिरजा बनाया गया। १८४१ में हिमालय क्लब नाम से युरोपियन लोगों ने सर्व प्रथम क्लब स्थापित की।

१८४२ ई० में प्रथम अफ़गान युद्ध की समाप्ति पर अफगान शासक दोस्त मोहम्मद मसूरी में राजनैतिक बन्दी के रूप में रखा गया। काबुल के किले के नमूने पर एक लाल इमारत उसके लिये विशेष रूप से बनाई गई थी। इसका नाम 'बाला-हिसार' रक्खा गया था। इस नाम को विशेष रूप से इसलिये चुना गया था कि अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मोहम्मद के अपने महल का नाम भी यही था।

१८४२ में जनता के स्वास्थ्य तथा इस नगर के उत्थान और नियमित विकास की देख भाल करने के लिये सबसे पहली टाउन कमेटी बनाई गई। इसे युरोपियन व्यक्तियों ने स्वतन्त्र रूप ने बनाया था। इसका सरकार से कोई सम्बन्ध न था। अगले ८ वर्षों में यह कमेटी नियमानुसार सिटी बोर्ड के रूप में परिवर्तित हो गई और मेजर फर्थ इसके प्रथम चेयरमैन चुने गये।

पंजाब के गौरव राणा रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी कुमार दलीप सिंह को अंग्रेजी शासन ने १८५३ ई० में मसूरी में कैसिल हिल नामक बंगले में नजरबन्द करके रखा था। यह कैसिल हिल आरम्भ में श्री टेलर नाम के अंग्रेज की सम्पत्ति थी। बाद में सन् १९०८ में इसे सर्वे आफ इंडिया का दफ्तर बनाने के लिये भारत सरकार ने खरीद लिया।

१८४५ से १८९५ ई० तक लगभग पचास वर्षो का समय ऐसा समय है जिसमें मसूरी ने काफी सांस्कृतिक रूप में उन्नति की। इस पचास वर्ष के समय में यहां २२ शिक्षा संस्थायें खुलीं। भारत भर से अनेकों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहां आते रहे जिनमें अधिकांश युरोपियन होते थे। यहां कुछ राजा महाराजाओं के बच्चे भी ग्रीष्म काल में आते थे।

१८४५ ई० में वैवरले कन्वैन्ट स्कूल आफ जीसस एण्ड मेरी, १८५३ में सेन्ट जार्ज कालिज, १८५४ में उड स्टाक स्कूल, १८६६ में सेन्ट फाइडलिस स्कूल, १८७८ में हैम्पटन कोर्ट स्कूल, १८८६ में विज वर्ग होम, १८८८ में झड़ीपानी का ओक ग्रोव स्कूल और १८९० के आस पास डम्बारनी तथा विन्सेन्ट स्कूल खोले गये।

इन दिनों मसूरी का महत्व काफी बढ़ चुका था। भारतवर्ष के पहाड़ी स्थानों में स्वास्थ्य की दृष्टि से यह स्थान बहुत उपयुक्त माना जाने लगा। भारतवर्ष में रहने वाले अंग्रेज आफिसर अपने अवकाश काल को यहां व्यतीत करने के लिये मुख्य रूप से आने लगे। इन दिनों सर्व साधारण भारतीयों को प्रवेश करने की आज्ञा न थी।

केवल ऊंचे ऊंचे पदों पर काम करने वाले भारतीय आफिसर ही मसूरी में प्रवेश कर सकते थे। उन्हें भी मसूरी में आने के लिये विशेष प्रकार के आज्ञापत्र लेने पड़ते थे। भारतीय अफिसरों के अतिरिक्त भारतीय रजवाड़ों के राजा, राजकुमार अथवा नवाब भी विशेष आज्ञा प्राप्त करके मसूरी में प्रवेश कर सकते थे। वह भी अधिक समय तक यहां नहीं ठहर सकते थे और न मसूरी के प्रत्येक स्थान में ही आ जा सकते थे। यहां पर उन हिन्दुस्तानी लोगों की एक छोटी सी वस्ती थी जो या तो अंग्रेजों के कामों को चलाते थे या छोटी छोटी दुकानें करते थे या क्लर्की का काम करते थे। इन क्लर्कों में बहुत से व्यक्ति सरकारी दफ्तरों में लगे हुए थे और कुछ अंग्रेजों की फर्मों में काम करते थे।

मसूरी के इस इतिहास के साथ हिमालय की इस घाटी में ईसाई मिश्नरियों के कार्य की एक झलक सामने आती है। इन्होंने ब्रिटिश शासन काल में पर्वतों में ईसाई धर्म को फैलाने में कोई कमी न रक्खी। यहां के मिशन में लाये गये बच्चों को जिनमें अधिकांश पर्वतीय लड़कियां होती थीं, मिश्नरी अपने दूरस्थ केन्द्रों में भेज देते थे।

ब्रिटिश काल में ईसाइयों से मोर्चा लेना साधारण बात न थी। फिर भी साहस करके यहां आर्य समाज ने आर्य समाज मंदिर और सनातनधर्म सभा ने श्री सनातनधर्म मंदिर एवं धर्मशाला बनाकर वैदिक धर्म का प्रचार किया।

मसूरी के समीप में कई झरने हैं इनमें मोसी फाल एवं भट्टा फाल दर्शनीय माने जाते हैं।

मसूरी को अन्य अनेक पर्वतीय स्थानों से जोड़ने का यत्न किया जा रहा है। सरकार ने मसूरी से चम्बा तक पक्की सड़क बनाई है। कुछ और मार्गों को भी उन्नत किया जा रहा है।

देहरादून से लगभग ३२ मील दूरी पर एक स्थान कालसी है। यह यमुना के तट पर बसा है। यहां एक मठ में बुद्ध स्तम्भ है। इस मठ में अनेक प्राचीन मूर्तियां भी हैं। इस स्तम्भ और कुछ मूर्तियों से ऐसा विदित होता है कि यहां कभी बौद्ध मठ था।

जौनसार की देवभूमि—

कालसी से जौनसार बावर क्षेत्र प्रारम्भ होता है। यह क्षेत्र रूढ़िवाद और अंध विश्वासों का गढ़ माना जाता है। इस क्षेत्र के निवासी चार मुख्य जातियों में विभाजित हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, बाजगी तथा कोल्टा। प्रत्येक क्षत्रिय अपने-आपको छोटे-से भूखंड का जमींदार समझता है। उसे बाजगी और कोल्टा, दोनों जातियों पर पूर्ण आधिपत्य रखने का अधिकार प्राप्त है। कोल्टा यहां की सबसे गिरी हुई, दरिद्रता में पिसी हुई,

एक हरिजन जाति है। इन्हें हम ब्राह्मणों और क्षत्रियों का दास कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ये लोग ऋण के भार से दबे हुए हैं। सहस्त्रों वर्षों से इनका अपना स्वतंत्र जीवन नहीं के समान है।

यहां के बाजगी लोग कई प्रकार के पुराने ढंग के नरसिंहा आदि बाजे बजाने का कार्य करते हैं। खेती का अधिकांश काम कोल्टा करते हैं।

एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा इस प्रदेश की विशेषता है। पति जितने भी हों एक ही स्त्री की सन्तान होने चाहिएं। इसका मुख्य कारण यह बताया जाता है इससे उनके अधिकार में रहने वाली भूमि का बंटवारा नहीं होता और आपसी संघर्ष बचा रहता है। जब सबसे बड़ा भाई घर पर होता है तब स्त्री उसके पास रहती है। उसकी अनुपस्थिति में उससे छोटे भाई का अधिकार होता है।

विवाह के समय लड़की पति के घर जाकर उससे विवाह करती है। जिस प्रकार विवाह होने के पश्चात लड़की को दान-दहेज देकर माता पिता और परिवार के अन्य व्यक्ति विदा करते हैं उसी प्रकार इस क्षेत्र में लड़की अपनी माता के यहां से बहुत सा सामान लेकर अपने भावी पति के यहां जाती है और वहां उसका विवाह सम्पन्न होता है। इसके पश्चात् वह फिर अपने घर लौट जाती है और फिर पति के घर आना-जाना आरम्भ हो जाता है।

कुछ परिवारों मे बहुपत्नी-प्रथा भी पाई जाती है। किसी-किसी परिवार मे पांच-पांच स्त्रियां तक नियमित रूप से विवाह करके रहती हैं। ये सब स्त्रियां परिवार के सबसे बड़े व्यक्ति की ही पत्नियां कहलाती है और जो नियम एक पत्नी के लिए प्रचलित हैं वे ही अन्य पत्नियों के लिए प्रयोग मे लाए जाते हैं।

यद्यपि यहां एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा है तथापि सम्पत्ति का बंटवारा माता के अधिकार से न होकर पिता के अधिकार से ही होता है। किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी सम्पत्ति उसके भाइयों को मिलती है। यदि कोई भाई जीवित न हो तो उसके पुत्रों को मिलती है। पुत्र न होने पर अथवा पुत्र की मृत्यु हो जाने पर सम्पत्ति का अधिकार विधवा को उसके जीवन-काल के लिये होता है। यदि वह अपने पति के ग्राम से बाहर किसी अन्य ग्राम में पुर्नविवाह करले तो सम्पत्ति पर से उसका अधिकार जाता रहता है। तब चचेरे भाइयो को ही अधिक सम्पत्ति मिलती है।

जौनसार प्रदेश में चार देवताओं की पूजा की जाती है, जिनका सम्मिलित नाम महासू है। इन चारों को अलग अलग बासक, पिबासक, बैठा और चलता कहते है। बासक का सबसे अधिक महत्व है। इसका मुख्य स्थान जत बावर के अन्त-र्गत हनोल नामक स्थान में है। इसी से इसका नाम हनोल का देवता भी पड़ गया है। पिबासक ताहून में तथा बैठा आंवर में निवास करता है। चलता महासू बैरट में निवास करता है, किन्तु समय-समय पर एक स्थान से दूसरे स्थान को बदलता रहता है।

कुछ लोग परशुराम की भी पूजा करते हैं। उनका मन्दिर लाखामण्डल में बना हुआ है। हमारे विचार में महासू 'महाशिव' का अपभ्रंश है।

महासू के इस प्रदेश में लाए जाने की कथा बड़ी मनोरंजक है। कहा जाता है कि मैन्द्रथ ग्राम में ऊना भाट नाम का एक व्यक्ति अपने परिवार-सहित रहता था। इसी समय टोंस तथा यमुना के निकट किरविर दाना नाम का एक राक्षस आकर रहने लगा। उसने ऊना के सभी साथियों को खा डाला, केवल ऊना, उसके तीन लड़के और एक लड़की बच गए। ऊना अत्यन्त दुखित मन से जंगलों में मारा-मारा फिर रहा था और इस विचार में था कि किस तरह से अपना बचाव किया जाए। एक दिन स्वप्न में महासू देवता ने दर्शन देकर उसे प्रेरणा की कि वह काश्मीर जाकर चारों महासुओं को लाए, क्योंकि वे ही किरविर दाने का नाश कर सकते हैं। ऊना अगले दिन काश्मीर के लिए चल पड़ा। वहां पहुंचने पर उसने महासू के पहरेदारों को देखा। किसी तरह उन्हें प्रसन्न करके अपनी कहानी सुनाई। उन्होंने उसे समझाने का प्रयत्न किया कि महासू तक पहुंचने में भारी कष्टों का सामना करना पड़ेगा, किन्तु ऊना न माना।

महान कष्ट उठाकर ऊना चारों महासुओं को अपने यहां ले आया। इनमें से तीन महासू तीन मंदिरों में स्थापित कर दिये गए और चौथा महासू चलता फिरता महासू रहा।

माता देवोलारी के नाम से एक खेत में एक मन्दिर बना दिया गया। ऊना ने महासुओं की पूजा की तथा अपने सबसे छोटे पुत्र को उनकी सेवा करने की आज्ञा दी। इस प्रकार उसका पुत्र देव-पुजारी बन गया। दूसरा पुत्र राष्ट्र की रक्षा के लिए राजपूत बना तथा तीसरा संगीतज्ञ अर्थात बाजगी। आज भी इन तीनों पूर्वजों की सन्तानें अपने-अपने वंशधरों के नाम को धारण किए हुए हैं।

चलता महासू की पालकी जिस समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती थी उस समय उसके साथ ६० या ७० व्यक्ति तथा अनेक नर्तकियां, जिन्हें यहां की भाषा में धाड़नियां कहते हैं, होती थीं। यदि किसी ग्राम पर कोई सामूहिक संकट आ जाता था तो उस समय चलता महासू को निमन्त्रित किया जाता था। बिना इस निमन्त्रण के चलता महासू किसी भी ग्राम में नहीं जाता था। किन्तु आपत्ति आते रहने के कारण उसे निमन्त्रण मिलता ही रहता था। महासू देवताओं के साथियों को एक दिन तो उसी ग्राम के व्यक्ति भोजन आदि कराते थे और उसके बाद छः मास तक उस क्षेत्र के व्यक्ति चन्दा एकत्र करते थे। मेजर यंग का कहना है कि इन सब बातों में इतना व्यय हो जाता था कि कभी-कभी तो उस प्रदेश के लोग सरकारी मालगुजारी तक नहीं दे पाते थे। बाद को यह प्रथा बन्द कर दी गई।

कुछ लोगों का विश्वास है कि महासू देवता की उद्‌भावना सर्प के द्वारा हुई। सर्प ने एक दिन स्वप्न में इन्हें दर्शन देकर यहां महासू देवता का मंदिर बनाने को कहा।

इस प्रदेश में बाल-विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। एक वर्ष से ८–६ वर्ष तक के लड़के-लड़कियों का विवाह हो जाता है। ऐसे विवाह प्रायः असफल ही रहते हैं। इन का परिणाम पति-पत्नी का सम्बन्ध-विच्छेद होता है, जिसे छूट कहना चाहिए। लड़की एक पति के परिवार को छोड़ कर दूसरे परिवार में चली जाती है। कभी-कभी तो यह परिवर्तन चार-पांच पति-परिवारों तक हो जाता है। प्रत्येक परिवर्तन में स्त्री का मूल्य बढ़ जाता है। जितना धन व्यय करके पहला पति उसे प्राप्त करता है, छूट के समय दूसरे पति-परिवार से उससे अधिक मिलने पर ही छूट स्वीकृत की जाती है।

इस प्रदेश में स्त्रियां परदा नहीं करतीं। खुले रूप में पुरुषों के सामने आना-जाना रहता है। घूंघट आदि का यहां कोई प्रचलन नहीं है।

सामान्यतः नारी वर्ग में कोट, लुगड़ी तथा ढांट (रुमाल) का प्रयोग होता है। कोट काले रंग के कपड़े का बनाते हैं। आभूषणों को यहां बहुत महत्व देते हैं। स्त्रियां अधिक से अधिक आभूषण अपने पास रखना पसंद करती हैं। प्राचीन प्रथानुसार स्वर्ण केवल उच्च जाति के लोग ही पहनते थे। पुरुषों में टोपी, लंगोट तथा बिना आस्तीन के कोट का पहिनावा चलता रहा है। अब आधुनिक वेशभूषा का प्रचार होने लगा है। पुरुषों के आभूषणों में अंगूठी तथा चांदी के बटन प्रमुख हैं।

यहां के रहने वालों में सम्मिलित रूप से भोजन करने की प्रथा पाई जाती है। परिवार के समस्त व्यक्तियों का भोजन एक साथ बनता है। भोजन बन जाने पर परिवार के समस्त व्यक्ति एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। भोजन सब अलग-अलग परोस कर खाते हैं। मुसलमानों के समान एक ही 'दस्तरखान' पर भोजन करने की प्रथा यहां नहीं है। अतिथि के आने पर भी सारा परिवार उसके साथ बैठ कर भोजन करता है।

भोजन में मक्का के सत्तू और मंडवे की रोटी का अधिक प्रयोग किया जाता है। सत्तू नमक डालकर छाछ (मट्ठा) में घोला जाता है।

इस प्रदेश में शराब पीने का बड़ा रिवाज है। शराब घर-घर बनती है। इसकी तीन श्रेणियां हैं—प्रथम प्रकार की शराब तीव्र होती है; दूसरे प्रकार की शराब में साधारण नशा समझा जाता है और तीसरे प्रकार की शराब को ये लोग चाय के समान समझते हैं।

यहां के परिवार में केवल पुरुष ही हुक्का नहीं पीते; स्त्रियां और पुरुष सम्मिलित रूप से हुक्का पीते हैं। हुक्का पीने का इनमें बहुत रिवाज है।

इस प्रदेश का प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम से पेट भरता है। यहां भिखारी नहीं हैं। न तो यहां के रहने वाले स्वयं भिखारी का पेशा करते हैं और न बाहर के भिखारी को अपने यहां रहने देते हैं। गरीब-से-गरीब, दीन-से-दीन व्यक्ति भी मजदूरी करके पेट भरता है। कोल्टा यहां की सबसे पिछड़ी हुई गरीब जाति से है, पर वह भी मजदूरी करता है, भीख नहीं मांगता। इतनी गरीबी होने पर भी यहां चोरी नहीं होती, यहां लोग चोरी को ऐसा समझते हैं मानो उन्होंने अपने देवता को अप्रसन्न कर दिया। सबसे अधिक ये लोग देवता के अभिशाप से डरते हैं।

यहां के निवासियों में अन्धविश्वास बहुत प्रबल है। एक बार जब खिजाल ग्राम वालों में चेचक का प्रकोप हुआ तो वहां के निवासियों ने देवता को सन्तुष्ट करने के लिए ४०० देवदार के वृक्ष जला डाले। यदि कभी किन्हीं दो व्यक्तियों में झगड़ा हो जाता है तो एक दूसरे के विरुद्ध शपथ लेने पर ही झगड़े की समाप्ति होती है। शपथ का यहां बड़ा महत्व है। ये पूजा पाठ, जंत्र मंत्र और टोने के प्रभाव को बड़ा महत्व देते हैं। यहां सयाणे को बड़ा सम्मान दिया जाता है। उसी से ये अपनी समस्याओं का समाधान कराते हैं। ये लोग प्रेतात्माओं में विश्वास करते हैं। यदि किसी स्त्री या परिवार पर प्रेतात्मा का कोप हो जाता है तो ये लोग सयाणे की सहायता से उसे नष्ट कराते हैं।

पर्व और त्यौहारों को ये लोग बड़ा महत्व देते हैं। मकर संक्रान्ति के अवसर पर ये लोग एक मास तक 'माघ का त्यौहार' मनाते हैं। इसका प्रारम्भ मकर संक्रान्ति से एक दिन पूर्व बकरे की बलि से किया जाता है। इस महीने ये लोग काम काज से छुट्टी रखते हैं। पशुओं का चारा और अपनी खानपान की वस्तुयें पहले से ही एकत्रित करके रखते हैं। ये लोग पूरा महीना, मांस और शराब की दावतों तथा नृत्य आदि में व्यतीत कर देते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इस महीने शीत का प्रबल प्रकोप रहता है। अतः ये लोग अपने घरों में ही आनन्द मनाते हैं। गांव गांव में नृत्य और संगीत का आयोजन करते हैं।

इनका दूसरा पर्व वैसाखी से प्रारम्भ होता है। इसे ये लोग 'बीसू' के नाम से सम्बोधित करते हैं। ये लोग इसे अनेक स्थानों पर मेले के रूप में मनाते हैं। मेले के स्थान को 'जुब्बड़' कहते हैं। स्त्रियां और पुरुष दोनों सुन्दर से सुन्दर पोशाक धारण करके मेले में सम्मिलित होते हैं। इस मेले में अस्त्र शस्त्रों के साथ नकली युद्ध का प्रदर्शन किया जाता है। प्रत्येक विवाहित स्त्री इस मेले को मनाने के लिए अपने पिता के घर जाती है। मेले पर वीर रस और प्रेम रस प्रधान गीतों को विशेष रूपसे गाते हैं। ये मेला इस क्षेत्र के सामाजिक जीवन की एक सुन्दर झांकी प्रस्तुत करता है।

टिप्पणी—मि० एच० जी० वाल्टन द्वारा सम्पादिक गढ़वाल गजेटियर में इन बातों का विशेष उल्लेख किया गया है।

इस क्षेत्र के लाखा मंडल का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। यहां अनेक मंदिर हैं जो टूटी फूटी दशा में पड़े हैं। मूर्ति भंजकों ने यहां हजारों कलापूर्ण सुन्दर २ मूर्तियां तोड़ फोड़कर नष्ट कीं। रुहेले और मुस्लिम आक्रमणकारियों ने विपुल धन-राशि मिलने की आशा से इस क्षेत्र पर अनेक बार आक्रमण किये।

परगना जौनसार बावर में लाखा मंडल नाम का एक ग्राम है, जो मूर्तियों का प्रदेश कहा जा सकता है। समुद्रतट से इसकी ऊंचाई ३६५० फुट है। विश्वास किया जाता है कि यवनों के आक्रमण के समय हिन्दुओं ने अपनी देवमूर्तियों को विनष्ट होने से बचाने के लिए इस सुरक्षित प्रदेश में पहुंचा दिया था और इस प्रकार यहां लाखों प्रतिमाएं एकत्र हो गई थीं। अब भी खुदाई में यहां मूर्तियां मिलती रहती हैं। पर्वतीय भाई 'मंडल' का अर्थ 'मंदिर' से लगाते हैं। प्रत्येक मूर्ति का अलग अलग मंदिर मानकर एक लाख मंदिरों के कारण ही इस स्थान का नाम लाखा मंडल पड़ गया। अंग्रेजों के राज्य में सम्मिलित होने से पूर्व इस क्षेत्र को सिरमूर तथा गढ़वाल की रियासतें अपना अपना बताती थीं।

यहां का सबसे प्रमुख मंदिर लाखा-मंडल नाम का मदिर है। यह अत्यन्त विशाल है। इसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका निर्माण किस काल मे हुआ। परन्तु इसके अन्दर एक शिलालेख है जिसके सम्बन्ध मे डा० बूलर का कथन है कि यह लेख ईसा के ६०० वर्ष बाद से ८०० वर्ष बाद तक के बीच के समय का हो सकता है। शिलालेख एक प्रकार की प्रशस्ति है। इसमें बताया गया है कि रानी ईश्वरा ने अपने मृत पति चन्द्रगुप्त के स्मारक-स्वरूप उनकी आत्मिक शांति के लिए इस मंदिर का निर्माण कराया। रानी ईश्वरा सिंहपुर के राजवंश की राजकुमारी थीं। इस सिंहपुर का उल्लेख चीनी यात्री ह्वानसांग ने अपने वर्णन में सांग-हो-पु-लों नाम से किया है। यह स्थान वर्तमान जलंधर के आसपास रहा होगा। चंद्रगुप्त जलंधर के राजा का लड़का था। उसने गद्दी प्राप्त नही की। इसका कारण यह हो सकता है कि या तो वह सबसे बड़ा पुत्र न होगा अथवा अपने पिता के जीवन-काल में ही उसकी मृत्यु हो गई होगी। सिंहपुर के राजा यदुवंश के थे। यह मंदिर शिव की स्मृति में बनाया गया था।

इस शिव-मंदिर के अतिरिक्त यहां पांचों पांडवों, विश्वामित्र तथा परशुराम के मंदिर भी हैं। शिव का एक अन्य भग्न मंदिर है जिसे केदार का नाम दिया गया है। भादों के महीने में यहां आसपास के भक्त लोग आते हैं और एक प्रकार का मेला सा लग जाता है। यहां की पत्थर की दो मूर्तियां— अर्जुन तथा भीमसेन की बहुत सुन्दर हैं, परन्तु उनके चेहरे विकृत हो गए हैं। कहा जाता है कि रुहेलों ने इस प्रदेश पर आक्रमण करके इन्हें भग्न कर दिया था। एक अन्य प्रस्तर खंड भी यहां पर मिलता है, जिसपर गणेश, दुर्गा, भवानी आदि की प्रतिमाएं खुदी हुई हैं।

पुरातत्ववेत्ता पं० कृष्णदत्त वाजपेयी ने इन दो मूर्तियों को जय और विजय की बताया है। उनका कहना है 'जो मूर्तियां एक गोदाम में सुरक्षित की गई हैं उनकी संख्या बहुत बड़ी है और इनका समय ई० पांचवीं से लेकर लगभग बारहवीं शती तक है।'

यहां अशोक शिलामंडल नाम का एक छोटा-सा मंदिर है। भीतर बीचों-बीच एक विशाल पाषाण-शिला खड़ी हुई है। उसका ऊपरी भाग टूटा हुआ है। मंदिर के अन्दर बहुत से टूटे हुए पाषाण भी विद्यमान हैं। इन सबको देखकर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां कभी बौद्ध मंदिर या बौद्ध विहार था।

लाखा मण्डल के समीप एक देवी का मंदिर है। इस मन्दिर में कमल की पंखुड़ियां-सी बनी हुई हैं। इस प्रदेश में रहने वालों का यह अंधविश्वास है कि यह देवी रात्रि के समय बोलती है। वे समझते हैं मन्दिर के अन्दर से देवी झनझन का शब्द करती है और जो व्यक्ति उस शब्द को सुन लेता है उसपर आई विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं।

इस क्षेत्र का एक भाग ऐसा है जहां 'दुर्योधन' को देवता मानते हैं। मि० एच० जी० वाल्टन के अनुसार 'दुर्योधन' यहां के रहने वालों के लिए विष्णु और शिव के समान पूजनीय है।

कहा जाता है कि यहां किसी समय एक सुरंग भी थी, जो पहाड़ी चट्टानों को खोदकर बनाई गई थी और जिसका प्रयोग यवनों के आक्रमण-काल में किया जाता था। यह सुरंग अब बन्द हो गई है, केवल चिन्ह मात्र शेष है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस क्षेत्र के सम्बन्ध में कहा था—'यहां की प्रत्येक मूर्ति सुरक्षित की जानी चाहिए।' उन्होंने इस क्षेत्र को महाभारत काल की घटनाओं से सम्बन्धित माना है।

मैंने यहां जौनसार बावर का कुछ विवरण दिया है। इसी क्षेत्र के साथ एक दूसरा क्षेत्र जौनपुर रवांई कहलाता है। इस क्षेत्र की भी अधिकांश सामाजिक प्रथायें जौनसार बावर से मिलती जुलती हैं। यहां 'नायक' जाति के लोग भी रहते हैं। मि० एच० जी० वाल्टन ने इस नायक जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया है 'इस क्षेत्र में आक्रमण करने वालों ने यहां की उच्च वर्ण की लड़कियों से बलात् सम्भोग किया और उनसे जो संतान उत्पन्न हुई वह नायक कहलाई।'

नायक जाति की लड़कियां वेश्यावृत्ति के लिये भारत के बड़े २ नगरों में ले जाई जाती रही हैं। इनसे हिन्दू धर्म को भारी क्षति पहुंची क्योंकि अनेक लड़कियां मुसलमान बनकर नगरों में ही बस गईं। उत्तर प्रदेश सरकार ने 'नायक बालिका संरक्षण एक्ट' स्वीकार करके वेश्यावृत्ति को रोकने का भरसक यत्न किया परन्तु

इसमें विशेष सफलता न मिल पाई। अब सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इस ओर ध्यान दिया है।

रवांई जौनपुर क्षेत्र में भी पर्व और त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं। नृत्य, संगीत में यहां के रहने वाले भी बडे प्रवीण हैं।

कालसी से आगे चकरौता एक प्रमुख पर्वतीय नगरी है। समुद्रतट से इसकी ऊंचाई ६८८५ फुट है। स्वास्थ की दृष्टि से अंग्रेजों ने इसे मसूरी की तरह पसंद किया था। उन्होंने यहां सैनिक छावनी भी रखी। अब भारत सरकार ने भी इसे सैनिक महत्व का नगर बना दिया है। चीनी आक्रमण के बाद से इस नगर में आने जाने पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

गढ़वाल क्षेत्र में पौड़ी भी एक महत्वपूर्ण नगर है। पौड़ी अब गढ़वाल जिले का मुख्य केन्द्र स्थान है। यहां ईसाई मिश्नरियों ने १८६५ में अपना केन्द्र स्थापित किया। मैथोडिस्ट एपीस्कोपल चर्च आफ अमरीका ने यहां अपना केन्द्र स्थापित किया। उस समय के कमिश्नर सर हेनरी रेम्ज़े न इस मिशन की बहुत सहायता की। इस मिशन ने श्रीनगर, देखवाली, कनूर, भांवई, कोटद्वार, दुगड्डा, लैंसडाउन, यान संगला कोटी, लोइवा, बैंनीताल और रामनी में अपनी शाखायें खोलकर पर्वतों में रहने वालों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने का यत्न किया। ये लोग उन छोटे छोटे गांवों में गये जहां पहुंचना काफी कठिन था।

मि० एच० जी० वाल्टन ने गढ़वाल गजेटियर में १९०१ की जन संख्या का उल्लेख करते हुए ईसाइयों की संख्या ६५४ बताई है। उस समय मुसलमानों की संख्या ४४११ हो चुकी थी। मि० वाल्टन ने मुसलमानों में पर्वतीय बंजारा जाति को भी सम्मिलित किया है। उनका कहना है कि इसमे कट्टर-धर्मान्धता नही आ पाई थी। इनके बहुत से रीति रिवाज हिन्दुओं से मिलते जुलते थे। मुस्लिम बंजारे व्यापार करते थे।

यहां हम इस बात पर भी विचार कर सकते है कि ईसाइयों ने थोड़े समय में ही पर्वतीय स्थानों में किस प्रकार ईसाई धर्म को प्रगति दी। मेरे विचार से उन्होंने शासन का लाभ उठाकर मनमाने ढंग से गरीब लोगों को ईसाई बनाया। यह नीति उन्होंने सभी क्षेत्रों में बरती।

१९०१ ई० की जनगणना के अनुसार पौड़ी गढ़वाल क्षेत्र में कुछ आर्य भी थे। इनकी संख्या केवल ६४ थी। इन्होंने धीरे २ अपनी संख्या को बढ़ाकर ईसाई प्रचारकों के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया।

लैन्सडाउन इस क्षेत्र की सैनिक छावनी रहा। अंग्रेजों ने यहां केवल सेना ही नहीं रखी किन्तु इसे शिकार के लिए भी प्रयोग किया।

अलमोड़ा—

इसका प्राचीन पौराणिक नाम कूर्मांचल आता है। इसकी ऊंचाई समुद्र तट से ५४६४ फुट है। यह भारत के पर्वतीय नगरों में एक प्रमुख नगर माना जाता है। यहां चांदवंश के राजाओं का एक किला भी था।

यहां अनेक देवी देवताओं के मंदिर हैं जिनमें नंदादेवी का मंदिर अधिक प्रसिद्ध है। पुराणों के अनुसार नंदा देवी दक्ष प्रजापति की सात कन्याओं में से एक मानी गई है। गढ़वाल के श्रीनगर और उनके समीपवर्ती गांव खोरा और नन्दप्रयाग के निवासी नन्दा देवी को अपनी कन्या के समान मानते हैं और उसकी पूजा के लिए यहां आते हैं। इस मंदिर में भाद्रपद शुक्ल अष्ठमी को नन्दाष्ठमी का मेला लगता है। यहां अन्य अनेक देवी देवताओं के भी मदिर हैं।

अलमोड़ा में क्रिश्चियन मिशन ने काफी समय से अपना कार्य प्रारम्भ किया हुआ है। मिशन कई शिक्षा संस्थायें चलाता है। यहां रामकृष्ण मिशन भी काम कर रहा है।

डेनमार्क के एक साधक श्री अल्फ्रेड सोरिन्सन ने यहां एक बंगला बनवाया। अमरीका निवासी डा० ईवान्स वेन्स ने केसरदेवी पर्वत पर आश्रम बनवाया। भारतीय धर्म शास्त्रों की जानकारी प्राप्त की। इसी तरह अमरीका के अर्ल ई० एच० वेंस्टर ने अलमोड़ा से चार मील दूरी पर एक बंगला बनवाया। इस प्रकार अमरीका एवं अन्य कई देशों के कुछ विदेशी यहां आने जाने लगे।

आर्य समाज के कार्य को इस क्षेत्र में विस्तार देने के लिए यहां आर्य समाज मंदिर बनाया गया। आर्य समाज ने ईसाइयों द्वारा धर्म परिवर्तन को रोकने का यत्न किया।

अलमोड़ा में भारत के सुविख्यात नृत्यकार उदय शंकर ने अपना एक सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित करके नृत्य कला को विकसित करने का यत्न किया। वे यहां १९४३ ई० तक रहे।

प्राचीन काल से ही यह स्थान महत्वपूर्ण रहा है। इसका मुख्य कारण यह रहा कि इधर से कैलास मानसरोवर की यात्रा की जाती थी।

अलमोड़ा के समीप में अनेक दर्शनीय स्थान हैं। पर्वत की ऊंची ऊंची चोटियों पर अनेक मंदिर बने हैं।

कटारमल का सूर्य-मंदिर भी विशेष दर्शनीय माना जाता है। अलमोड़ा से सात मील चलने पर एक ऊंची पहाड़ी चढ़ने पर इस मंदिर के दर्शन होते हैं। सूर्य भगवान को कमल के आसन पर बैठा दिखाया गया है। उनके सिर पर अलंकृत मुकुट और पीछे प्रभा मंडल है। मूर्ति की चौकी पर सारथी अरुण तथा सप्ताश्व अंकित हैं। श्री

कृष्णदत्त वाजपेयी ने इस मूर्ति को बारहवीं शती की कृति बताया है। उनका कहना है—"वास्तु कला एवं मूर्त्तिकला की दृष्टि से यह मंदिर बड़े महत्व का है और इसका समुचित संरक्षण आवश्यक है।"

नगर से आठ मील दूर काषाय पर्वत पर कौशिकी देवी का मंदिर है। पुराणों की कथा के अनुसार जगदम्बा पार्वती के शरीर से कौशिकी देवी उत्पन्न हुई। इनका जन्म शुम्भ-निशुम्भ दैत्यों के नाश के लिये हुआ माना जाता है।

अल्मोड़ा से तेरह मील दूरी पर एक स्थान बिनसर है। यहां अनेक मंदिर हैं जो सातवीं से बारहवीं शती के समझे जाते हैं। मंदिरों के बाहर अनेक खंडित मूर्तियां पड़ी मिलती हैं। नाक और सेब आदि फलों के बगीचे हैं। इसी तरह से अल्मोड़ा से १४ मील दूरी पर रामगढ़ भी एक अच्छा स्वास्थप्रद स्थान है। रामगढ़ भी सेब के बगीचों के लिये प्रसिद्ध है।

अल्मोड़ा और रामगढ़ के बीच मुक्तीश्वर भी एक उल्लेखनीय स्थान है जहां पशुचिकित्सा अन्वेषण केन्द्र (वैटर्नरी रिसर्च इंस्टीट्यूट) का विशाल केन्द्र है। किसी समय यह संसार का सबसे बड़ा केन्द्र समझा जाता था। समुद्रतट से इसकी ऊंचाई ७७०२ फुट है। यह केन्द्र १८९५ ई० में स्थापित किया गया था।

अल्मोड़ा के समीप हवालबाग, बेरीनाग भी दो अच्छे स्थान हैं। बेरीनाग चाय के लिए प्रसिद्ध है।

अल्मोड़ा जिले के लोहाघाट और चम्पावत के निकट १८९७ ई० में स्वामी विवेकानन्द जी ने मायावती में वेदान्त आश्रम की स्थापना की थी। मायावती अल्मोड़ा नगर से ५० मील की दूरी पर है।

जागेश्वर के मंदिर –

अल्मोड़ा जिले की दुर्गम उपत्यकाओं और निर्जन वन में जो मंदिर स्थित हैं, उनमें जागेश्वर के मंदिर अपनी विशेषता रखते हैं। इन मंदिरों में देवी देवताओं की अनेक कलात्मक मूर्तियां हैं। पुराणों और मूर्ति पूजा में विश्वास रखने वालों का कहना है कि इन पर्वतों में अनेक देवी देवता अब भी निवास करते हैं।

हिमालय की उपत्यकाओं में स्थित बहुत से मंदिरों का निर्माण समान रूप में हुआ है। इनका ऊपरी भाग मैदानी भाग के मंदिरों के समान गोलाकार गुम्बद के रूप में नहीं है किन्तु ऊपरी भाग पर गोलाकार छत डालकर उसपर कलश बनाया गया है। इस प्रकार की शैली के सम्बन्ध में हमें एक महात्मा ने बताया कि यह शैली आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य जी महाराज के समय की है।

जागेश्वर अल्मोड़ा से लगभग २१ मील दूर है। वहां तक सीधी मोटर बसें जाती हैं। यह स्थान हिमालय की तंग घाटी में स्थित है। इसके चारों ओर देवदार के वृक्ष हैं। इस पर्वत माला से कई निर्मल जल-धाराएं निकल कर जागेश्वर के समीप से बहती हैं। यहां अब छोटी-सी बस्ती बस गई है। राजकीय औषधालय भी खोल दिया गया है। यहां अधिकांशतया पंडे पुजारी लोग ही निवास करते हैं।

जागेश्वर के मंदिरों का क्रम लगभग डेढ़ मील में फैला है। अल्मोड़ा से जागेश्वर जाते समय सब से पहले दंडकेश्वर मंदिर आता है। यह एक विशाल मंदिर है। विशाल इस दृष्टि से कि इसकी ऊंचाई लगभग सौ फुट है। पर्वतों में इतने ऊंचे मंदिर का निर्माण करना सरल बात नहीं। इस मंदिर के ऊपर छत के रूप में एक गोलाकर पत्थर है जिस के चारों ओर केले की फली जैसा कलापूर्ण कटान किया गया है। कुछ लोग इसे कमल के फूल का आकार मानते हैं। मंदिर में देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियां हैं। इन में से कुछ खंडित हैं और कुछ अभी तक ज्यों की त्यों अपने असली रूप में हैं। शिव-पार्वती, विष्णु आदि की मूर्तियां विशेष रूप से कलापूर्ण हैं।

यहां से लगभग आधा मील पर जागेश्वर मंदिरों का क्रम प्रारम्भ होता है। इनमें से कुछ मंदिर पुराने हैं और कुछ आधुनिक काल के बने हैं। मृत्युञ्जय और जागेश्वर भगवान के दो मंदिर यहां सब से प्राचीन और सब से विशाल माने जाते हैं। जागेश्वर मंदिर का द्वार कलापूर्ण ढंग से बना है। इसके समीप एक छोटा-सा मूर्ति संग्रहालय बना दिया गया है। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि जब से पुरातत्व विभाग ने इन मंदिरों को सुरक्षित किया है तब से यहां कुछ मूर्तियां एकत्रित होने लगी हैं। पुरातत्व विभाग की ओर से यहां एक कर्मचारी रहता है। उसने परिश्रम करके उन खंडित मूर्तियों को भी एकत्रित किया है जो इस क्षेत्र के जंगलों में पड़ी मिली हैं। इन सब मूर्तियों को अलग एक छोटे-से स्थान में एकत्र किया जा रहा है।

खंडित मूर्तियों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि यहां मुसलमान शासकों ने कई बार आक्रमण किये।

जागेश्वर मंदिर का निर्माण उसी प्रकार का है जैसा दंडकेश्वर का है। इस के ऊपरी भाग में गोलाकार छत है और उस पर भी केले की फलियों जैसा कटान है। उसके ऊपर किसी धातु की छत है और चारों ओर लकड़ी का कटहरा बनाया गया है। धातु के सम्बन्ध में बताया गया कि यह तांबा है। ऊपर स्वर्ण के दो कलश बने हैं। कहा जाता है कि पहले तीन कलश थे—मध्य का कलश बड़ा था और दोनों तरफ के कलश कुछ छोटे थे। अब इन में से एक कलश कम है। मुस्लिम काल में यह कलश तोड़ दिया गया था। मंदिर के द्वार पर दोनों ओर विशाल पत्थरों पर दो द्वारपाल खुदाई करके बनाए गए हैं।

मृत्युञ्जय के मंदिर में धातु का एक प्राचीन तांत्रिक यंत्र भी है। धातु का रंग चांदी जैसा है। इसका एक सिरा टूटा हुआ है। पुजारी ने इस यंत्र को बड़ा आग्रह करने पर दिखाया। इसमें शिव को नीचे लेटे हुए दिखाया गया है, ऊपर महिष मर्दिनी की मूर्ति बनी है जिसके एक हाथ में खड़ग और दूसरे में गदा दिखाई गई है। इस मंदिर में लक्ष्मी और गणेश की मूर्तियां भी देखने को मिलीं। यहां के एक मंदिर में हनुमान की एक विशाल प्रतिमा भी स्थापित है। यह मंदिर छोटा है परन्तु हनुमान की आकृति बड़ी ही सुन्दर बनाई गई है। इस मंदिर को हनुमान मंदिर के नाम से ही पुकारते हैं।

मूर्ति संग्रहालय की कुछ मूर्तियां श्याम वर्ण की हैं। श्याम वर्ण के पत्थर पर कटान करके उनको तैयार किया गया है। कुछ का रंग भूरा-सा है। इस प्रकार की मूर्तियां मैदानी भागों के मंदिरों में भी मिलती हैं।

जागेश्वर मंदिर के सम्बन्ध में ऐसा माना जाता है कि यह मंदिर भारत के द्वादश ज्योतिर्लिंग में से एक है। जागेश्वर के साथ-साथ यहां अनेक देवी-देवताओं के मंदिर भी बने हैं, जिनमें पुष्टिदेवी, नवग्रह, सूर्य तथा मृत्युञ्जय आदि के मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

मंदिरों के बाहरी भाग में कुछ प्राचीन शिलालेख भी अंकित हैं। पुजारी ने इन लेखों के सम्बन्ध में बताया कि अभी तक यह ज्ञान नहीं हो सका कि इनकी लिपि क्या है। इनकी लिपि पाली और प्राकृत लिपि से भिन्न प्रतीत होती है। हो सकता है कि तिब्बती लिपि हो। जिस समय श्री सम्पूर्णानन्द उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री थे, उन्होंने भी जागेश्वर के इन मंदिरों को देखा था और इन शिलालेखों की खोज कराने का आश्वासन दिया था, परन्तु अभी तक यह ज्ञात नहीं हुआ कि इन शिलालेखों पर क्या अंकित है। अच्छा हो कि पुरातत्व विभाग इन शिलालेखों का हिन्दी रूपान्तर कराकर वहीं सुन्दर ढंग से लगवा दे।

यहां मुझे गंगा की एक सुन्दर मूर्ति देखने को मिली। उनका वाहन मगर भी अंकित किया गया है। उनके एक हाथ में कलश है।

शिव और पार्वती की मूर्ति में पार्वती की ओर वृषभ और शिव की ओर नाग की प्रतिमा अंकित की गई है।

यहां शिव की एक ऐसी प्रतिमा देखने को मिली जो अब तक किसी अन्य मंदिर में देखने को नहीं मिली थी। उनके दोनों कानों में बड़े-बड़े कुंडल दिखाए गए हैं और उनके एक हाथ में वीणा जैसा वाद्य यंत्र है।

शिव-पार्वती की एक मूर्ति ऐसी भी देखने को मिली जिसमें पार्वती जी अपने हाथ में पहनी आरसी के शीशे में अपना मुंह देख रही है।

सूर्य देवता की मूर्तियां अन्यत्र भी देखने को मिली हैं। यहां की मूर्ति में पैरों में उनका वाहन रथ दिखाया गया है। रथ में घोड़े जुते दिखाए गए हैं परन्तु वे मानव रूप में हैं। केवल उनका मुख घोड़े जैसा है। सूर्य भगवान के पीछे की ओर एक कमल पुष्प दिखाया गया है। दोनों हाथों में सूर्य की किरणें दिखाई गई हैं।

अकेली पार्वती की मूर्ति भी देखने को मिली। पार्वती आभूषण पहने दिखाई गई हैं। उनके एक ओर त्रिशूल चिन्ह है। पार्वती जी कानों में कर्णफूल, हाथों में कड़े और गले में माला पहने हैं। कर्णफूलों की आकृति काफी बड़ी है। पार्वती को साड़ी पहने दिखाया गया है। पैरों की तरफ का पल्ला मणिपुरी शैली की साड़ियों जैसा कलापूर्ण ढंग से बनाया गया है। पाषाण चित्रकला का इस मूर्ति को एक सुन्दर एवं उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है।

ब्रह्मा, शिव और विष्णु की मूर्तियों में तीनों देवताओं के समीप राहु का सिर और केतु का धड़ दिखाए गये हैं। गणेश तथा विष्णु का चिन्ह क्षीर सागर जैसा है।

पार्वती की एक प्रतिमा ऐसी भी देखने को मिली जिसमें उनके दोनों ओर दासियां दिखाई गई हैं। कार्तिकेय की मूर्ति भी दर्शनीय है। इसके दोनों ओर कलापूर्ण ढंग से दो मोर अंकित किए गए हैं।

नवग्रह प्रतिमा में सात देवता दिखाए गए हैं। उनके समीप राहु का सिर और केतु का धड़ दिखाए गए हैं। इस मूर्ति में बहुत ही बारीकी का काम किया गया है।

हरगौरी प्रतिमा में एक ओर फरसे का चिन्ह है। कानों में बड़े बड़े कुंडल दिखाए गए हैं। उनके एक हाथ में कमल-पुष्प है, गले में माला पड़ी है और सिर पर मुकुट दिखाया गया है।

विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा भी दर्शनीय है। इस मूर्ति के कई टुकड़े हो गए हैं श्याम वर्ण पत्थर पर इसे बड़े ही कलापूर्ण ढंग से तैयार किया गया है। इनके एक हाथ में चक्र है। इस प्रतिमा के दो हाथ खंडित कर दिए गए हैं।

इस प्रकार की यहां अनेक प्रतिमाएं विद्यमान हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रतिमाएं यहीं तैयार हुई या भक्त-जन यहां के मंदिरों में समर्पित करने के लिए अन्य स्थानों से यहां लाए। दूसरी बात यह है कि इतने दुर्गम एवं निर्जन वनों में भी विधर्मियों ने मूर्तियों को खंडित किया।

वृक्षों में देवताओं की कल्पना— देवदार का वृक्ष ऊंचाई में बढ़ता है। नीचे का भाग बरगद के पेड़ के समान मोटाई में नहीं फैलता। यहां के वन में एक वृक्ष ऐसा देखा जिसका तना बरगद के समान मोटा था। यहां के निवासी इसे ब्रह्मा का प्रतीक मानते हैं। एक और वृक्ष त्रिमूर्ति के समान भी देखा। देवदार के तीन वृक्ष
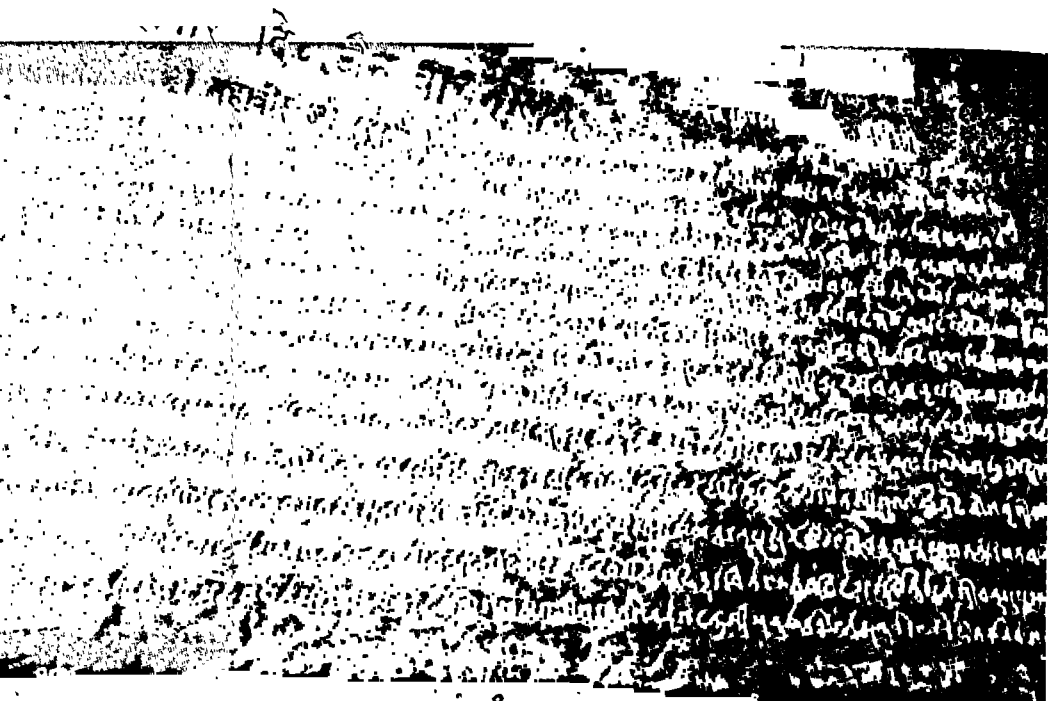
ाखामंडल में प्राप्त एक शिलालेख

दुर्योधन की मूर्ति
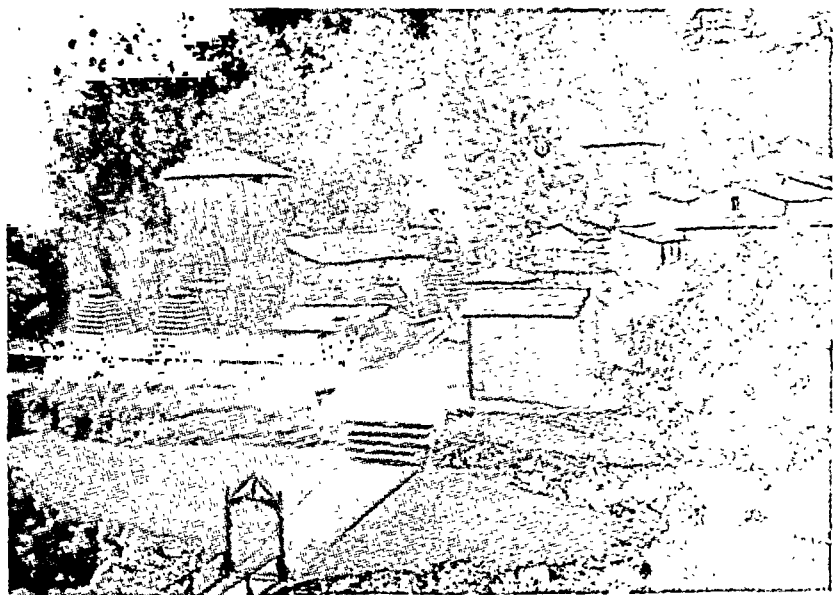
जागेश्वर के मंदिर

सूर्यदेव की मूर्ति

पार्वती की मूर्ति

परस्पर मिले हुए समान मोटाई में ऐसे उगे हैं कि मानों एक ही वृक्ष हों। इसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश का प्रतीक माना जाता है। चार वृक्ष समान मोटाई और समान ऊंचाई में ऐसे उगे हुये हैं मानों एक ही वृक्ष हों।

यहां के वृक्षों में लाल चंदन के वृक्ष भी हैं। जागेश्वर के मंदिरों के समीप के चंदन वृक्ष से पुजारी ने उसकी कुछ छाल लाकर हमें दी जिसका रंग अन्दर की ओर का लाल था। इसे जलाने पर बड़ी सुगन्ध आती है। पुजारी ने यहां के जंगल से 'सुगन्धवाला' नाम के कुछ पौधे भी लाकर हमें दिए। इधर अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियां मिलती हैं जिनका संग्रह कराना आवश्यक है।

जागेश्वर से डेढ़ मील दूरी पर एक पर्वतीय शिखर पर बूढ़ा जागेश्वर का मंदिर है।

बैजनाथ—

यह स्थान अलमोड़ा से ४१ मील दूर है। इसका प्राचीन नाम वैद्यनाथ भी आता है। इतिहासकारों के अनुसार कत्यूरी राजवंश के लोगों ने इसे बनाया। वे ईसा की नवीं और दसवीं शती में जोशीमठ से आकर यहां बसे। इसके समीप में जो नदी बहती है उसका नाम हमें सरयू बताया गया।

बैजनाथ के मंदिरों के सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ता श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का कहना है—

"मन्दिरों का एक समूह बैजनाथ सरोवर के तट पर है, जहां इन मन्दिरों की शोभा बड़ी मनोहर लगती है। ये मंदिर शिखर-शैली के हैं। उत्तराखंड में प्रायः यही शैली मिलती है। बैजनाथ के मुख्य मंदिर में पार्वती की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा है। पार्वती की मूर्ति के अगल-बगल शिव-पार्वती, लक्ष्मी-नारायण, गणेश, सूर्य आदि की लघु प्रतिमाएं रखी हैं।

'मुख्य मन्दिर के पास ही केदारनाथ का मन्दिर है, जिसमें शिव की प्रतिमा के अतिरिक्त गणेश, ब्रह्मा, महिषमर्दिनी आदि की कलापूर्ण मूर्तियां हैं। केदारनाथ मन्दिर के अतिरिक्त, मुख्य मन्दिर के चारों ओर १५ अन्य लघु मन्दिर हैं इनमें से कुछ में तो मूर्तियां हैं और शेष में नहीं। मन्दिर उत्तरीय शिखर शैली के हैं और उनके शीर्ष के आमलक बड़े सुन्दर लगते हैं। इन मन्दिरों तथा उनके आस-पास से प्राप्त कुछ मूर्तियों को एक गोदाम में रख दिया गया है, जिसे केन्द्रीय पुरातत्व विभाग ने हाल में तैयार कराया है। गोदाम में सुरक्षित मूर्तियों में स्मित मुद्रा में शिव तथा पार्वती की मूर्ति अत्यन्त आकर्षक है। दूसरी सुन्दर मूर्ति ललितासन में बैठे हुए कुबेर की है। उनके दायें हाथ में मधुपात्र तथा बायें में थैली है, जिसे एक नेवले के रूप में दिखाया गया है। कुबेर की इस मूर्ति की चौकी

पर ई० आठवीं शती का एक लेख भी उत्कीर्ण है। इनके अतिरिक्त सप्तमातृका, शिव-पार्वती, सूर्य, विष्णु, माहेश्वरी, हरिहर, महिषमर्दिनी आदि की भी कई कलापूर्ण मूर्तियां यहां रखी हैं। इन मूर्तियों का समय आठवीं से ग्यारहवीं शती तक है।

"बैजनाथ के मुख्य मन्दिर-समूह से कुछ दूर पर सत्यनारायण, रकस देवा (राक्षसदेव) तथा लक्ष्मी के मन्दिर हैं। इनमें भी अनेक सुन्दर मूर्तियां संग्रहीत हैं। सत्यनारायण मन्दिर की चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा विशेष रूप से दर्शनीय है। यह काले पालिशदार पत्थर की बनी है और बहुत विशाल है। इसके चारों ओर अनेक देवी-देवताओं का चित्रण है।"*

सुप्रसिद्ध विद्वान एवं पर्यटक श्री स्वामी प्रणवानन्द जी ने अपनी पुस्तक कैलास मानसरोवर में इन मंदिरों की कला को भारत की उत्कृष्ट कला का नमूना माना है।

बैजनाथ से थोड़ी दूरी पर तेलीहाट नाम का एक ग्राम है। यहां भी अनेक मूर्तियां हैं जो बैजनाथ की मूर्तियों की समकालीन समझी जाती हैं। यहां कत्यूरी राजाओं की एक गद्दी भी स्थापित है। यहां के मन्दिरों में लक्ष्मीनारायण सत्य-नारायण, राक्षस देवल के मंदिर उल्लेखनीय हैं।

कोसानी बैजनाथ से लगभग पांच मील दूरी पर एक दर्शनीय एवं स्वास्थ्यप्रद स्थान है। यहां विश्व-वन्दनीय, युग पुरुष महात्मा गांधी जी ने कुछ समय तक निवास किया था। उन्होंने यहीं पर अपनी 'अनासक्ति योग' पुस्तक की रचना की थी। अब यहां गांधी जी की शिष्या—एक विदेशी महिला सरला बहिन एक आश्रम चला रही हैं। उन्होंने इस क्षेत्र के रहने वालों की बड़ी सेवा की है। वह मुख्य रूप से गांधी जी के सिद्धान्तों का प्रचार करती हैं।

बागेश्वर भी एक दर्शनीय स्थान है। यह नगर बैजनाथ से १४ मील दूर सरयू नदी के तट पर बसा है। इसके प्राचीन नाम 'वागीश्वर' और 'व्याघ्रीश्वर' भी मिलते हैं।

बागेश्वर के मंदिर में शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त यहां शिव पार्वती की एक सुन्दर मूर्ति है। मंदिर के बाहर चतुर्मुखी शिवलिङ्ग और दशावतार संयुक्त एक शिला-पट्ट दर्शनीय है।

इस मंदिर के समीप में भैरव का मंदिर है। इसमें शिव पार्वती, शेषशायी विष्णु, गणेश और चामुण्डा देवी की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियां हैं।

---

* युग युगों में उत्तर प्रदेश पृष्ठ १८

यहां सरयू के बीच में एक विशाल शिला है। इसको मार्कण्डेय शिला कहते हैं। कहा जाता है कि यहां मार्कण्डे ऋषि ने तप किया था और यहीं उन्होंने दुर्गा सप्तशती की रचना की थी।

बागेश्वर में प्रति वर्ष एक बड़ा मेला लगता है जिसमें भोटिया व्यापारी मुख्य रूपसे अपना माल लाते हैं।

द्वाराहाट भी एक उल्लेखनीय स्थान है। यहां भी अनेक मंदिर हैं। मंदिरों के तीन समूह हैं जो कचेहरी, मनिया और रतनदेव नाम से विख्यात हैं। इनमें से कुछ मंदिरों में कोई प्रतिमा नहीं है। मूर्तिभंजकों ने इन्हें बुरी तरह नष्ट किया।

यहां का गूजर देव का मंदिर कला की दृष्टि से सर्व श्रेष्ठ है। इसके सम्बन्ध में श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने लिखा है—

"इसके चारों ओर दीवालों पर उत्कीर्ण शिला पट्ट लगे हैं। इन शिलापट्टों पर विविध आकर्षक मुद्राओं में स्त्रियों और पुरुषों के चित्रण हैं। कुछ पर पुष्पों का सुन्दर अलंकरण है तथा अन्य पर हाथियों की श्रेणियां दिखाई गई हैं। यह सब बड़ी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं। वास्तव में गूजर मंदिर इस क्षेत्र में अपने ढंग का अकेला है। खेद है कि इसे बुरी तरह तोड़ा गया है जिससे इस विशाल मंदिर का केवल नीचे का अंश शेष है।"

"द्वाराहाट में हर सिद्धि देवी, लक्ष्मी नारायण, मृत्युंजय, वनदेव, कुन्दवेवी आदि अन्य प्राचीन मंदिर हैं। इनमें कुछ मूर्तियां कला की सुन्दर कृतियां हैं। इन मूर्तियों का निर्माण काल लगभग आठवीं से तेरहवीं शती तक है।"*

इस क्षेत्र में और भी अनेक मंदिर हैं। पातालभुवनेश्वर के समीप एक प्राचीन गुफा है। इसका प्रवेश द्वार बहुत ही तंग है। इसके अन्दर रेंगकर चलना होता है। गुफा की दीवारों पर अनेक कलापूर्ण चित्र अंकित हैं। इनके बारे में कहा जाता है कि ये महाभारत कथा से सम्बन्धित है। यहां कई प्राचीन मंदिर भी हैं।

अलमोड़ा जिले को अब दो भागों में विभक्त करके, पिथौरागढ़ नाम से एक सीमावर्ती जिला और बना दिया गया है। इसकी सीमा तिब्बत से मिलती है। इस क्षेत्र में भी अनेक दर्शनीय स्थान हैं। यहां की सीमा से हिमालय के अनेक उन्नत शिखरों का दर्शन होता है। हम यहां इस जिले की एक सीमावर्ती जाति वनरावत का कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। इससे इस बात की एक झलक मिलेगी कि भारत के पर्वतीय शिखरों पर कितने सरल एवं भोली प्रकृति वाले व्यक्ति निवास करते रहे।

---

* युग युगों में उत्तर प्रदेश पृष्ठ २०

वनराजीव या वनरावत—

हिमालय की उपत्यकाओं में बसने वाली एक विशेष जाति को वनरावत या वनराजीव कहते हैं। हिमालय की गोद में बसने वाली यह जाति छल-छिद्र और कपट से सर्वथा मुक्त है। ये अपनी जाति के अतिरिक्त किसी दूसरी जाति वालों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते।

वनराजीव का अर्थ वन का कमल है और वनरावत का अर्थ वन के राजा से है। रावत का अर्थ कोष में छोटा राजा, शूरवीर, सरदार, सामंत एवं एक क्षत्रिय जाति दिया है। वनराजीव का तात्पर्य भी वन के राजा से ही है।

वनराजीव अलमोड़ा जिले के उस ऊंचे पर्वत शिखर पर रहते हैं जिसकी सीमा तिब्बत से मिल जाती है। अलमोड़ा जिले का यह भाग अब पिथौरागढ़ जिले में आ गया है।

वनराजीव एक कबीले के रूप में वनों में निवास करते हैं। कुछ परिवार अपना एक राजा चुन लेते हैं और वही उन सब पर शासन करता है। ये लोग बड़े परिश्रमी होते हैं। गांवों और नगरों में नहीं आते। जंगलों में रहकर अपनी आवश्यकताएं पूरी करते हैं। ये लोग भेड़-बकरी पालते हैं। ऊन से अपने लिए वस्त्र तैयार करते हैं और उन्हीं का उपयोग करते हैं।

ये लोग काष्ठ के अनेक प्रकार के बर्तन तैयार करते हैं। एक मित्र ने हमें इनके तैयार किए एक-दो बर्तन दिखाए भी। इन बर्तनों में दही जमाने के मर्तबान जैसे पात्र, तरह-तरह की प्यालियां, आटा गूंथने का कूंडा, कटोरे, चम्मच आदि होते हैं। ये सब पात्र मजबूत लकड़ी के बने होते हैं। पर्वतों में दही जमाने के बर्तन को ठेकी तथा खटौते को पाई कहते हैं। ये लोग पर्वतों की जड़ी-बूटियां, जानवरों की खालें और लकड़ी आदि वस्तुएं भी एकत्रित करते हैं।

इस जाति में वस्तुओं के आदान-प्रदान की विचित्र प्रथा है। ये लोग अपनी वस्तुओं को किसी गांव के समीप मार्ग पर रख आते हैं। वहां से आने-जाने वाले उन वस्तुओं को देखकर जो वस्तु अपने लिए आवश्यक समझते हैं ले लेते हैं और उसके स्थान में अनाज, चावल या अन्य कोई दूसरी वस्तु रख देते हैं। वनरावत अपनी वस्तु के बदले में उन वस्तुओं को ले जाते हैं। इस कार्य में पूरी ईमानदारी बरती जाती है। वनरावत की वस्तु लेने वाला व्यक्ति उचित मात्रा में ही सामान रखता है। कम सामान रखने को वह ऐसा समझता है कि देवता का उसपर प्रकोप हो जाएगा।

काष्ठ की वस्तुओं के अतिरिक्त ये लोग अपना दूसरा सामान भी वस्तुओं से परिवर्तन के लिए रखते हैं, जिनमें जंगल की जड़ी-बूटियां अधिक होती हैं।

अभी इस जाति में ज्ञान का प्रकाश नहीं पहुंच पाया है। अभी तो ये लोग किसी दूसरे ही लोक के प्राणी समझे जा रहे हैं। कहा जाता है कि इनके अनेक कुटुम्ब हैं। प्रत्येक कुटुम्ब एक स्वतंत्र इकाई है। उनका अपना एक राजा है। वही सारे व्यक्तियों पर शासन करता है। एक कुटुम्ब का दूसरे कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध रहता है। वे एक-दूसरे से ऐसे ही मिलते हैं जैसे एक राजा दूसरे राजा से मिलता है।

ये लोग बड़े निर्भीक होते हैं। वन के शान्त वातावरण में रह कर ये अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। वन के जंगली जानवरों से इनको भय नहीं। इनका संसार बहुत छोटा है। वन के छोटे से भाग को ही ये लोग अपना संसार समझते हैं। कहीं आने-जाने से इनको कोई मतलब नहीं।

हाल ही में योगी प्रेमवर्णी जी ने उन पर्वतों का भ्रमण किया था जिसमें वन-रावत निवास करते हैं। उन्होंने बताया कि मैंने कुछ व्यक्तियों से भेंट भीकी थी। ये लोग वस्त्र पहनते हैं। अब धीरे धीरे ये अन्य व्यक्तियों से भी मिलने-जुलने लगे हैं।

सीमान्त वासी भोटिया—

मैंने माना और नीति घाटी के प्रसंग में भोटिया जाति के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख किया है। परन्तु यहां इनके बारे में कुछ विस्तृत विवरण दिया जा रहा है।

हिमालय की शृंखलाओं में बसे भोटिया सीमावर्ती प्रदेश के धर्म, सामाजिक जीवन एवं रहन-सहन की अलग ही झांकी प्रस्तुत करते हैं। भारत और तिब्बत दोनों देशों के साथ इनका सम्पर्क रहा परन्तु ये अपने विश्वासों में स्वतंत्र रहे। इन्होंने न तो भारत की वर्तमान चटक-मटक को अपनाया है और न ये तिब्बतियों की तरह 'दकियानूसी' बने हैं।

उत्तरी सीमान्त क्षेत्र की पांच प्रमुख घाटियां है। इन पांचों घाटियों में ये लोग बसे हैं। इन घाटियों में गंगा, अलकनन्दा, यमुना और काली जैसी नदियां अनेकों जल धाराओं को साथ लेकर मैदान की ओर जाती हैं। हिमालय की इन पांच घाटियों के साथ भारत का तिब्बत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

हिमालय की हिमाच्छादित पर्वतमाला में ये लोग न जाने कितनी शताब्दियों से बसे हुये हैं। हिम से ढकी चोटियां, पिघलते हिम की नदियां, और ऊंची नीची पर्वत श्रेणियां इनके क्रीड़ा-स्थल रहे हैं। इनके साथ इनके जीवन की विविध गतिविधियों का अनेक शताब्दियों से सम्बन्ध चला आ रहा है। ये लोग कुमायूं, नेपाल, सिक्किम, भूटान और पूर्वी तिब्बत में आबाद है। इन स्थानों में रहने वाले भोटिया मुख्य रूप से दो भागों में बंटे हैं। उत्तराखंड के भोटियों का सम्बन्ध माना, नीति और जोहर घाटियों से है। ये अन्य स्थानों के भोटियों से धार्मिक विश्वासों में भिन्न है।

इनमें [illegible] हिन्दू धर्म को मानते हैं जबकि नेपाल, सिक्किम और भूटान के भोटिया बौद्ध धर्म को मानने वाले हैं।

हिमालय की ये पांचों घाटियां एक दूसरे से बहुत दूरी पर हैं अतः ये लोग एक दूसरे के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जान पाते। इन घाटियों में रहने वाले भोटिया परिवार अपने क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं।

पांचों घाटियों के भोटिया जहां सांस्कृतिक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं वहां उनकी भाषा में भी बड़ा अन्तर है। पूर्वी क्षेत्र के भोटिया उत्तराखंड की माना और नीति घाटी के भोटियाओं की भाषा नहीं समझ पाते। उत्तराखंड के भोटिया पर्वतीय हिन्दी मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं। इनमें से कुछ तो अच्छी हिन्दी बोलने लगे हैं। ये लोग आपस में नहीं मिलते जुलते इसका मुख्य कारण यह है कि इनको अपने क्षेत्र को छोड़कर एक दूसरे के क्षेत्र में आने जाने का अवसर ही नहीं मिलता।

पूर्वी क्षेत्र के दरभिया, व्यांसी और पौंडसी भोटिया एक दूसरे से मिलते-जुलते रहते हैं। इनमें विवाह सम्बन्ध भी होते हैं और इनके रहन-सहन और खान-पान में भी समानता पाई जाती है। इनकी भाषा में तिब्बती और बर्मी दोनों भाषाओं का मिश्रण पाया जाता है।

उत्तराखंड के भोटियों के प्रदेश को मल्ल-पैनखंडा कहा गया है। ऐसा समझा जाता है कि ये लोग तिब्बत से आए। इनके बारे में मि० ट्रेल का कहना है—"इनकी मुखाकृति, भाषा, धर्म, रीति रिवाज सभी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इस प्रदेश के वर्तमान निवासी तिब्बत के निकटस्थ तारतार प्रदेश के रहने वाले हैं।"*

मल्ल पैनखंडा क्षेत्र के गढ़वाल में आ जाने पर भोटिया गढ़वाल के प्रति पूर्ण स्वामीभक्त बन गये। इन्होंने अपने व्यापार को ही मुख्य समझा जो भारत और तिब्बत दोनों से सम्बन्ध रखता था।

बदरीनाथ, जोशीमठ दो प्रमुख धार्मिक केन्द्रों के कारण उत्तराखंड के भोटियों का सम्बन्ध भारत की धार्मिक मान्यताओं और परम्पराओं के साथ विशेष रूपसे जुड़ा रहा। दुर्गम पर्वतों में रहते हुये भी ये लोग इधर गढ़वाल के श्रीनगर की मंडी में भी व्यापार के लिये आते रहे। इतना ही नहीं इन्होंने यहां की निचली घाटियों में अपना शीतकाल बिताकर भारतीय संस्कृति की अनेक बातों को अपनाया।

इन लोगों ने तिब्बत की मंडियों को भारत का चावल, गेहूं और जौ पहुंचाकर वहां की ऊन और नमक को भारत लाकर अपना पालन पोषण किया। इनमें से कुछ धनिक भोटिया तिब्बत के डोंगपा लोगों से लेन देन भी करते रहे।

---

* गढ़वाल गजेटियर पृष्ठ ४२

इनके व्यापार का माध्यम रुपया पैसा नहीं रहा किन्तु वस्तुओं के आदान प्रदान से ही ये अपना सारा व्यापार चलाते थे। पुरानी बात है जब मैंने माना घाटी के एक भोटिया को अपना चावल एक तिब्बती को देते देखा था और बदले में उसने नमक दिया था। वस्तुओं का आदान प्रदान ये लोग भेड़ की लाद के द्वारा करते थे। एक समय था जब चावल की एक लाद के बदले तिब्बती तीन लाद नमक देते थे।

भोटिया ऊनी वस्त्र बनाने में बड़े दक्ष माने जाते हैं। जहां इनको बारीक ऊन प्राप्त होती है, वहां ये शाल बनाते हैं। ऊनी वस्त्रों में ये लोई बनाते रहे हैं। इनमें से कुछ कालीन और थुलमे भी तैयार करते हैं।

भोटियों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि ये अपने कबीले और गांव को अधिक महत्व देते हैं। गांव का मुखिया ही सारे गांव का शासक माना जाता है। वही विवादास्पद मामलों का निर्णय करता है।

तिब्बत के साथ इनका जबसे सम्बन्ध टूटा है तब से ये लोग आर्थिक संकट मे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन्होंने व्यापार के अतिरिक्त कृषि को नहीं अपनाया। परन्तु अब ये नई परिस्थितियों के अनुसार अन्य कामों को अपना रहे हैं। माना घाटी के भोटियों को मैंने आलू की खेती करते देखा है। अब ये कृषि की ओर ध्यान दे रहे हैं और पर्वतों की नई योजनाओं में सहायक बन रहे हैं।

ये जाति अब तक केवल हिमालय के शिखरों और घाटियों तक ही सीमित रही परन्तु अब इसमें काफी परिवर्तन आने लगा है और ये लोग शिक्षा की ओर भी अग्रसर होने लगे हैं। इनके अंध विश्वासों में भी अब कुछ अन्तर पड़ने लगा है। इसका प्रमाण यह है कि जहां ये पहले रोगी होने पर डाक्टर के पास जाना बुरा समझते थे, वहां अब ये डाक्टरों और वैद्यों की दवाइयों का लाभ उठाने लगे हैं।

नेलंग घाटी में जाड़—

हिमालय में जाड़ भी एक उल्लेखनीय जाति है। ये लोग टिहरी गढ़वाल, उत्तरकाशी और अलमोड़ा जिलों के ऊंचे ऊंचे पर्वत शिखरों पर रहते हैं। शीत में ये लोग नीचे उतर आते हैं। मैंने इन तीनों जिलों के ही जाड़ लोगों को देखा है परन्तु यहां मैं नेलंग घाटी के जाड़ों का विशेष उल्लेख कर रहा हूं।

इतिहासकारों का कहना है कि ये लोग किसी समय तिब्बत से आए। ये लोग गरीब थे और तिब्बती अधिकारी इनपर अत्याचार करते थे। अतः वहां से आकर ये लोग हिमालय की घाटियों में बस गए।

जाड़ लोग तीन वर्गों में विभाजित हैं। भैर जाड़, खांचा और जाड़ इनके तीन वर्ग हैं। इनमें भैर जाड़ सबसे गरीब हैं। ये लोग भीख मांगकर अपना निर्वाह चलाते

नेलंग घाटी में जाड़ परिवार की एक झांकी

☆

हैं। उनकी सम्पत्ति 'जोई' (गाय) होती है। इसी पर ये लोग अपना घरेलू सामान लादते हैं। जहां ये पानी और ठहरने के लिए कोई गुफा देखते हैं, वहीं रहने लगते हैं। खांचा जाड़ घोड़े, खच्चर और गधे रखते हैं। इनका ये लोग पर्वत में रहने वालों के साथ व्यापार करके अपना भरण-पोषण करते हैं। तीसरे वर्ग के जाड़ अपने को सबसे ऊंचा मानते हैं। ये लोग अपने को राजपूत कहते हैं। इनके पास भेड़ों, बकरियों के झुंड के झुंड रहते हैं। हर्सिल में मैंने जाड़ों की एक बस्ती देखी। ये लोग बड़े ही खुशहाल दिखाई पड़े। स्त्रियां ऊन के तरह २ के वस्त्र बुनती हैं। इनके पास हजारों भेड़ें हैं।

नेलंग घाटी में मैंने एक जाड़ परिवार को डेरा डाले देखा उसके पास काफी खच्चर और घोड़े थे। वह तिब्बत के साथ व्यापार करता था। ११ हजार फुट ऊंची चोटी से उतरकर ये लोग लगभग ६ हजार फुट ऊंचाई पर आकर अपना शीतकाल व्यतीत करते हैं।

जिन लोगों के पास ऐसे जंगल हैं जिनमें कुछ खेती की जा सके वहां ये जो और फाफरा पैदा कर लेते हैं। ये लोग मांस का प्रयोग करते हैं। दाल चावल का प्रयोग भी करते हैं। शराब का इनमें बड़ा प्रचलन है। स्वयं शराब बनाकर, उसका प्रयोग करते हैं। इसे ये 'सूर' कहते है। चाय दिन भर उबलती रहती है। ये लोग नमक और घी डालकर भी चाय का प्रयोग करते है। चाय को तेज करने के लिये उसमें ये लोग किसी पहाड़ी वृक्ष की छाल को भी डालते हैं।

ये लोग बड़े परिश्रमी है। स्त्रियां सूर्य की किरणों के साथ अपना कामकाज प्रारम्भ कर देती है। घर के काम के अतिरिक्त ये ऊन की कताई बुनाई भी करती हैं। प्रसन्न चित्त, भोली और सरल प्रकृति की जाड़ स्त्रियां प्राचीन काल की किन्नरियां का स्मरण करा देती है। ये जंगल से पशुओं का चारा और जलाने की लकड़ी लाती है। इनके छोटे छोटे बच्चों को देखकर मन प्रसन्न हो जाता है।

ये लोग भी तिब्बत के साथ व्यापार करते रहे हैं। इधर से ये अनाज, कपड़ा, गुड़ आदि वस्तुयें ले जाते थे और बदले में ऊन, नमक, चाय और सुहागा आदि लाते थे।

इनमें जो सम्पन्न परिवार है, वे ऊनी वस्त्र का व्यापार करते है। इस व्यापार को जाड़ स्त्रियां अधिक दक्षता से चलाती हैं। उत्तरकाशी के मार्ग में डूंडा में ये लोग छः मास तक रहकर अनेक प्रकार के ऊनी वस्त्र तैयार करते है। झोंपड़ियां डालकर ये एक ग्राम-सा बसाकर रहते है।

जाड़ मेले और पर्वो को बड़ा ही महत्व देते हैं। स्त्रियां विविध प्रकार के रंगीन वस्त्रों को पहनकर मेले में जाती हैं। मेले को ये लोग 'दौड़' कहते हैं। उत्तरकाशी के माघ मेले में ये लोग काफी बड़ी संख्या में सम्मिलित होते है।

कुछ जाड़ घुमक्कड़ जाति में गिने जाते हैं। घूमते फिरते ही इनका जीवन चलता है। कुछ सम्पन्न परिवार अब ग्रीष्मकालीन ठिकानों में बसने लगे हैं।

धार्मिक दृष्टि से जाड़ बौद्ध हैं। ये लोग भगवान बुद्ध की पूजा करते हैं। ये बुद्ध की मूर्ति को अपने यहां रखना परमावश्यक समझते हैं और मूर्ति को ऊंचे से ऊंचे स्थान पर रखकर उसके सम्मुख मस्तक नवाते हैं। प्रत्येक जाड़ कबीला अपना एक पुजारी रखता है। वही इनके धार्मिक संस्कारों को कराता है। इनमें देवी और देवताओं के प्रति भी बड़ी श्रद्धा है। ये देवी के विविध रूपों की पूजा करते हैं। डूंडा के जाड़ नाकुरी के समीप रेणुका देवी की पूजा के लिये जाते हैं। वहां ये बकरों की बलि देते हैं। भूत और प्रेत बाधा से ये लोग बड़े डरते हैं। अंध विश्वास के ये शिकार रहे हैं। प्रेत-बाधा को दूर करने और देवता को प्रसन्न करने के लिये ये बकरे की बलि चढ़ाते हैं।

इनमें विवाह छोटी आयु में ही हो जाते हैं। विवाह के समय एक चांदी के पात्र में 'सूर' रक्खी जाती है। पुरोहित मंत्रोच्चारण करता रहता है और अतिथिजन उस चांदी के पात्र से 'सूर' पीते रहते हैं।

जाड़ लोग हिन्दी, गढ़वाली और तिब्बती तीनों भाषायें बोल लेते हैं। भारत के यात्रियों से सम्पर्क रहने के कारण ये हिन्दी को खूब समझने लगे हैं। गढ़वाली लोगों से भी इन का प्रतिदिन सम्पर्क रहता है। तिब्बत के साथ व्यापार करने के कारण ये तिब्बती भाषा सीखते रहे हैं। गढ़वाली गीतों को ये सस्वर गाते हैं।

मैंने यहां अल्मोड़ा जिले के कुछ स्थानों का विवरण देते हुये इस क्षेत्र की सीमावर्ती कई जातियों का भी उल्लेख किया है जो इस देश की सीमा के प्रहरी रहते हुये अपने पड़ौसी देशों के साथ सम्पर्क बनाये रहे।

नैनीताल—

अल्मोड़ा जिले के समान नैनीताल क्षेत्र भी हिमालय की पर्वत श्रेणियों में एक प्रमुख स्थान रहा है। इसके साथ भी हमारी सांस्कृतिक एवं धार्मिक गतिविधियों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। इस क्षेत्र के कई स्थान ऐसे हैं जिनके साथ पुराणों की अनेक कथाओं का सम्बन्ध है।

नैनीताल जिले के भावर क्षेत्र का ढिकुली एक ऐसा स्थान है, जहां महाभारत काल में पाण्डवों ने वास किया था। इस स्थान का प्राचीन नाम विराटपट्टन या विराट नगर बताया जाता है। इसके कई पर्वत शिखरों में देवताओं के वास की कथायें भी मिलती हैं।

नैनीताल समुद्रतट से ६३५० फुट ऊंचाई पर स्थित है। इसकी समीपवर्ती कुछ चोटियां इससे भी अधिक ऊंची हैं। यहां की कुछ चोटियों की ऊंचाई इस प्रकार है—

नाम चोटी	ऊंचाई	ताल से दूरी
चीना पीक	८५६८	३½ मील
किलबरी	८३००	५ मील
देवपत्त	७९९१	२½ मील
स्नोव्यु	७४५०	१½ मील
शेर का डांडा	७८९२	२½ मील

इनके अतिरिक्त चार मील के क्षेत्र में कुछ और चोटियां भी हैं। ताल और इन चोटियों के बीच में अनेक निवास योग्य बंगले भी बन गये हैं।

नैनीताल के मुख्य ताल के अतिरिक्त इसके समीप में और अनेक छोटे छोटे ताल भी हैं।

अंग्रेजी शासकों के अनुसार मि० बैटन ने सन् १८३९ में इसका पता चलाया। वह भीमताल से यहां शिकार के लिये आया था। उसके साथ उसका एक सम्बन्धी मि० पी० बैरन भी आया था। इन्होंने इस पर्वतीय प्रदेश के रहने वालों की सहायता से यहां न केवल शिकार किया, वरन् उन्होंने यहां की बहुत सी जानकारी भी प्राप्त की।

मि० बैरन ने अपनी नैनीताल यात्रा का विवरण 'आगरा अखबार' समाचार पत्र में छपवाया था। इसमें उन्होंने यहां के सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा की है।

इस क्षेत्र में शिव और शक्ति दोनों की पूजा की जाती रही है। वैसे जिस प्रकार केदारखंड में शिव को प्रधानता दी गई है उसी प्रकार यहा देवी शक्ति को महत्व दिया गया है। नैनीताल के तट पर नैनादेवी का मंदिर है। यहीं पर शिव मंदिर भी है। ताल के दूसरी ओर पाषाणी देवी का मंदिर है। ये दोनों देवी मंदिर इस क्षेत्र में बहुत पूज्य माने जाते हैं।

नैनीताल से ११ मील दूरी पर एक स्थान भीमताल नाम से प्रसिद्ध है। भीमताल एक सुविस्तृत ताल है। इसके तट पर एक मंदिर बना है जो भीमेश्वर मंदिर के नाम से विख्यात है। यह एक शिव मंदिर है।

इस मंदिर से लगभग एक फर्लाङ्ग की दूरी पर हिमालय का कर्कोटक शिखर है। पुराणों के अनुसार कर्कोटक नाम का एक नाग था। उसके नाम पर यहां एक बांबी भी बनी हुई है।

भीमेश्वर मंदिर के समीप सात छोटे छोटे पर्वत शिखर भी हैं। ये शिखर सप्त-ऋषियों के नाम पर सप्त ऋषि-शिखर कहलाते हैं।

इस क्षेत्र का एक शिखर छोटा कैलास नाम से विख्यात है। कैलास की प्रसिद्धि हो जाने पर यहां 'छोटे कैलास' को मान्यता दी गई। यह शिखर भीमेश्वर मंदिर से

पूर्वोत्तर में १२ मील की दूरी पर है। मार्ग बड़ा कठिन है अतः यहां पर्वतीय लोग ही पहुंचते हैं। शिवरात्रि के अवसर पर यहां एक बड़ा मेला लगता है।

छोटा कैलास के सम्बन्ध में यहां के रहने वालों को यह विश्वास है कि इस शिखर पर भी शिव और पार्वती ने वास किया था। किम्वदन्तियों के अनुसार यहां शिव ने पार्वती को योग सम्बन्धी ज्ञान कराया था।

नैनीताल जिले में उज्जनक एक प्राचीन तीर्थ स्थान है। इसके साथ पुराणों की कुछ कथाएं सम्वन्धित हैं। कुछ विद्वानों ने इसे ज्योतिर्लिङ्ग भीमशंकर का निवास स्थान माना है। इस मन्दिर का शिवलिङ्ग बहुत विशाल है जिसकी ऊंचाई मंदिर की दूसरी मंजिल तक चली गई है। मोटाई भी इसकी अधिक है। अधिक मोटाई होने के कारण इस लिङ्ग को 'मोटेश्वर' नाम से पुकारते हैं। यहां का मंदिर भी 'मोटेश्वर मंदिर' कहा जाता है।

इस मंदिर के पूर्व में भैरव मंदिर है। जिस प्रकार अल्मोड़ा के अनेक स्थानों पर भैरव की पूजा को महत्व दिया गया, उसी प्रकार नैनीताल जिले में भी भैरव के अनेक मंदिर मिलते हैं। पश्चिम की ओर भगवती बालसुन्दरी देवी का मंदिर है। यहां शिवरात्रि और चैत्र शुक्ला अष्टमी को मेले लगते हैं। कहा जाता है कि मुख्य मंदिर के चारों ओर १०८ रुद्र स्थापित किये गये। ये लिङ्ग मूर्तियां यहां के टीलों की खुदाई में मिलती रही हैं।

बाल सुन्दरी देवी मंदिर के पश्चिम में एक प्राचीन दुर्ग बताया जाता है। यह स्थान अब नष्टप्रायः हो गया है। यहां के लोग इसे 'किला' कहते हैं।

इस किले के साथ गुरु द्रोणाचार्य का सम्बन्ध मानते हैं। कहते हैं कि इस स्थान पर द्रोणाचार्य का आश्रम था। उन्होंने यहां कौरव और पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाई थी। कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि द्रोणाचार्य ने भीम की परीक्षा लेते हुये उनसे यहां का शिवलिङ्ग स्थापित कराया था। यही शिवलिङ्ग भीमशंकर लिङ्ग नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस स्थान के साथ मातृ-पितृ भक्त श्रवण कुमार की कथा भी जुड़ी है। इस किले के पश्चिमी भाग के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती चली आ रही है कि तीर्थाटन करते हुये यहां श्रवण कुमार आये थे। वे अपने माता पिता सहित इस स्थान पर कुछ समय तक रहे थे।

मंदिर के बाहर जो ताल है वह 'शिव गंगा कुण्ड' कहलाता है। कुण्ड के समीप कोसी नदी से निकली एक नहर बहती है। यहां एक छोटी सी नदी भी है जो 'बहुला' नदी कहलाती है।

नैनीताल जिले में भुवाली एक ऐसा स्थान है जो क्षय-रोगियों के लिये अत्यन्त स्वास्थप्रद माना जाता है। काशीपुर, हल्द्वानी और काठगोदाम नैनीताल जिले के प्रमुख स्थान हैं।

मि. एच. आर० नेविल आई. सी. एस. ने सन् १९०४ ई० में जो नैनीताल का गजेटियर तैयार किया उसमें उन्होंने इस प्रदेश के उच्च वर्ण के सम्बन्ध में लिखा है—'ये शंकराचार्य के अनुयायी थे'। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से इस क्षेत्र को महाभारत काल से सम्बन्धित बताया है।

धार्मिक दृष्टि से मि० नेविल के अनुसार यहां के रहने वाले ब्राह्मण मनु, याज्ञवल्क और पाराशर स्मृतियों के अनुसार आचरण करते थे। उनके लेखानुसार यहां सूर्य, विष्णु, शिव या महादेव, शक्ति और गणेश पांच देवताओं की पूजा को महत्व दिया गया।

यहां की जातियों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"उच्च वर्ण में ब्राह्मण, खस ब्राह्मण, राजपूत और खस राजपूत सम्मिलित किये गये। इनके अतिरिक्त यहां एक जाति 'डोम' है। इस जाति के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि इस पर सदा से ही अत्याचार किये गये। ब्राह्मणों ने उनको वेद और शास्त्र पढ़ने से वंचित ही नहीं रक्खा किन्तु इनके सुनने का भी उन्हें अधिकार नहीं दिया। वे यज्ञोपवीत भी धारण नहीं कर सकते थे।"

मुझे ऐसी कई घटनायें स्मरण हैं कि जब डोमों के डोला और पालकी निकालने पर उच्च वर्ण के लोगों ने उनपर प्रहार किये। परन्तु अब उस अंध-धार्मिक विश्वास को कानून द्वारा वर्जित कर दिया गया है। डोम अब शिक्षा प्राप्त करके समाज में अपना अन्य वर्णों जैसा स्थान बना रहे हैं।

मि० नेविल ने यहां के रहने वालों को पुनर्जन्म का मानने वाला बताया है। वे लिखते हैं—'यहां के रहने वाले कर्म को मानते थे। इनका विश्वास था कि मनुष्य अपने कर्मों का फल पाता है। यदि किसी का पुत्र मर जाता था तो वह यही समझ लेता था कि उसका इतने ही दिन का उसपर ऋण था। उसकी मृत्यु के पश्चात् वे दान पुण्य करते थे जिसे वे ऐसा मानते थे कि यदि उसका कुछ ऋण शेष रह गया होगा तो इससे उसकी पूर्ति हो जायगी।

उन्होंने यहां के रहने वालों को पौराणिक, बौद्ध और अंध विश्वासी कहा है। यहां के अंधविश्वासी आसुरी पूजा में भी विश्वास करते थे। इनके लिये प्रत्येक परिवार का एक रक्षक होता था जिसे ये लोग गन्तवा या जागरिया कहते थे। इनके द्वारा वे अपने ऊपर आई दैवी-विपत्तियों का निवारण कराते थे।

यहां ईसाइयों के मिशन स्थापित होने की एक लम्बी शृंखला चली आ रही है। १८५७ ई० के प्रथम स्वातंत्र युद्ध के समय यहां के मल्लीताल स्थान पर रेवरेण्ड डब्लू. बटलर बरेली से भागकर आया था। उसके साथ उसकी स्त्री और बच्चे भी थे। उसने यहां 'अमरीकन मैथोडिस्ट मिशन' का कार्य प्रारम्भ किया। उसने यहां १८५९ में मिशन हाल बनवाया। १८८० ई० में यहां रेवरेण्ड जे० चीनी ने मैथोडिस्ट

इंगिलश चर्च बनवाया जो यहां का एक विशाल चर्च है। यहां लड़के लड़कियों के कुछ स्कूल भी खोले गये और उनमें आने वाले बहुत से बालक बालिकाओं का धर्म परिवर्तन भी किया जैसा कि उन्होंने हिमालय के अन्य पर्वत शिखरों में बसे नगरों में किया था। सन् १९०१ की जनगणना के अनुसार नैनीताल जिले में इनकी संख्या १४१७ थी।

अन्य जिलों के समान यहां भी आर्य समाज ने ईसाई धर्म के विरुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार किया। उन्होंने यहां आर्य समाज मंदिर बनाया। इस जिले में सन् १९०१ में आर्यों की संख्या २१२ थी। इतनी थोड़ी संख्या में होते हुये भी इन्होंने हिन्दुओं को विधर्मी होने से बचाने में बड़ा सक्रिय भाग लिया और डोम जाति के सामाजिक अधिकारों की बड़ी रक्षा की।

वन विभाग की यहां १८६८ ई० में स्थापना हुई। इससे अंग्रेजों ने बड़ा लाभ उठाया। साल, सागौन, ओक और बांस की यहां मंडियां बनाकर वे प्रतिवर्ष लाखों रुपया कमाते रहे।

हिमालय में शिमला—

उत्तर प्रदेश के तीर्थ स्थानों और प्रमुख नगरों के विवरण के साथ-साथ हिमालय पर्वत शिखर पर बसे शिमला नगर का भी कुछ उल्लेख करना आवश्यक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में यह स्थान प्रकाश में आया। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ में अंग्रेजों ने इसे अपना ग्रीष्म कालीन केन्द्र बनाया। भारत के वायसराय यहां आते रहे। यहां अनेक सरकारी भवन बनाये गये। भारत का शासन चलाने वाले अंग्रेजों ने यहां अपने अनेक कार्यालय भी बनाये। एक समय था जब उन्होंने यहां भारतीयों को प्रवेश करने से वंचित रखा। कुछ समय बीतने नर उन्होंने इसके कुछ भागों में भारतीयों का प्रवेश निशिद्ध घोषित किया। परन्तु उनका काम बिना भारतीयों के नहीं चल पाता था। अतः उन्होंने शिमला की कुछ पहाड़ियों पर भारतीयों को भी रहने की आज्ञा प्रदान की।

भारत की उस दासता के युग में शिमला में गोरा अंग्रेज ही सर्वेसर्वा था। उसके सामने से किसी भी हिन्दुस्तानी को जाने का साहस न होता था। होटलों में उनको जाने पर रोक रही।

अंग्रेजों ने अपने ही शासन काल में शिमला प्रवेश की आज्ञा देकर शिमले का विस्तार किया। अमरीका के ईसाई मिश्नरियों ने यहां अपने मिशन स्थापित करके कई स्कूल खोले। उन्होंने ईसाई धर्म का खुलकर प्रचार किया। मसूरी के समान उन्होंने यहां भी पर्वतों में रहने वाले हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन किया।

आर्य समाज के कार्यकर्ताओं ने उनके प्रचार को रोकने और वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिये यहां आर्य समाज की स्थापना की। यहां के लोअर बाजार में एक सुन्दर आर्य समाज मंदिर बनवाया गया। दूसरा मंदिर रिज रोड पर बना। इस तरह से आर्य समाज ने ईसाई मिशनरियों का पूरा मुकाबला किया।

श्री सनातन धर्म की ओर से भी यहां सनातन धर्म का प्रचार किया गया। उन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये काफी काम किया।

शिमला के समीप में अनेक प्राचीन मंदिर भी हैं। इस प्रदेश में शक्ति पूजा को विशेष मान्यता दी गई। शिमला स्टेशन के समीप तारादेवी का मंदिर है। कंडा-घाट स्टेशन के समीप में भी देवी का एक प्राचीन मंदिर है।

शिमला के सरकारी भवन के समीप का मंदिर काफी प्राचीन माना जाता है। इसे कोटि देवी का मंदिर कहते हैं। शिमला की जाखू चोटी पर भी एक प्राचीन मंदिर है जो 'हनुमान मंदिर' कहलाता है।

मि० स्टोक्स पर वैदिक धर्म का प्रभाव—

शिमला की पहाड़ियों के साथ अमरीकी मिशनरी मि० सैमुअल ईवान्स स्टोक्स का नाम जुड़ा है। ये १९०५ में डा० कार्लटन के मिशन के साथ सपाटू (हिमाचल) के कोढ़ीखाने में सेवा कार्य करने के लिए आए। कांगड़ा जिले में भूकम्प आने से जन और धन की अपार हानि होने पर उन्होंने ईसाई मिशन में रहकर बहुत काम किया।

सपाटू के कोढ़ीखाने में मि० स्टोक्स भारतीय संन्यासी के वेष में रहते थे। १९०८ में वे अमरीका चले गए। १९१० में जब वे भारत लौटे तो उन्होंने सपाटू के कोढ़ीखाने को छोड़ दिया और वे शिमला के पास कोटगढ़ आ गये। यहां के मिशन हाई स्कूल में रह कर उन्होंने शिक्षक और प्रबन्धक का कार्य भार संभाला।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि हिमालय की पहाड़ियों में बसे पर्वतीय भाई बहिनों को ईसाई मिशनरियों ने काफी संख्या में ईसाई धर्म में परिवर्तित किया।

१९१२ ई० मे मि० स्टोक्स ने एग्नेस बेंजामिन नामक एक ईसाई लड़की से विवाह किया। यह लड़की पहले राजपूत थी और इसे ईसाई बना लिया गया था। विवाह के उपरान्त मि० स्टोक्स अपनी पत्नी सहित अमरीका चले गए। १९१३ में अमरीका में उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। १९१५ में मि० स्टोक्स भारत लौट आए। इस बार वह मिशन का काम छोड़कर सेना में भरती हो गए। कुछ वर्षों के पश्चात् उन्होंने सेना की नौकरी छोड़ दी। कोटगढ़ को छोड़ कर वे धानाधार के पास बारो-बाग गांव में बस गए।

मि० स्टोक्स ने यहां बहुत बड़ी भूमि प्राप्त करके चाय की खेती प्रारम्भ की और बाद में सेव का एक बड़ा बगीचा लगाया। वे अमरीका से सेव की आय से उत्तम प्रकार की पौद लाकर अपने बगीचे को बढ़ाते रहे। इसमें उन्हें बड़ी सफलता मिली और शिमले में मि० 'स्टोक्स गार्डन' के सेव बड़े प्रसिद्ध हो गए। बारोबाग में मि० स्टोक्स ने एक किला बनवाया जो 'स्टोक्स फ़ोर्ट नाम से विख्यात हुआ।

मि० स्टोक्स ने ईसाई होते हुए भी हिन्दू धर्म को जानने का प्रयत्न किया। उन्होंने १९१७ ई० में गीता रहस्य का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् १९२० में उन्होंने भारतीय अध्यात्मवाद पर अंग्रेजी में कई लेख लिखे। उनके कुछ लेख अमरीकी पत्रों में भी छपे।

मि० स्टोक्स पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में सक्रिय योग दिया परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन्हें जेल नहीं भेजा।

मि० स्टोक्स अंग्रेज़ों की आंखों में खटकते रहे। उनकी गतिविधियों को उन्होंने आपत्तिजनक समझा। परिणाम यह हुआ कि मि० स्टोक्स १९३० में जेल भेज दिये गये। जेल में पहुंचकर उन्होंने विदेशी जेलबंदियों को मिलने वाली सुविधाओं से इंकार कर दिया और जेल में अन्य भारतीय बंदियों के समान ही रहना पसन्द किया। वे खादी के समर्थक रहे। लेखक ने धोती, कुरते में उन्हें दो बार देखा था। गांधी टोपी लगाकर वे बड़े सुन्दर लगते थे। महात्मा गांधी जी उनसे बड़ा प्रेम करते थे।

मि० स्टोक्स पर आर्य समाज के प्रचारकों का बराबर प्रभाव पड़ता रहा। आदरणीय आनंद स्वामी (पूर्व महात्मा खुशहालचंद) ने शिमला-यात्रा में बताया था कि मि० स्टोक्स आर्य समाज के सत्संगों में भाग लेने के कारण वैदिक धर्म की ओर झुके।

उन्होंने हिन्दी का अभ्यास किया और वे शीघ्र ही हिन्दी में लिखने पढ़ने लगे। उन्होंने पारिवारिक उपासना नाम से एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने यजुर्वेद, गीता और उपनिषदों के मंत्रों और श्लोकों को सम्मान दिया। उन्होंने इस पुस्तक में दैनिक संध्या की भी विधि दी।

इस तरह से मि० स्टोक्स ईसाई धर्म को छोड़कर वैदिक धर्मावलम्बी बन गए। १९३२ ई० में उन्होंने सपरिवार हिन्दू धर्म की दीक्षा ली। उन्होंने अपना व अपने परिवार के सभी व्यक्तियों का नाम परिवर्तन भी कराया। उनका नाम सत्यानन्द, उनकी पत्नी का प्रिया देवी और बड़े पुत्र का प्रेमचन्द रक्खा गया। उनके दो अन्य पुत्रों के नाम प्रीतमचन्द और लालचन्द हैं। उनकी दो पुत्रियां भी हिन्दू धर्म में दीक्षित हुईं।

श्री सत्यानन्द ने १९४२ में बारोबाग में 'परम ज्योति मंदिर' का निर्माण कराया। इस मंदिर की दीवारों पर ऋग्वेद के मंत्र, गायत्री मंत्र, उपनिषद, गीता और महाभारत के शिक्षाप्रद श्लोक अंकित कराये गए हैं।

सत्यानन्द की पत्नी प्रियादेवी ने अपना सारा जीवन जन सेवा के कार्यों में अर्पित किया। ग्रामीण जनता के कष्टों के निवारण में उन्होंने सदा सहयोग किया।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही कि उसमें प्रविष्ठ होने वाले अनेक विदेशी उसी संस्कृति के पोषक एवं प्रशंसक बने।

श्री स्टोक्स के समान अमरीका वासी मि० रोनालड निक्सन ने हिन्दू धर्म को ग्रहण किया। अमरीका से वे १९३० ई० में भारत आये थे। घूमते फिरते वे अलमोड़ा पहुंचे। वहां से वे छः मील दूरी पर एक छोटे से बंगले में रहने लगे। उनपर हिन्दू धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया। उनपर महामना मदन मोहन मालवीय जी का बड़ा प्रभाव पड़ा। वृन्दावन के गौड़िया सम्प्रदाय में वे दीक्षित होकर श्रीकृष्ण प्रेम भिखारी नाम से विख्यात हुये। अपने निवास स्थान का नाम उन्होंने उत्तर वृन्दावन रक्खा था। उन्होंने गीता भाष्य एवं उपनिषद भाष्य दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं।

वे बड़े हंसमुख व्यक्ति थे। गीता की एक छोटी-सी प्रति वे अपने गले में लटकाये रखते थे। ७२ वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ।

शिमला के प्रसंग में हिन्दी के कार्य के विस्तार की कुछ चर्चा कर देना भी आवश्यक है। यहां १९३८ ई० में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान प० बाबूराव विष्णु पराड़कर की अध्यक्षता में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का वार्षिक अधिवेशन बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ था।

भारत भर के साहित्यकारों, कवियों एवं विद्वानों ने अधिवेशन में भाग लिया था। इनमें राजर्षि पुरुषोत्तम दास जी टंडन का नाम स्मरणीय है।

अधिवेशन का प्रबन्ध भार पंजाब के भाई बहिनों ने वहन किया था। इनमें श्रीमती शन्नोदेवी जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आर्य समाज के कार्यकर्ताओं ने सारी व्यवस्था बड़े सुन्दर ढंग से की थी। लोअर बाजार आर्य समाज मंदिर में निवास एवं भोजन का प्रबन्ध था और रिज रोड के आर्य समाज मंदिर में अधिवेशन की बैठक होती थीं।

उस समय शिमला के उच्च शिखर से न केवल हिन्दी का जय घोष गूंजा किन्तु भारतीय संस्कृति का पावन संदेश भी प्रसारित हुआ। राजर्षि टंडन जी ने अपने एक भाषण में भारतीय संस्कृति की बड़े सुन्दर ढंग से विवेचना की थी।

मुझे तपोनिष्ठ, आचार्य नरदेव शास्त्री जी के साथ सम्मेलन में भाग लेने का अवसर मिला था। मैंने उस समय ऐसा अनुभव किया था कि हिन्दी निश्चय ही सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीय भाषा बनेगी। उस समय पंजाब के भाई बहिनों में हिन्दी के विस्तार

और प्रचार के लिये बड़ा उत्साह था। कुछ विद्वानों का उस समय कहना था—'हिन्दी हमारी सांस्कृतिक निधि की रक्षा करने वाली है।'

हम शिमला और पश्चिमी पंजाब एवं कश्मीर के समीपवर्ती कुछ स्थानों का संक्षिप्त विवरण भी यहां देना आवश्यक समझते हैं। अनेक शताब्दियों से ये स्थान धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित रहे हैं।

शिमला से जो मार्ग तिब्बत को गया है उसपर लगभग ९० मील दूरी पर रामपुर बुशहर स्थान है। यहां से सतलज पार ७ मील पर नृमुण्ड है। यहां अम्बिका देवी का मंदिर है। कहा जाता है कि यहां परशुराम ने तपस्या की थी। यहां एक गुफा में परशुराम की चांदी की मूर्ति है। नृमुण्ड में लक्ष्मीनारायण ईशेश्वर महादेव, चण्डीदेवी, विश्वेश्वर आदि मंदिर हैं।

हिमाच्छादित शिखर पर नृमुण्ड से ३२ मील दूरी पर श्रीखण्ड महादेव का मंदिर है। कहा जाता है कि यहां भस्मासुर ने तप किया था।

ज्वालामुखी, पठानकोट से आगे एक प्रमुख तीर्थ है। यहां एक पर्वत पर ज्वालामुखी मंदिर है। इसे ज्वालादेवी का मंदिर भी कहते हैं।

पौराणिकों के अनुसार यह ५१ शक्तिपीठों में से एक है। उनका कहना है कि यहां सती की जिह्वा गिरी थी। मंदिर के भीतर पृथ्वी में से एक प्रकाशमान ज्योति निकलती है जिसे 'ज्वालादेवी' कहते हैं। मंदिर की भित्ति के दस भागों में से भी ज्योति निकलती रहती है। इनमें से कुछ बुझती और प्रकाशित होती रहती हैं और कुछ निरन्तर प्रकाशित रहती हैं।

यहां एक कुयें से भी दो प्रकाश ्ुञ्ज निकलते हैं। इसके पास में एक जल का कुआं है जिसे गुरु गोरखनाथ की डिमी कहते हैं। यहां काली देवी का मंदिर भी है यहां लाखों यात्री देवी की पूजा के लिये आते हैं।

पठानकोट से ५९ मील दूरी पर एक स्थान कांगड़ा है। यहां से तीन मील दूरी पर महामाया देवी का मंदिर है।

कांगड़ा से ९ मील पर चामुण्डा देवी का मंदिर है। यहां वाण गंगा वहती है। इस ओर और भी अनेक मंदिर हैं। इधर देवी की पूजा को विशेष महत्व दिया गया है।

कुल्लु क्षेत्र में भी अनेक प्राचीन तीर्थ हैं। इनमें एक थान जगतसुख है। इसका प्राचीन नाम अनास्त है। इसके समीप धौम्यगंगा वहती है। पौराणिकों के अनुसार यहां महाभारत कालीन पाण्डवों के आचार्य धौम्य ऋषि निवास करते थे। उन्होंने पाण्डवों से यहां शिवलिङ्ग की स्थापना कराई थी। यह शिवलिङ्ग 'विम्वकेश्वर' नाम

से विख्यात है। यह मंदिर प्राचीन काल का माना जाता है। इसके समीप गायत्री देवी का मंदिर है।

जगतसुख से थोड़ी दूरी पर हामटा नाम का एक पर्वत शिखर है। इसका प्राचीन नाम हेमगिरि बताया जाता है। यहां अर्जुन गुफा नाम की एक गुफा है जिसके भीतर वीर अर्जुन की अष्ट-धातु-निर्मित एक विशाल मूर्ति है।

इस स्थान के साथ महाभारत कालीन अनेक कथायें जुड़ी हैं। कहा जाता है कि यहां अर्जुन ने बाण मारकर माता कुन्ती के पीने के लिये भूमि से पानी निकाला था।

जगतसुख से आगे लगभग डेढ़ मील पर त्रिवेणी संगम है। यहां धौम्यगंगा, व्यास गंगा और सौम्य गंगा का मिलन हुआ है। यहां त्रिवेणी स्नान का बड़ा माहात्म्य है।

त्रिवेणी संगम से आधा मील पर कलात कुण्ड नाम का एक स्थान है। कहा जाता है कि यहां कपिल मुनि का आश्रम था। यहां गर्म जल के कई कुण्ड और स्रोत हैं। कुण्ड के समीप एक छोटे से मन्दिर में कपिल मुनि की अष्ट-धातु-निर्मित एक मूर्ति स्थापित है।

कुल्लू के अन्तिम बस स्टेशन मानाली से डेढ़ मील दूरी पर वशिष्ठाश्रम है पौराणिक दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण स्थान है। यहां गर्म जल के तीन कुण्ड है। यहां वशिष्ठ की एक सुन्दर मूर्ति है। समीप में श्रीराम मंदिर है।

कांगड़े से १२ मील आगे धर्मशाला एक उल्लेखनीय नगर है। यहां से एक मील दूरी पर भागसूनाथ महादेव का मंदिर है। शिवरात्रि पर यहां बड़ा भारी मेला लगता है।

इस तरह से कांगड़ा और कुल्लू के अन्य अनेक स्थानो मे भी देवी देवताओं के मंदिर बने और उनको उसी प्रकार से मान्यता जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में स्थित तीर्थों को प्राप्त हुई थी।

इन क्षेत्रों से सम्बन्धित और भी ऐसे अनेक स्थान हो सकते हैं जो किसी न किसी रूप में भारत और भारतीय संस्कृति से सम्बन्ध रखते हैं।

काश्मीर से मिले लद्दाख से लेकर असम के उत्तरी भाग में दर्से नेफा तक का भाग भी हिमालय का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके साथ भारतीय संस्कृति का अटूट सम्बन्ध रहा है। इस क्षेत्र का सम्पूर्ण भाग किसी समय भारत से ही सम्बन्धित था। इस क्षेत्र के रहने वाले तिब्बत और चीन के साथ न केवल व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे किन्तु वे वहां धर्म प्रचार के लिये भी आते जाते थे।

चीन के आक्रमण के पश्चात् इस क्षेत्र की एक एक इंच भूमि का बड़ा महत्व हो गया है। भारत और चीन के बीच सीमांकन का प्रश्न गम्भीर रूप धारण किये हुये है। भारत सरकार ने लद्दाख से नेफा तक के क्षेत्र को पश्चिमी और पूर्वी दो भागों में विभक्त किया है। पश्चिमी भाग में लद्दाख और पूर्वी में नेफा दो मुख्य केन्द्र हैं।

दो देशों के बीच की सीमांकन रेखा का निश्चय किया जाना काफी कठिन काम समझा जाता है। सीमान्त का भारतीय रेखांकन सामान्यतः जल-विभाजक के सर्व मान्य सिद्धान्त के अनुरूप है।

लद्दाख क्षेत्र में यह सीमा भारत में सिन्धु नदी प्रणाली और चीन में पड़ने वाली यारखंड और युरुंग-काश नदी प्रणालियों के जल विभाजक के साथ साथ चलती है।

हम यहां मैकमोहन रेखा का भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं क्योंकि भारत और चीन के विवाद इस रेखा पर अधिक आधारित रहे हैं।

सन् १९१४ में भारत की तत्कालीन ब्रिटिश सरकार, चीन और तिब्वत का शिमला में जो सम्मेलन हुआ था, उसमें सर हेनरी मैकमोहन अंग्रेजी सरकार के प्रतिनिधि थे। २४ मार्च १९१४ को भारत और तिब्वत दोनों सरकारों के प्रतिनिधियों ने यह रेखा मान ली और संधि के मसविदे के साथ नक्शे पर यह अंकित भी कर दी गई। इस संधि पर भारत, तिब्वत और चीन तीनों देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये थे।

चीन अब मैकमोहन रेखा को अवैध बताता है और उसने एक तर्क यह दियाहै कि जिस संधि पत्र पर तिब्बत ने हस्ताक्षर किये थे, उसका उत्तरदायित्व चीन पर नहीं। परन्तु तिब्वत को संधि करने का उस समय पूर्ण अधिकार था। दूसरे उसने १८४२ में लद्दाख और काश्मीर के साथ एक संधि की थी, जिसके द्वारा पश्चिमी भाग में सीमा की पुष्टि और दोनों देशों के पारस्परिक व्यापार की व्यवस्था की गई थी।

लद्दाख और तिब्बत तथा सिक्यांग के बीच की भारतीय सीमा रेखा परम्परागत है जो कम से कम एक हजार वर्ष पुरानी है। लद्दाख के महाराजाओं के शाहीवृत्त में जो सतरहवीं शती में लिखा गया था, भारतीय सीमा रेखा की पुष्टि की गई है। जेसुइट पादरी इयोलिटो डेसीडेरी ने सन् १७१५–१६ में लद्दाख के प्रमुख नगर लेह से चीनके ल्हासा तक यात्रा की थी। उसने इस सीमा रेखा की पुष्टि की है। इसी प्रकार जेम्स फ्रेजर ने सन् १८२० में इस क्षेत्र की यात्रा की थी। उनके यात्रा विवरण द्वारा भी इस सीमा रेखा की पुष्टि होती है। भारतीय यात्री के सन् १८७३ ई० के यात्रा वृत्तों में भी इस सीमा रेखा का उल्लेख मिलता है।

लद्दाख में अक्षयचिन, लिंगजितांग और इसके दक्षिणी क्षेत्रों की झीलों से भारतीय ग्रामों के निवासी नमक निकालते थे और यहां अपने पशुओं को चराते थे।

जल विभाजक के अनुसार सीमा रेखा निश्चित किये जाने के सम्बन्ध में स्कन्ध पुराण का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इसमें बताया गया है कि गंगा की सभी सहायक नदियां केदारखंड में पड़ती हैं। इसके अनुसार तिब्बत का बहुत सा क्षेत्र भी किसी समय भारत में सम्मिलित था। साहित्यिक और ऐतिहासिक साक्ष्य से पता चलता है कि भारत और तिब्बत के बीच गढ़वाल क्षेत्र में परम्परागत सीमा सतलज-गंगा का जल विभाजक है। गढ़वाल और कुमायूं के कत्यूरी महाराज के एक ताम्र-लेख से भी पता चलता है कि गढ़वाल का हिन्दू राज्य सतलज-गंगा के जल विभाजक तक फैला हुआ था। गढ़वाल के सीमान्त इलाके सतलज-गंगा जल विभाजक तक सन् १८१५, १८४२, १८५६, १८६६ और १९२० के राजस्व अभिलेखों में सम्मिलित हैं। धार्मिक ग्रंथों और यात्रियों के विवरण के अनुसार परम्परागत सीमा हिमालय के साथ साथ चलती है। चीनी यात्री ह्वानसांग ने भी इस बात की पुष्टि की है।

लद्दाख के सम्बन्ध में स्वामी प्रणवानन्द जी ने अपने कैलास-मानसरोवर ग्रन्थ में लिखा है—"सातवीं शती में इस पर काश्मीर राज्य का अधिकार था। सन् ६९९ से ७३५ ई० तक काश्मीर पर राजा ललितादित्य ने राज्य किया। उसने मध्य एशिया और तिब्बत पर आक्रमण करके तिब्बत के पश्चिमी क्षेत्र के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया जिसमें लद्दाख भी सम्मिलित था।"

काश्मीर से अनेक विद्वान तिब्बत गये। उनमें से कुछ ने वहां बौद्ध धर्म को विस्तार देने का यत्न किया। इनमें 'निरुपा' नामके एक पंडित भी थे। वे तांत्रिक गुरु थे। तिब्बत के मिलारेपा ने इनको अपना महा-गुरु बनाया था।

लद्दाख के प्राचीन इतिहास से विदित होता है कि यहां के निवासी आर्य जाति से हैं। गिलगित की दरद जाति मूलतः आर्य मानी गई है। उत्तर की ओर रहने वाले मीन काश्मीर घाटी से गये माने जाते हैं। इनमें अधिकांश आर्यों के वंशज थे। यहां की तीसरी जाति में मंगोल सम्मिलित थे। वे मंगोल से आकर यहां बस गये थे।

यूनानी इतिहासकार हेरोडोट्स ने भारतीयों में सबसे लड़ाकू दरद जाति को बताया है। दरदों के प्राचीन गुफा-चित्रों और गीतों में उनके साहसी जीवन का अच्छा चित्रण है। ये लोग सांडों की पीठ पर खड़े होकर तीर का निशाना लगाते थे। हिमालय के जंस्कार क्षेत्र में मोनों के पुराने गढ़ों के खंडहर मिलते हैं, जिनसे लद्दाख में बसने वाली इस जाति की वीरता का पता चलता है। मंगोल भी मेहनती और लड़ाकू थे।

लद्दाख के प्राचीन इतिहास से विदित होता है कि दसवीं शती में राजा स्किद-इदे नमग्यान ने तिब्बत का एक बड़ा भाग विजय कर लिया था; यद्यपि उसकी सेना में केवल ३०० घुड़सवार थे। इस राजा के समय में लाहौल और स्पिती लद्दाख में मिला लिए गए थे। राजा-स्किद-इदे-नमग्यान ने अपने तीन पुत्रों में अपना राज्य बांट दिया था और जोजीला से रतोक तक का भाग बड़े लड़के को दिया था।

लद्दाख-विशेषज्ञ डा० फ्रांके का कथन है कि राजा नमग्यान के दोनों छोटे पुत्र राज्य का अलग अलग भाग पाने पर भी एक तरह से अपने बड़े भाई के अधीन थे। लेह के सभी शासक राजा नमग्यान के पूरे राज्य पर अपना अधिकार प्रगट करते रहे।

लद्दाख के एक राजा ने बारहवीं शती में कुल्लू पर भी आक्रमण किया था। उस समय वहां के शासक ने यह वचन दिया था— 'जब तक कैलास पर हिम और मानसरोवर में जल रहेगा, तब तक लद्दाख को कर देता रहूंगा।'

लद्दाख के हिन्दू राजा रिणछन ने चौदहवीं शती में काश्मीर घाटी पर आक्रमण किया। उस समय जोजीला क्षेत्र में तुर्की आक्रमण के फलस्वरूप अव्यवस्था फैली हुई थी। उसने लार के युद्ध में विजय प्राप्त की और वह काश्मीर का राजा बन गया। कहा जाता है कि उसने इस्लाम धर्म स्वीकार किया और वह सदरुद्दीन नाम से विख्यात हुआ।

शाहजहां बादशाह ने एक बार लद्दाख को जीतने का यत्न किया था। उसने औरंगजेब के साथ अपनी एक सेना लद्दाख भेजी थी। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने जो औरंगजेब के साथ गया था, लिखा है– पहाड़ों में सोलह दिन की कठिन यात्रा के पश्चात् मुगल सेना लद्दाख में घुसी और उसने एक किला ले लिया। परन्तु कश्मीर का सूबेदार, जो इस सेना का सेनापति था, पीछे हट आया क्योंकि उसे भय था कि उसकी सेना बर्फ में न फंस जाए। उसने किले की रक्षा के लिये अपनी कुछ सेना छोड़ दी थी। परन्तु बाद में वह भी खाद्य सामग्री की कमी के कारण किला छोड़कर लौट आई थी।

काश्मीर के महाराज गुलाबसिंह के समय में अगस्त १८३४ को चीनी लुटेरों ने लद्दाख पर आक्रमण किया। महाराज गुलाबसिंह ने सेनापति जोरावरसिंह को वहां भेजा। पोरग में उसने चीनी सैनिकों से मोर्चा लिया और उन्हें मारकर भगा दिया। १८४० में उन्होंने अवसाई पर आक्रमण किया। जोरावरसिंह ने इनको पुनः परास्त कर दिया। मानसरोवर तक के क्षेत्र पर जोरावरसिंह की सेनाओं ने अधिकार कर लिया। तकलाकोट में उन्होंने अपनी सैनिक छावनी बनाई। चीनियों ने कुछ तिब्बतियों को मिलाकर उनपर फिर एक भयंकर आक्रमण किया। इसमें जोरावरसिंह मारे गये। उस समय तिब्बत का जो क्षेत्र काश्मीर के अधिकार में था, वह फिर तिब्बतियों ने ले लिया। परन्तु लद्दाख काश्मीर राज्य का ही अंग बना रहा। इस युद्ध में लद्दाखियों ने बड़ी वीरता का परिचय दिया था।

लद्दाखी जन जीवन—

समुद्र तट से नौ हजार फुट से लेकर चौदह हजार फुट की ऊंचाई तक रहने वाले लद्दाखी बड़े परिश्रमी हैं। दुर्गम पहाड़ियों और बंजर प्रदेश में रहते हुये भी ये

वड़े प्रसन्नचित्त दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति ने उन्हें साहसी और पराक्रमी बना दिया है। लद्दाख के भूतपूर्व कमिश्नर मि० फ्रेडिक ड्यू का कहना है—'लद्दाखी ठंडी रात्रि में भी खुले में भूमि पर आराम से सो लेते हैं।'

तीन लद्दाखी अपनी वेष भूषा में

एक समय था जब ये लोग तीर कमान से अपनी रक्षा करते थे। लद्दाख के खलत्से में यह परम्परा थी कि खेत काटते समय गांव के आधे व्यक्ति खेत काटते थे और आधे तीर कमान से अपनी रक्षा करते थे।

लद्दाखी महिलायें बड़ी परिश्रमी होती हैं। युद्ध के समय वे पुरुषों की सहायता करती थीं। वे बड़ी निर्भीक हैं। विपत्ति आने पर वे कभी नहीं घबड़ातीं।

लद्दाखी महिलाओं को आभूषणों से बड़ा प्रेम है। कान, नाक और हाथों में वे अनेक प्रकार के आभूषण धारण करती हैं। शरीर से वे बड़ी हृष्ट-पुष्ट हैं। उनकी मुस्कराहट और उनका हंसमुख चेहरा मानव हृदय में प्रसन्नता के भाव भर देता है। बाहर से आने वालों के प्रति वे बड़ा सम्मान प्रगट करती हैं।

अधिकांश लद्दाखी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। लद्दाख में बौद्ध मठ और मंदिरों की भरमार है। इन्हें ये गोम्पा कहते हैं। लद्दाख के मुख्यालय लेह का न्यु गोम्पा और हेमिस दो महत्वपूर्ण केन्द्र हैं। बौद्ध मठों में लड़के और लड़कियों का अलग अलग शिक्षण-कार्य चलता है। इन मठों में से वे धार्मिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मठों में रहने वाले लड़के लामा और लड़कियां चोमो कहलाते हैं। इन्हें तभी तक मठों में रहने का अधिकार होता है जब तक वे अविवाहित रहते हैं। विवाह करने पर वे मठों को छोड़ देते हैं।

लद्दाख के मठों में प्राचीन धार्मिक ग्रंथों की मूल्यवान पाण्डुलिपियां भी संग्रहीत हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का कहना है—'इन पाण्डुलिपियों की खोज करके इन्हें प्रकाश में लाना जरूरी है।'

अधिकांश लद्दाखी खेती बाड़ी और पशुपालन का कार्य करते हैं। प्रत्येक परिवार के पास थोड़ी बहुत भूमि होती ही है। इसी पर वह अपनी फस्ल उगाता
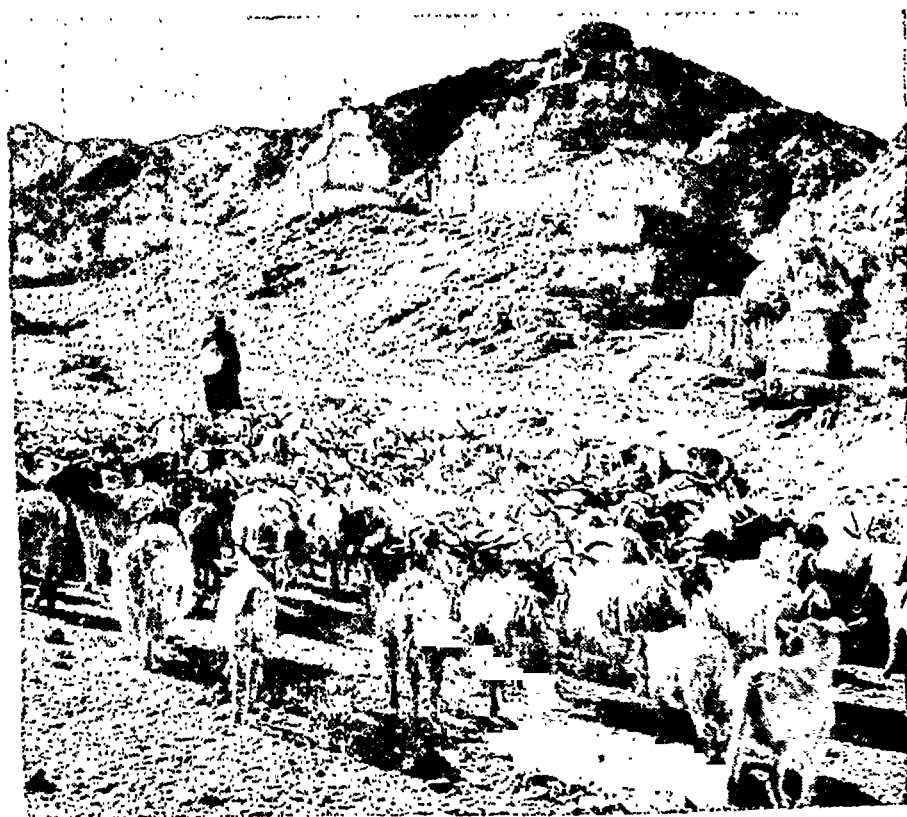
एक लद्दाखी अपनी भेड़ों के साथ

है । भेड़ इनके लिये बड़ी मूल्यवान हैं । इनकी पीठ पर ये दुर्गम पर्वत-श्रेणियों में बोझा ढोते रहे हैं । उत्तम प्रकार की ऊन लेने के लिये वे इन्हें बड़े परिश्रम के साथ पालते हैं । किसी समय लेह की मंडी ऊनी व्यापार का एक बड़ा केन्द्र थी ।

मानसरोवर की यात्रा के दिनों में बहुत से लद्दाखी मानसरोवर जाने वाले यात्रियों का पथ प्रदर्शन करते थे । मजदूरी करने वाले लद्दाखी उस समय यात्रियों का बोझा ढोते थे और यात्रियों की सुविधा के लिये अपने घोड़े और खच्चर किराये पर चलाते थे । ये यात्रियों को विश्राम चट्टियों पर अनेक प्रकार की सुविधायें भी जुटाते थे । उस समय भारत के विभिन्न क्षेत्रों के नर नारियों के साथ इनका सम्पर्क होता रहता था ।

हिमालय के उच्च शिखरों पर बसे अनेक स्थानों पर ये सामान पहुचाते थे । सामान पहुंचाने में ये 'याक' का प्रयोग करते थे । याक गाय के समान पर्वतीय पशु है जो हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियों में मिलता है ।

नेफा—

लद्दाख के समान नेफा भी भारत का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है । यह भारत की उत्तरी सीमा के पूर्वी भाग में असम राज्य के उत्तर में स्थित है ।

नेफा के वर्णन के साथ असम के सम्बन्ध में भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक है । विष्णु पुराण के अनुसार असम कामरूप देश कहलाता था । उस समय कामाख्या इसकी राजधानी थी । यहां का 'कामाख्या मंदिर' बड़ा ही प्रसिद्ध मंदिर है ।

असम में किसी समय मनीपुर, जयन्तिका, कछार, पश्चिमी असम, मैमनसिंह जिले का कुछ भाग और सिलहट सम्मिलित थे ।

भारतीय साहित्य में कामरूप देश का जो विवरण मिलता है उसमें कामरूप देश की सुन्दरियों की बड़ी प्रशंसा की गई है ।

चीनी यात्री ह्वान सांग ने भी कामरूप देश की प्रशंसा की है । उसके अनुसार असम का प्राचीन नाम कामरूप था । यह एक स्वतन्त्र राज्य था और यहां हिन्दू राजा राज्य करता था ।

वनों की दृष्टि से यह प्रदेश बड़ा विख्यात है । यहां के कोजीरंगा वन, कामरूप वन, सोनईरूपा वन और पामा वन उल्लेखनीय हैं ।

कामरूप देश का नेफा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा । धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से इन दोनों की परम्पराओं और मान्यताओं में बड़ी समानता रही [illegible] ।

नेफा के कई भाग ऐसे हैं जिनमें आदिवासी रहते हैं । इनमें कितने ही [illegible] हैं इनके सामाजिक रीति रिवाजों में काफी अन्तर पाया जाता है । नेफा के [illegible] [illegible]

में वांचो, नोकते और तांगसा जाति के आदिवासी रहते हैं। वांचो जाति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि किसी समय ये मैदानी भाग के निवासियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते थे। एक समय था जब ये लोग मैदानी भाग के रहने वालों को वलि देने के लिये पकड़ लाते थे। इनके यहां यह प्रथा थी कि विवाह के इच्छुक युवक को अपनी वीरता दिखाने के लिये मैदानी भाग में जाकर कोई एक व्यक्ति पकड़ कर लाना होता था। उसका सिर काटकर नर-वलि दी जाती थी। इसके उपरान्त युवक विवाह का अधिकारी होता था। अब यह प्रथा कानून द्वारा वन्द कर दी गई है और

एक वांचो युवक अपनी वेषभूषा में   शीत प्रदेश में भी इसे वस्त्रों की चिन्ता नहीं

इसका दूसरा रूप हो गया है। अब इस प्रथा को जीवित रखने के लिये ये लोग लकड़ी का मानव शरीर बनाकर जंगल में रख देते हैं उसका नकली सिर काटकर लाने पर युवक विवाह का अधिकारी होता है। विवाह बड़ी धूमधाम से किया जाता है।

वांचो जाति के लोग शीत प्रदेश में रहते हुये भी वस्त्रों का बहुत कम प्रयोग करते हैं। ये हाथी दांत, सींग आदि के आभूषणों का प्रयोग करते हैं। पंखों और पुष्पों से वे अपने कानों और सिर के बालों को सजाते हैं। वांचो युवक हाथों, पैरों और गले में आभूषण पहनते हैं। उच्च परिवार की महिलायें सिर के लम्बे बाल रख सकती हैं जबकि साधारण परिवार की महिलायें सिर के बाल कटवा देती हैं।

नोकते जाति वैष्णव धर्म को मानती है। ये लोग मैदानी भाग के साथ सम्पर्क बनाये रखते हैं। इनमें प्रमुख, मध्यम और साधारण तीन वर्ग के व्यक्ति पाये जाते हैं। प्रमुख लोग बड़े धनवान हैं। ये अपने लिये बड़े बड़े भवन बनाते हैं। लकड़ी पर कलापूर्ण ढंग से नक्शकारी करते हैं।

तांगसा जाति बड़ी ही परिश्रमी है। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये बर्मा से आये थे। ये लोग चावल के साथ मांस खाते हैं। अफीम खाने का भी इनमें बड़ा प्रचलन है। इनमें एक पत्नी विवाह की प्रथा पाई जाती है। तलाक का कोई नाम नहीं जानता। स्त्रियां ऊनी वस्त्र बुनने में बड़ी दक्ष हैं।

सींगपो बर्मा की काशिन जाति से है। ये ईसा की अठारहवीं शती में नेफा के उत्तर पूर्वी भाग में बड़दुमसा के समीप आकर बसे थे। ये बौद्ध धर्म को मानते हैं। इनमें उत्तराखंड के जौनसार बाबर की तरह बहु पत्नी विवाह प्रचलित है। परन्तु वहां के रीति रिवाजों से इनके रीति रिवाज भिन्न हैं। इनमें उत्ताधिकार (दाय) का विचित्र रिवाज है। केवल सबसे बड़े और सबसे छोटे पुत्र को ही सम्पत्ति मिलती है। बड़ा पुत्र घर का स्वामी बनता है और छोटा पुत्र चल सम्पत्ति लेकर अलग घर बसाता है। शेष भाई बड़े भाई के अधीन काम करते हैं।

नेफा की खूंखार समझी जाने वाली जातियों में अब बड़ा परिवर्तन आ गया है। अशिक्षित आदिवासी अब धीरे-धीरे शिक्षा प्राप्त करने लगे हैं।

लद्दाख से नेफा तक के हिमालय पर्वत क्षेत्र में नेपाल, भूटान और सिक्किम देश भी हैं। इन देशों के साथ भारत का घनिष्ट सम्बन्ध चला आता है। प्राचीनकाल में ये सब भाग भारत के ही अन्तर्गत थे। परन्तु अब ये स्वतंत्र राष्ट्र हैं। इनकी सांस्कृतिक परम्पराओं का भारत के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है।

नेपाल और टिहरी गढ़वाल राज परिवारों के बीच शादी विवाह के सम्बन्ध रहे।

भूटान का भारतीय सीमा पर रहने वालों के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। वहां भी भारतीय संस्कृति के अनेक चिन्ह मिलते हैं।

भूटान के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि यहां हिन्दू धर्म व्यापक रूप में फैला और हिन्दू राजाओं ने यहां राज्य किया। किसी समय यहां राजा के साथ-साथ धर्म गुरु भी समान रूप से शासन व्यवस्था में योग देता था। राजा एक प्रकार से भौतिक शासक होता था और धर्म-गुरु या धर्मराजा आध्यात्मिक शासक होता था। धर्मराजा की मृत्यु पर कभी कभी कई वर्ष तक आध्यात्मिक-शासक की गद्दी रिक्त रहती थी। जब राज-घराने में कोई बालक जन्म लेता था, तब वह उस गद्दी का शासक घोषित किया जाता था। यह प्रथा १६०७ ई० में समाप्त कर दी गई थी।

भूटान में लगभग ८० प्रतिशत बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुये भी भूटानी भूत-प्रेत की पूजा में विश्वास करते हैं। इनमें पशु बलि देने की भी प्रथा चली आ रही है। ये लोग खेतों की पूजा भी करते हैं।

भूटान में तांत्रिक मत का उसी प्रकार प्रभाव पड़ा जिस प्रकार हिमालय के उत्तराखंड में पड़ा है। ये लोग तांत्रिक-गुरुओं की बड़ी मान्यता करते हैं। वैसे ये लोग तिब्बत के दलाईलामा को विशेष पूजनीय समझते हैं।

कुछ इतिहासकारों का कहना है कि भूटान में बौद्ध धर्म सत्तरहवीं शताब्दी में फैला। परन्तु कुछ इसे सही नहीं मानते। उनका कहना है कि यहां बौद्ध-धर्म बहुत पहले पहुंच चुका था। इस शती में तिब्बत ने भूटान पर आक्रमण किया था। उस समय के राजा को अपना क्षेत्र छोड़कर भागना पड़ा था परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् उसने पुनः भूटान पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। इसके उपरान्त इतिहास के अनेक पृष्ठ बदले। अंग्रेजों ने भी इस पर अधिकार किया और अब यह देश एक स्वतंत्र राष्ट्र है परन्तु इसका भारत के साथ सम्बन्ध जुड़ा है।

भूटानी घुटनों तक लम्बा अंगरखा पहनते हैं। कमर में पट्टा बांधते हैं और सिर पर टोपी पहनते हैं। इनकी भाषा तिब्बती भाषा से मेल खाती है। इनमें बहु-पति प्रथा प्रचलित है। बड़े भाई की पत्नी अन्य सब भाइयों की भी पत्नी होती है। यहां की स्त्रियां बड़ी ही परिश्रमी हैं।

भूटान में भी भोटिया लोग काफी संख्या में रहते हैं। ये ऊन, शिल्पकारी की वस्तुयें और कस्तूरी आदि का व्यापार करते हैं।

भूटान में जो प्राचीन साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमें अधिकांश तिब्बती भाषा में लिखे बौद्ध धर्म ग्रंथ हैं।

सिक्किम का भी भारत और भारतीय सीमा के निवासियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। वहां की आदि जाति और भारतीय सीमा क्षेत्र की आदिवासी जाति के रहन सहन में बड़ी समानता पाई जाती है।

सिक्किम में नेपाली और लेप्चा दो प्रमुख जातियां रहती हैं। इनके अतिरिक्त यहां भोटिया भी रहते हैं। नेपाली हिन्दू धर्म को मानते हैं और लेप्चा बौद्धधर्म को। लेप्चाओं की तीन शाखायें हैं जो अलग २ क्षेत्रों में रहते हैं। इनके नाम इलामे लेप्चा दानजुंग लेप्चा और दाम्संग लेप्चा हैं। ये लोग पुरानी तिब्बती भाषा का प्रयोग करते हैं। सिक्किम के भोटिया भी अन्य क्षेत्रों के भोटियों के समान मुख्यतः व्यापार ही करते हैं।

सिक्किम के बौद्ध भगवान बुद्ध के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। ये लोग समय २ पर भारत के बौद्ध तीर्थों की यात्रा के लिये आते रहे हैं। गया के बौद्ध मंदिर में मैंने एक बार कुछ सिक्किमी बौद्धों को देखा था। उस समय मैंने यह अनुभव किया कि ये लोग केवल भगवान बुद्ध की मूर्ति के प्रति ही श्रद्धा नहीं रखते किन्तु इन्हें मंदिर के प्रत्येक स्थान से प्रेम है। मंदिर के बाहरी भागों को भी ये लोग पूजनीय समझते है।

सिक्किम में प्रारम्भ में हिन्दू धर्म फैला। इसके पश्चात् बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ। यहां के लेप्चाओं ने बुद्ध के अनेक मंदिरों का निर्माण कराया।

सिक्किम वासियों के रीति रिवाज भारत के कई सीमावर्ती क्षेत्रों से मिलते हैं। ये लोग बड़े ही ईमानदार है। उदारता और प्रसन्नता इनके विशेष गुण है।

इस प्रकार इन तीनों देशों का भारत और उसकी भारतीय संस्कृति के साथ प्राचीन सम्बन्ध चला आ रहा है।

मैंने इधर कैलास से लेकर यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ पर्वत श्रेणियों के अनेक प्राचीन स्थानों का कुछ विवरण दिया है।

अब मैं इस समूचे हिमालय के पर्वत शिखरों की एक सूची दे रहा हूं। इससे हमें इस बात की जानकारी मिलेगी कि हिमालय के उच्चतम शिखरों का हमारे प्राचीन इतिहास के साथ क्या सम्बन्ध था। इन शिखरों में ऐसे अनेक शिखर हैं जो पुराणों के अनुसार देवताओं के वास स्थान थे।

शिखरो की ऊंचाई के सम्बन्ध में हमने जांच पड़ताल करने का कार्य सम्पन्न किया है। हमने अनेक पुस्तकों, सरकारी गजेटियरों और हिमालय सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य से मिलान करके यह तालिका दी है। हो सकता है कि इसमें कहीं कुछ अन्तर रह गया हो।

हिमालय के उच्च शिखर—

शिखर	ऊंचाई (फुटों में)	शिखर	ऊंचाई (फुटों में)
एवरेस्ट (गौरीशंकर)	२९,१४१	मेनलुंग्स्टे	२३,५६०
कंचनजंघा	२८,१४६	गौरीशंकर (व)	२३,४६६
लोत्से	२७,८९०	चौखम्भा	२३,४२०
मकालू	२७,७९०	सेर या नाना	२३,४१०
चो-ओ-यू	२६,८६७	नून	२३,४१०
अन्नपूर्णा	२६,९२८	अपी	२३,३९९
धौलागिरि	२६,८१०	हिम्लंग हिमल	२३,३७९
मन्सालू	२६,६६७	त्रिशूल (पश्चिम)	२३,३६०
नंगापर्वत	२६,६६०	त्रिशूल (पूर्व)	२३,३२०
गोसाईं थान	२६,२९१	मेड़ या काम	२३,२५०
धौला	२५,९००	सतपंथ	२३,२४०
ग्याचुंग कांग	२५,८१०	रामथांग	२३,२००
हिमलचूली	२५,७९०	रखिओत पीक	२३,२००
कम्वाचें	२६,७८२	पौंहुनरी	२३,१८०
नंदादेवी	२६,६६०	बदरीनाथ (शिखर)	२३,१९०
राकापोशी	२५,५५०	दोनागिरि	२३,१८४
कामेट	२५,४४७	मचापुंचार	२२,९५०
गुर्ला मान्धाता	२५,३५५	जिवजिविया (प०)	२२,८७६
जानो	२५,२९४	केदारनाथ (शिखर)	२२,७७०
सिल्वर शटिल	२५,२४०	पिनाकिल पीक	२२,७३७
कुल्ह कांगड़ी	२४,७४०	तुकुचा पीक	२२,६८७
चांगत्से	२४,७६०	पंचचूली	२२,६५०
जांसांग	२४,४७२	थरलसगार	२२,६१०
हारमोश	२४,२७०	सिनियोलचू	२२,५७०
अविगामिन	२४,१३०	चैंग बैंग	२२,५१५
चमलेंग	२४,०१२	नंदाकोट	२२,५०५
कवरू	२४,०१५	कनघनझाऊ	२५,५०९
चमलहारी	२४,१००	छोमियामो	२२,३८५
मुकुट पर्वत	२३,७६०	पानवुक पीक	२२,३००
दाया भंग	२३,७५०	नम्पा	२२,१६८
बरुंट्से	२३,५७०	तालुंग	२२,१५०

शिखर	ऊंचाई (फुटों में)	शिखर	ऊंचाई (फुटों में)
टवाचे	२२,१३०	सर्गोरोंग	२०,३३०
हाथी पर्वत	२२,०७०	चूलू	२०,३४०
कैलास	२२,३३७	कांगचो	२०,३००
पंडिम	२२,०१७	रातबन	२०,२१०
जिञ्जिव्या (पूर्व)	२१,८३६	दुबुञी	२०,१५४
जनोली	२१,७६०	श्रीकंठ	२०,१२०
गंगोत्री (शिखर)	२१,७००	खूम्बूला	२०,०१३
नीलकंठ	२१,६४०	पोकल्डे	२०,०००
व्हाइट नीडिल	२१,६५०	देव-तिब्बा	१९,६८७
राजरम्बा	२१,४४५	जुबोनू	१९,४५०
सुगरलोफ	२१,१८०	लामा ऐडम	१९,२१०
भर्कासि	२१,१५०	पोआइन्टेड पीक	१९,२००
चौधारा	२१,३६५	नरसिंग	१९,१३०
गरधार	२१,१४०	बुल्दार पीक	१८,३००
तलकोट	२१,१२०	फ्रूमुंको	१७,३१०
नगला-फू	२१,०३०	मोरैने	१५,४२०
बन्दरपूंच	२०,७२०	अमरनाथ	१३,०००
मुक्तिनाथ हिमल	२०,५०५	केदार नपि	१२,०००
इंद्रासन	२०,४१०	मूर पीक	११,६३५

हिमालय के अभियान—

भारत के उत्तर में लगभग दो हजार मील लम्बे हिमालय के उच्च शिखरों पर पहुंचने के लिये उन्नीसवीं शती से ही प्रयत्न किये जा रहे है। सन् १८९३ ई० में सर फ्रांसिस यंग हसबैण्ड ने एवरेस्ट शिखर के समीपवर्ती क्षेत्रो में पहुंचकर उसपर चढ़ने का विचार किया था। १९०६ से १९०८ ई० तक मि० स्वेन हेडिन ने इस क्षेत्र की खोज की।

गौरीशंकर शिखर की सबसे प्रथम खोज बंगाल के श्री राधानाथ सिकदर ने की। उनके बाद सर्वेयर जनरल सर जार्ज एवरेस्ट के नाम पर इस शिखर का नाम एवरेस्ट रख दिया गया।

इस शिखर पर सन् १९२१ से १९२४ तक डाक्टर ए० एच० बैंगाल, श्री जी० एम० मलोरी तथा उनके सहयोगियों ने पहुंचने का यत्न किया।

* त्रिपथगा का हिमालय अंक

मलोरी और इर्विन दो युवकों के एक दल ने २ जून १९२४ को २६८०० फुट ऊंचाई पर पहुंचने में सफलता प्राप्त की। मलोरी प्राणों की बाजी लगाता हुआ २८१२६ फुट ऊंचाई पर पहुंचने में सफल हुआ।

अप्रेल १९३३ में इंगलैण्ड के मि० हुस्टन ने वायुयान द्वारा चढ़ाई की। उस समय इतनी ऊंचाई पर पहुंचना अत्यन्त कठिन कार्य था।

भारतीय नागरिक शेरपा तेनसिंह नोरके और न्युजीलैण्ड निवासी श्री एडमण्ड हिलेरी को २९ मई १९५३ को एवरेस्ट शिखर पर सबसे प्रथम अपने चरण रखने में सफलता मिली।

तेनसिंह इससे पूर्व कई अभियानों में भाग ले चुके थे। १९५० में उन्होंने संसार प्रसिद्ध पर्वतारोही गाडविन आस्टिन के साथ चढ़ाई की थी। १९५१ में उन्होंने स्विस आरोही दल के साथ नन्दादेवी की चढ़ाई में भाग लिया था। १९५२ में स्विस पर्वतारोही दल के नेता डा० एडवर्ड डनण्ट ने उनको अपना साथी बनाया था।

नंगा पर्वत पर ४ जुलाई १९५५ को डा० कर्नल हुलिग कोफर के नेतृत्व में आस्ट्रेलिया और जर्मनी के मिले जुले एक दल ने पहुंचने में सफलता प्राप्त की।

हिमालय की २३४०६ फुट ऊंची त्रिशूल चोटी पर पहुंचने में डा० लांगस्टाफ को सफलता मिली। नन्दादेवी पर ब्रिटिश अमरीकी हिमालयारोहण क्लब के दल ने श्री शिपटन और टिलमैन के नेतृत्व में पहुंचने में सफलता प्राप्त की।

हिमालय की २५४४७ फुट ऊंची चोटी कामेट पर प्रथम बार १९३१ में एफ० एस० स्मिथ के नेतृत्व में ब्रिटिश दल पहुंचा। इसके पश्चात् १९५२ ई० में भारतीय सेना के चीफ़ इंजीनियर एच० विलियम्स के नेतृत्व में इंजीनियरों के दल ने पहुंचने में सफलता प्राप्त की।

२२६५० फुट ऊंची पंचचूली चोटी पर श्री प्राणनाथ निकोर के नेतृत्व में भारतीय दल ने विजय प्राप्त की और वहां राष्ट्रध्वज फहराया।

२७७९० फुट ऊंचे शिखर मकालू पर सन १९५५ में एक फ्रांसीसी दल ने विजय प्राप्त की।

विदेशी दलों के अभियानों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि प्रायः सभी ने भारत के पर्वतारोहियों से सहयोग प्राप्त किया।

हिमालय के अभियानों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि गत पचास वर्षों में अनेक पर्वतारोहियों ने अपना जीवन भेंट चढ़ा दिया। इतना होते हुए भी आज अनेक पर्वतारोही दल हिमालय के शिखरों पर पहुंचने के लिये प्रयत्नशील हैं। वे उन हिम शिखरों को स्पर्श करने को उत्सुक हैं, जहां किसी समय शिव और पार्वती का वास था।

वर्ष १९६५ में एवरेस्ट पर जो चढ़ाई की गई उसने समस्त संसार के देशों का फिर एक बार ध्यान आकर्षित किया। कमोडोर मोहन सिंह कोहली के नेतृत्व में पर्वतारोहियों के एक दल ने १४ अगस्त १९६४ को दिल्ली से प्रस्थान किया। २० मई १९६५ को इस दल के दो सदस्यों कैप्टिन ए० एम० चीमा और नवांग गोम्बू ने एवरेस्ट पर पहुंचने में सफलता प्राप्त की।

२२ मई को सोनम ग्यात्सो तथा सोनम वांग्याल ने एवरेस्ट पर ध्वज फहराया। दो दिन पश्चात् २४ मई को श्री सी० पी० वोहरा तथा श्री अंगकामी एवरेस्ट पर पहुंचे। इनके पांच दिन पश्चात् कैप्टिन एच० एस० अहलूवालिया, एच० सी० एस० रावत और सरदार फूदोर्जी एवरेस्ट पर विजयी हुये। १९६३ में अमरीकी अभियान दल ने जो विजय प्राप्त की थी, इस दल ने उससे अधिक एवरेस्ट विजय में श्रेय प्राप्त किया।

दल के नेता श्री कोहली, उपनेता मेजर एम० कुमार तथा श्री नवांग गोम्बू को भारतीय पर्वतारोहण संस्थान ने एक समारोह में स्वर्णपदक प्रदान किये।

भारत सरकार की ओर से राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने भारतीय एवरेस्ट अभियान दल १९६५ के नेता लेफ्टिनेंट कमाण्डर श्री मोहनसिंह कोहली और दल के सदस्य श्री नवांग गोम्बू व श्री सोनम ग्यात्सो को पद्मभूषण की उपाधि दी।

राष्ट्रपति ने अभियान-दल के उपनेता मेजर महेन्द्र कुमार, कप्तान अवतारसिंह चीमा, श्री सोनम वांग्याल, श्री चन्द्रप्रकाश वोहरा, श्री अंग कामी, श्री हरीशचंद्र सिंह रावत, कप्तान हरिपालसिंह अहलूवालिया और श्री दोरजी को पद्मश्री की उपाधि दी।

इस अभियान दल की विजय पर भारत सरकार ने डाक टिकट जारी करके पर्वतारोहियों के सम्मान में जो वृद्धि की, उस पर न केवल भारतवासियों ने प्रसन्नता प्रगट की अपितु विदेशी पर्वतारोहियों के संस्थानों ने भी हर्ष प्रगट किया। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने इस दल के उन्नीस सदस्यों को सामूहिक रूपसे 'अर्जुन पुरस्कार' से विभूषित किया। २३ जून १९६५ को दिल्ली निवासियों ने इनका भव्य स्वागत करके इनके कार्य पर हर्ष प्रगट किया।

जिस समय यह पर्वतारोहण दल २३ जून को पालम हवाई अड्डे पर पहुंचा, उस समय भारत के स्वराष्ट्र मंत्री श्री गुलजारी लाल नन्दा तथा रक्षा मंत्री श्री यशवन्तराव चव्हाण ने इनका स्वागत किया और इन्हें बधाई दी। इस अवसर पर भारत के अन्य अनेक मंत्री एवं विशिष्ट जन भी उपस्थित थे।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि जिस समय एवरेस्ट की चढ़ाई प्रारम्भ हुई, उसी समय भारतीय विद्यार्थियों के पर्वतारोही दल ने काम

पर्वत की चढ़ाई प्रारम्भ की। यह दल २२०७३ फुट ऊंचे चन्द्र पर्वत पर २२ मई १९६५ को पहुंचने में सफल हुआ।

इस प्रकार पर्वतारोहियों के अभियानों ने भारत के सम्मान में अपूर्व वृद्धि करके अपने शौर्य और वीरता का जो परिचय दिया है उसपर सम्पूर्ण राष्ट्र गर्व करता है।

मुख्य-मुख्य पर्वतारोहण—

	नाम शिखर	ऊंचाई (फुटों में)	आरोहण-तिथि	नेता या दल
(१)	कवरू	—	१८८३	डब्लू. डब्लू. ग्रेहम
(२)	त्रिशूल	२३,४०६	१९०७	लांगस्टाफ
(३)	जासांग चोटी	२४,४७२	१९३०	प्रो० डिहरेनफोर्थ
(४)	रामथांग चोटी	२३,२००	१९३०	प्रो० डिहरेनफोर्थ
(५)	कामेत	२५,४४७	१९३१	एफ. एस. स्मिदी
(६)	त्रिशूल	२३,४०६	१९३३	ओलिवर एंड के. सिंह
(७)	नंदादेवी	२५,६४५	१९३६	तिलमैन एन्ड ओडेल
(८)	दूनागिरि	२३,७७२	१९३९	ए० रांच
(९)	सतोपंथ	२३,२४०	१९४७	रांच और सटर
(१०)	केदारनाथ	२२,७७२	१९४७	रांच और सटर
(११)	अन्नपूर्णा	२६,९२६	जून, १९५०	फ्रांसीसी
(१२)	वंदरपूच	२०,७२०	१९५०	जे. टी. एम. गिब्सन
(१३)	त्रिशूल	२३ ४०६	१९५१	भारतीय दल
(१४)	मुकुट पर्वत	२३,७६०	१९५१	ए. ई. रिडी फोर्ड
(१५)	पंचचूली	२२,६५०	१९५३	पी० निकोर
(१६)	ननकून	२३,४१०	१९५३	फ्रांसीसी
(१७)	एवरेस्ट	२९,१४१	मई, १९५३	कर्नल हंट
(१८)	चो-ओ-यू	२६,९६७	अक्तूबर, १९५४	आस्ट्रियन
(१९)	कंचनजंघा	२८,१४६	मई, १९५५	ब्रिटिश
(२०)	मकालू	२७,८२४	मई, १९५५	फ्रांसीसी
(२१)	नंगा-पर्वत	२६,०२९	जुलाई, १९५५	आस्ट्रो-जर्मन
(२२)	मन्सालू	२६,६५६	मई, १९५६	जापानी
(२३)	एवरेस्ट	२९,१४१	१९५६	स्विश
(२४)	लोत्से	२७,८९०	मई, १९५६	स्विश
(२५)	एवरेस्ट	२९,१४१	मई, १९६३	अमरीकी
(२६)	एवरेस्ट	२९,१४१	मई, १९६५	भारतीयदल

ह्वान-सांग की भारतीय यात्रा—

चीनी यात्री ह्वान-सांग के यात्रा विवरण में हिमालय के अनेक स्थानों का उल्लेख मिलता है। उसने काश्मीर में काफी दिनों तक निवास किया था। अतः हम उसकी यात्रा का कुछ संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझते हैं।

इतिहासकारों के अनुसार चीनी यात्री ह्वान-सांग ने घोड़े पर सवार होकर १ अगस्त ६२९ ई० को भारत की ओर प्रस्थान किया। २ दिसम्बर को दो महीने में १२०० मील की यात्रा के पश्चात् वह अफिनी स्थान पर पहुंचा। ५ मार्च ६३० ई० को वह समरकंद पहुंचा। २० अगस्त ६३० ई० को वह नगरहारा स्थान पर आया। यहां वह तीन महीने ठहरा। यहां से उसने समीपवर्ती तीर्थ स्थानों को देखा। १० अप्रेल ६३१ ई० को वह तक्षशिला पहुंचा। यहां ठहरकर उसने समीपवर्ती तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया। वह यहां से सिंहपुर गया। १० अगस्त ६३१ ई० से १ अक्तूबर ६३३ ई० तक वह काश्मीर में रहा। यहां उसने संस्कृत का अध्ययन किया। १ जनवरी ६३४ ई० को वह चीनापाती स्थान पर आया। यहां वह चौदह महीने तक ठहरा। इधर जालंधर में वह चार महीने तक रहा।

यहां से उसने मथुरा, थानेश्वर, अहिछत्र, कन्नौज, प्रयाग, कोसाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, काशी, वैसाली और पाटलीपुत्र की यात्रा की।

१ मार्च ६३९ ई० को वह नालन्दा आया। यहां वह बहुत दिन तक ठहरा। ३० मई ६३९ ई० को वह कलिङ्ग पहुंचा। इसके पश्चात् २० फर्वरी ६४० ई० को वह दक्षिण के कांजीवरम में पहुंचा। यहां से वह महाराष्ट्र के अनेक स्थानों में गया।

५ अगस्त ६४२ ई० को वह कामरूप पहुंचा। यहां वह एक महीने ठहरा। २५ दिसम्बर ६४२ ई० को ह्वान सांग कन्नोज आया। यहां उसने एक धार्मिक समारोह में भाग लिया। वह यहां १८ दिन तक रहा।

२० जून सन् ६४४ को वह ओपोफिन पहुंचा। इसका दूसरा नाम उसने अफगान दिया है। उसके यात्रा काल में यह भाग भारत का अंग था। २५ जून को वह कोचयूटो पहुंचा इसका दूसरा नाम उस समय गजनी था। यह भी चीनी यात्रा के समय में भारत का ही अंग था। ३ सितम्बर ६४४ ई० को यह हिमालय पहुंचा। यहां से ८ सितम्बर ६४४ ई० को वह बदक्षान पहुंचा। उसने भारत के अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए १ जनवरी ६४५ ई० को चीन की सीमा में प्रवेश किया।

टिप्पणी :—चीनी यात्री ह्वान सांग का यह यात्रा विवरण भूगोल के भुवन कोषाङ्क से लिया गया है। यह विशेषाङ्क श्री रामनारायण मिश्र द्वारा वर्ष १९३२ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ था।

ह्वान सांग की विस्तृत सम्पूर्ण यात्रा का विवरण न देकर हमने यहां कुछ मुख्य-मुख्य स्थानों का ही उल्लेख किया। इस विवरण के देने से हमारा आशय केवल यह प्रगट करना है कि आज के हिमालय के कुछ उत्तरी भाग ईसा की सातवीं शती में भारत से ही सम्बन्धित थे। उस समय भारत वर्तमान हिमालय के पार तक फैला हुआ था।

हिम मानव की खोज—

हिमालय में हिम-मानव की खोज का यत्न गत साठ वर्षों से चल रहा है। पर्वतारोहियों ने इसकी समय-समय पर चर्चा करके संसार भर का ध्यान आकर्षित किया है। समझा ऐसा जाता है कि मानव शरीर धारी का हिमालय में वास है। बर्फ पर उसके पद-चिन्हों के देखे जाने की भी बात कही जाती है। परन्तु अभी तक हिम-मानव से साक्षात्कार करने का किसी को भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है।

पर्वतारोहियों के कथनानुसार हिम-मानव चलता फिरता एक ऐसा-प्राणी है जिसे पर्वतों की ऊंची चोटियों पर पड़े बर्फ में चलने फिरने का अभ्यास है।

इस हिम-मानव की अब तक अनेक कल्पनायें सामने आई हैं। कुछ ने इसे यती की संज्ञा दी है। वे समझते हैं कि हिमालय में यती का निवास है और वह अपनी इच्छानुसार विचरण करता रहता है। पर्वत के उच्च शिखरों पर पहुंचने वाले नेपाली कुली इसका नाम 'मिच कांगामी' बताते हैं। तिब्बत निवासी इसको 'मिलोह काम्पी' कहते हैं। नेपाल और तिब्बत दोनों देश वालों ने इसे भयंकर और रहस्यमयी प्राणी माना है।

कर्नल बरी ने जब १९२१ में हिमालय के 'लाखपा-ला' शिखर की चढ़ाई की तब उन्होंने ऐसे प्राणी के पद-चिन्ह देखे। उन्होंने वापिस लौटकर नृतत्व शास्त्रियों को इन पगों के सम्बन्ध में सूचना दी। उन्होंने इस पर विचार किया परन्तु वे किसी एक निश्चय पर न पहुंच सके क्योंकि समुद्रतट से १५–१६ हजार फुट ऊंचाई पर पाये गये पद-चिन्हों को समझना कठिन था।

१९२५ में इटली के पर्वतारोही मि० ए. एन. टोम्बाजी ने सिक्किम के समीप के एक पर्वत शिखर पर हिम-मानव के पद चिन्ह देखे। इटली लौटने पर उन्होंने अपनी जो रिपोर्ट तैयार की उसमें इस हिम मानव का उल्लेख करते हुये लिखा है—

"जेमू ग्लेशियर से करीब १० मील आगे एक स्थान पर पहुंचने पर अपने साथ के कुलियों के शोरगुल ने अचानक मेरा ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। मैंने मुड़कर देखा कि वे नीचे घाटी में किसी चीज की ओर संकेत कर रहे थे और उनके चेहरों पर घबराहट और भय के भाव स्पष्ट थे। उनके हाथ के संकेत पर जहां हम खड़े थे, उस स्थान से लगभग ६ सौ फुट नीचे एक घाटी में मैंने वह

चीज देखी जिसे देखकर कुलियों में इतनी उत्तेजना व्याप्त हो गयी थी। मुझे जो आकृति दिखाई पड़ी वह किसी मनुष्य की आकृति से काफी मिलती-जुलती थी। वह प्राणी अपने दो पैरों पर बिल्कुल सीधा चल रहा था और बिल्कुल नंगा था थोड़ी दूर चलकर वह बैठ गया और मुझे ऐसा लगा कि वह घाटी में उगे पौधों की जड़ उखाड़ रहा है। कुछ ही मिनटों बाद वह अदृश्य हो गया। उसके गायब हो जाने के बाद मैंने घाटी में उतर कर उस स्थान का ध्यान से निरीक्षण किया। पता चलाने पर मुझे ज्ञात हुआ कि पिछले एक वर्ष में इस दिशा में किसी मनुष्य को आते-जाते नहीं देखा गया है। मेरे कुलियों ने फौरन ही भूत-प्रेतों की बात करनी शुरू कर दी।"*

उनकी इस रिपोर्ट पर नृतत्व शास्त्रियों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया परन्तु वे किसी निश्चय पर न पहुंच सके। कुछ ने उनको भालू के पद-चिन्ह बताया परन्तु जब यह कहा गया कि पंदरह-बीस हजार फुट की ऊंचाई पर भालू नहीं मिलता, तब वे मौन हो गये।

१९३७ में नंदादेवी के समीप पर्वतारोहियों के दल ने फिर हिम-मानव के पद-चिन्ह देखे। उन्होंने इनके फोटोग्राफ भी लिये।

श्री एच० डब्लू० टिलमैन ने जब १९३८ में कंचनजंघा पर्वत शिखर की चढ़ाई की तब उन्होंने बर्फ पर अंकित पद-चिन्ह देखे। उन्होंने अपने अनुभव के अनुसार यह भी बताया कि हिम-मानव को मैंने जाते हुये देखा था परन्तु वह देखते ही देखते गायब हो गया।

इस सम्बन्ध में काठमांडु के मठ में तिब्बत के मठाधीश लामा पुन्यावाजरा ने हिम-मानव का विवरण देते हुये कहा था 'मैंने हिम-मानव (यती) की तलाश में हिमालय की ऊंची घाटियों में आकर विस्तृत रूप में खोज की और मैं दावे से कह सकता हूं कि हिम-मानव सम्पूर्ण हिमालय क्षेत्र में पाया जाता है।"

उन्होंने हिम-मानवों का वर्गीकरण करते हुये उन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। जो इस प्रकार हैं—

(१) लामा न्यालयो	सबसे विशाल जाति का हिम-मानव है
(२) रिमी	मध्यम आकार का हिम-मानव है
(३) रावसी बोम्पुस	साधारण मनुष्य जैसा

लामा पुन्या वाजरा ने इन तीनों वर्गों के हिम मानवों के खाने पीने का भी विवरण दिया है। प्रथम दो वर्ग के हिम-मानवों को उन्होंने मांसाहारी बताया है और तीसरे वर्ग को शाकाहारी।

---

* त्रिपथगा हिमालय अङ्क

हिम मानव के सम्बन्ध में इस प्रकार के और भी अनेक विवरण प्रकाशित होते रहे हैं। परन्तु अभी तक इस प्राणी को पकड़ने या ठीक प्रकार से देखने में किसी को भी सफलता नहीं मिली है। फिर भी हिमालय के इस यती की खोज के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं।

हिमालय के जीव जन्तु—

हिमालय में अनेक पशु और जीव जन्तु मिलते हैं। पर्वत शिखरों की ऊंचाई की दृष्टि से ये पशु और जीव जन्तु अपने २ क्षेत्र में आनन्द के साथ विचरण करते हैं। वाघ, शेर, चीता या तेंदुआ, हिम तेंदुआ और भेड़िये, भयंकर जातियां हैं। पर्वतों में बिल्लियों की अनेक जातियां पाई जाती हैं। भालू, हाथी और गेंडे भी हिमालय की पर्वतीय घाटियों में काफी संख्या में मिलते हैं।

हिमालय के जीव जन्तुओं के प्रसंग में कस्तूरी मृग का उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक है। यह दस हजार फुट की [illegible] तों पर मिलता है। कस्तूरी के लिये पर्वतीय लोग इसकी खोज में बहुत [illegible] तों में बर्फ से ढकी चो[illegible]

हिमालय में याक एक ऐसा पशु [illegible] योग किया जाता है। गर्म [illegible]। कुछ [illegible] टियों तक पहुंचता है। बोझा ढोने में इसका विशे[illegible] गो-वंश का जंग[illegible] है और [illegible] मैदानी भागों में यह पशु जीवित नहीं रह [illegible] शिखरों पर [illegible] जानवर माना जाता है। [illegible] तिब्बत [illegible]

हिमालय की भेड़ों और बकरियों को भी नहीं भुलाया जा सकता। इनकी अनेक नस्लें हैं। भेड़ पालक दो हजार फुट से लेकर १८ हजार फुट ऊंचाई तक के जंगलों में अपनी भेड़ें चराने के लिये ले जाते हैं। इनसे ये बड़ी ही मूल्यवान ऊन प्राप्त करते हैं। इनसे वे ऐसी ऊन भी लेते हैं जिससे 'पशमीना' तैयार होता है।

हिमालय में और भी अनेक पशु और जानवर पाए जाते हैं। इनमें भोटिया नस्ल के कुत्ते भी अपना विशेष महत्व रखते हैं। हिमालय के पशु और जन्तु सचमुच हमारी एक मूल्यवान निधि हैं।

वन्य जन्तुओं के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि वे तपस्वियों, योगियों और मुनियों के समीप मित्रवत् विचरण करते रहते थे। पुराणों में ध्रुव और प्रह्लाद जैसे तपस्वियों के समीप शेर और चीतों के घूमते फिरते रहने की अनेक कथायें आयी हैं। उन्होंने कभी तपस्वियों को पीड़ा नहीं पहुंचाई। इसी प्रकार हिमालय के उच्च शिखरों पर अनेक योगियों के योग-साधना के समय वन्य-पशुओं के विचरण करने के उदाहरण मिलते हैं।

एक बार मैंने गंगोत्तरी में स्वामी रामानन्द जी से प्रश्न किया था कि जब शीतकाल में यहां कोई नहीं रहता तब आपको जंगली जानवरों का तो भय नहीं

होता। इसके उत्तर में उन्हों बड़े सहज भाव से कहा—'यहां आकर वन्य जन्तु भी पालतू ही बन जाता है। वह हमसे क्या लेगा ?'

इसी प्रकार मैंने जब स्वामी सदाशिवाश्रम जी से पूछा कि क्या आपको कभी कोई वन्य जन्तु मिला तो वे कहने लगे – 'मेरी गुफा के समीप कभी २ श्वेत रीछ आ जाता है।'

स्वामी सदाशिवाश्रम जी कई वर्षों से गोमुख के समीप रहते हैं। कई वर्षों तक वे वहां एकान्त गुफा में रहे। एक बार वे शीत लहर में फंस गये थे। उस समय से वे शीतकाल में गंगोत्तरी या उत्तरकाशी आ जाते हैं।

उन्होंने मुझे बताया कि एक बार मैं गुफा से एक मीठे पानी के स्रोत से जल लेने जा रहा था तब श्वेत रीछ घूमता दिखाई दिया। मेरे मन में उसके प्रति भय की भावना उत्पन्न न होकर उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। परिणाम यह हुआ कि वह अपनी मौज मेरे आगे से निकलकर अपने स्थान को चला गया।

वन्य जन्तुओं के सम्बन्ध में यह बात भी देखने में आती है कि वे मनुष्य को खा डालते हैं। पर्वतों में रहने वालों पर आये दिन इनके प्रहार होते हैं परन्तु जहां तक योगियों, मुनियों और सिद्ध पुरुषों का सम्बन्ध है, वन्य-जन्तु उनपर प्रहार नहीं करते।

ऐसी अनेक घटनाएं और भी योगियों ने बताई। इन घटनाओं से इतना तो पता चलता ही है कि मानव की सात्विक वृत्तियों का वन्य-जन्तुओं पर भी प्रभाव पड़ता है। हिमालय की उपत्यकाओं को आज भी यह गौरव प्राप्त है कि उनमें सात्विक वृत्ति के योगी और महातमा चिन्तन में लीन हैं।

हिमालय की वनस्पतियां—

हिमालय में जो वनस्पतियां उगती हैं, उन्होंने आयुर्वेद को बड़ा महत्व दिया है। सच तो यह है कि हिमालय पर्वत माला में उगने वाली जड़ी बूटियां आयुर्वेद के भण्डार को सदा से पूरित करती रही हैं। इन वनस्पतियों में अनेक रंगों के पुष्प, छोटे छोटे पौधे, उनकी शाखायें, बड़े-बड़े वृक्षों की छाल, पत्तियां, फल एवं अन्य भाग सम्मिलित हैं। हिमालय की अनेक झाड़ियां ऐसी हैं जो जड़ी बूटी का काम देती हैं।

ये वनस्पतियां हिमालय की दो हजार फुट ऊंचाई से लेकर सत्तरह अटारह हजार फुट तक पाई जाती हैं। इससे अधिक ऊंचाई वाली हिमाच्छादित पवत श्रेणियों में वनस्पतियां नहीं उगतीं।

हिमालय की बूटियों के गुणों का विवरण चरक और सुश्रुत में दिया गया है। आयुर्वेद के इन ग्रंथों में जिन बूटियों का प्रयोग दिया गया है, उनमें से कुछ ऐसी है जो केवल हिमालय में ही मिलती हैं।

हिमालय की अनेक जड़ी बूटियों का अभी तक पूरा अनुसंधान नहीं हो पाया है। हिमालय में ऐसी बूटियां विद्यमान हैं जिनसे मानव दीर्घ-जीवी हो सकता है।

यहां हम संजीवनी बूटी का उल्लेख कर देना भी आवश्यक समझते हैं। संजीवनी बूटी की कथा रामायण में आती है। जिस समय मेघनाद की शक्ति ने लक्ष्मण को मूर्छित कर दिया तब उनके लिये द्रोणगिरि से राम-भक्त हनुमान संजीवनी बूटी लाये थे। इस बूटी के द्वारा लक्ष्मण में चेतना आई और वे पूर्ण स्वस्थ हो गये।

अलमोड़ा, नैनीताल और गढ़वाल के गजेटियरों में हिमालय की जड़ी बूटियों के सम्बन्ध में उन क्षेत्रों का विस्तृत उल्लेख मिलता है जहां वे पाई जाती हैं।

स्वामी सुन्दरानन्द ने जब गोमुख से सीधी बदरीनाथ की यात्रा की तब उन्हें १८००० फुट की ऊंचाई पर वहां के तपोवन में अनेक ऐसी मूल्यवान वनस्पतियां मिलीं जिनका अनुसंधान किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। वे वहां से हिममयी भूमि में उगने वाले नील कमल भी लाये। पुराणों में इनका नाम ब्रह्म-कमल मिलता है। इन्हें स्थल कमल भी कहते हैं। इस प्रकार के नील कमल केदारखंड में कई स्थानों पर मिलते हैं।

स्वामी सुन्दरानन्द जी ने बताया कि मैंने १८००० फुट की ऊंचाई पर तपोवन में अनेक प्रकार के पुष्पों से सुसज्जित एक उपवन भी देखा। उसे देखकर ऐसा लगा कि हो सकता है कि इस उपवन में कभी देवता विहार करते होंगे।

हिमालय की पुष्पों की घाटी जहां सहस्रों प्रकार के रंग-बिरंगे और सुगन्धित पुष्पों के लिये विख्यात है, वहां हो सकता है कि उनमें जड़ी बूटियों के गुण वाले कुछ मूल्यवान पौधे भी हों।

हिमालय की जड़ी बूटियों की लम्बी तालिका यहां न देकर हम केवल इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त समझते हैं कि हिमालय की जड़ी बूटियां मानव-जीवन के लिये अमोघ औषधियां हैं।

हिमालय की अनेक जड़ी बूटियों से काफी समय से अंग्रेजी दवाइयां बन रही हैं। जिस समय फ्रेडरिक विल्सन हर्सिल में रहता था, उस समय उसके द्वारा गंगोत्तरी क्षेत्र से अनेक जड़ी बूटियां विदेश भेजी जाती थीं।

उत्तर प्रदेश सरकार इस समय इस बात का यत्न कर रही है कि हिमालय की जड़ी बूटियों से विदेशी मुद्रा प्राप्त की जाय। इन जड़ी बूटियों के उत्पादन के लिये हिमालय के अनेक जंगल निश्चित किये गये हैं। सरकार ने कुछ जड़ी बूटियों की जांच पड़ताल भी कराई है।

जड़ी बूटियों के प्रसंग में हमें काश्मीर की केसर की क्यारियों को नहीं भुला देना है। हमें इस बात का यत्न करना है कि हमारी केसर की क्यारियों का अधिकाधिक विस्तार हो।

हिमालय में फल और मेवा—

कहा जाता है कि हिमालय में ऐसे कन्द-मूल और फल पाये जाते हैं जिनको खा लेने के पश्चात् कई-कई दिन तक भूख नहीं लगती। इस प्रकार की अनेक कथाओं का वर्णन हमारे प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों में किया गया है कि जब किसी महात्मा ने प्रसन्न होकर अपने भक्त को ऐसा फल दे दिया, तो उसके खा लेने पर उसकी तृप्ति हो गई और कई दिन तक उसे भूख न लगी। इसमें कितना सत्य है इस बात को कहना कठिन है परन्तु इतना कहा जा सकता है कि हिमालय में अनेक प्रकार के फल, कन्द-मूल और मेवा अब भी ऐसे मिलते हैं जो क्षुधा तृप्ति कर देते हैं।

पुराणों में कल्पतरु का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार देवताओं के भक्तों को मनमाने फल की प्राप्ति हो जाती थी। इस प्रकार के कल्पतरु को हम केवल मानव-कल्पना ही मानते हैं।

सेब, नाशपाती, आड़ू, दाड़िम, बीहि, पहाड़ी बेर, अमरूद, छोटे अंजीर, छोटी बेल, चीलू और खुबानी आदि फल हिमालय की अनेक घाटियों में उत्पन्न होते हैं। गढ़वाल की ओर मुझे काफल देखने को मिला। लाल-गुलाबी रंग के पके काफल देखने में बड़े ही सुन्दर लगते हैं। इसी प्रकार किरमोड़, हीसर और खिगारू फल भी इधर मिलते हैं।

इस प्रकार के और भी कुछ फल हो सकते हैं जो हिमालय में उत्पन्न होकर बिना किसी प्रयोग के ही मिट्टी में गिर कर मिट्टी बनते रहते हैं। जिन साधु और महात्माओं को इन फलों का ज्ञान हो जाता है, वे ही इनका प्रयोग करते हैं।

कहा जाता है कि बेल का फल देवताओं को बड़ा प्रिय था। शिव के भक्त बेल के वृक्ष के पत्ते अब तक 'शिव लिंग' पर चढ़ाते हैं। एक बार की बात है कि मुझे जून मास की भरी दोपहरी में मणिकूट पर्वत पर योगी प्रेमवर्णी जी की कुटी पर जाने का अवसर मिला। उनकी कुटी के समीप बेल के दो वृक्ष लगे थे। कुछ देर बैठने के पश्चात् उनका एक सेवक उधर आया। उन्होंने उससे कहा 'देखो सामने वाले वृक्ष से जो बेल गिरे उसे ले आना।' वे इस बात को कह ही रहे थे, कि दो तीन पक्की बेल वृक्ष से नीचे आ गिरीं। उनके सेवक ने उन बेलों का गूदा निकालकर शरबत बनाया। भरी दोपहरी में बेल का शरबत मिलने पर हम सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

इसी प्रसंग में मैंने योगी प्रेमवर्णी जी से पर्वतीय कन्द, मूल और फल की कुछ चर्चा की। वे कहने लगे "अभी हिमालय में ऐसे महात्मा मिल जायंगे जो कन्द, मूल, फल खाकर महीनों बिता देते हैं।"

स्वामी प्रणवानन्द जी ने अपने 'कैलास मानसरोवर' ग्रंथ में पहाड़ के एक छोटे से फल का उल्लेख करते हुये लिखा है कि यह फल चटनी बनाने के काम में आता है। इसका नाम उन्होंने 'घूका' लिखा है। यह खट्टा होता है। इस प्रकार के और भी छोटे फल हो सकते हैं जो पहाड़ों में जहां तहां उत्पन्न होते हैं। हर्सिल की तरफ खट्टे सेब को पहाड़ के रहने वाले आम की खटाई की तरह सुखा कर प्रयोग करते हैं।

मेवा में टिहरी गढ़वाल, उत्तरकाशी, गढ़वाल और अलमोड़ा के जंगलों में काठा अखरोट बहुत पैदा होती है। अब इसे उन्नत करने का यत्न किया जा रहा है। हिमालय के कुछ भागों में बादाम भी पैदा होता है। इन दो वस्तुओं के अतिरिक्त हिमालय में और भी मेवा मिलती हैं।

फलों के प्रसंग में केवल इतना ही कहना है कि वन पर्वतों में रहने वाले योगी महात्मा लोग इन्हें शुद्ध और सात्विक आहार मानकर प्रयोग में लाते हैं।

हिमालय के खनिज पदार्थ—

हिमालय में अनेक मूल्यवान खनिज पदार्थों के भण्डार हैं। इनके सम्बन्ध में यद्यपि अभी तक पूरी जानकारी नहीं हो पाई है परन्तु फिर भी इतना कहा जा सकता है कि हिमालय रजत, ताम्र, और लोह जैसे खनिज पदार्थों को अपने गर्भ में छिपाये हुये है।

इतिहासकार फ़रिश्ता ने कुमायूं प्रदेश में सोना मिलने का भी उल्लेख किया है। वह लिखता है—

> "कुमायूं के राजा के पास विस्तृत प्रदेश है। उसके क्षेत्र में पर्याप्त स्वर्ण प्राप्त होता है। तांबे की भी खानें इस प्रदेश में हैं। उत्तर में उसके प्रदेश का विस्तार तिब्बत तक है और दक्षिण में सम्भल तक।"*

नैनीताल गजेटियर में एक स्थान पर कुछ व्यक्तियों द्वारा चांदी निकालने का भी उल्लेख मिलता है। इसमें बताया गया है कि ये लोग मिट्टी में मिली चांदी के कणों को पानी में घोलकर निकालते थे।

सोने के सम्बन्ध में स्वामी प्रणवानन्द जी ने लिखा है कि 'मानसरोवर' के समीप किसी समय सोने की खानें थीं। उन्होंने यह भी लिखा है कि तिब्बती लोग इस सोने को ल्हासा के बाजार में १० रुपया प्रति तोले के भाव पर बेच देते थे। 'मानसरोवर' के समीप की सोने की खानें १९०० ई० तक चालू बताई जाती हैं। इसके पश्चात् वे बन्द हो गई।

---

* नैनीताल गजेटियर पृष्ठ १९८

काश्मीर में अनेक प्रकार के मूल्यवान रत्न मिलते हैं। किसी समय काश्मीर नीलम के लिये विख्यात था। नीलम बड़ा मूल्यवान पत्थर है। काश्मीर के पदार की नीलम की खानें कभी संसार भर में प्रसिद्ध रहीं। परन्तु अब इन खानों से नीलम नहीं निकलता। अब कुछ नई खानों से नीलम निकाला जाता है।

लगभग पचास वर्ष से काश्मीर की दासू नाम की खान से नीलहरित रत्न (एक्वामेरीन) निकलता रहा है।

काश्मीर के रमस्, बुनियार, खलेनी और पदार की खानों से निकल भी मिला है। अभी वह बहुत कम मात्रा में मिला है।

काश्मीर में मणिभ, पारदर्शक रंगीन खनिज भी निकलते हैं। इन खनिजों को व्यापारी हीरे के नाम पर भी बेच देते हैं। एक समय था जब बिना कटे अनेक प्रकार के खनिज तिब्बत के भोटिया यहां के व्यापारियों को बेचते थे। नेफा और लद्दाख के व्यापारी भी इन खनिज पदार्थों का व्यापार करते थे। भारत का नेपाल के साथ भी नील हरित रत्नों का व्यापार होता था।

काश्मीर से सिक्किम तक तांबे की अनेक खानें हैं। काश्मीर के लाशतियल खान से बड़ी मात्रा में तांबा निकाला गया है।

जब मैंने अलमोड़ा जिले के कुछ स्थानों का भ्रमण किया था, तब मुझे बताया गया कि बागेश्वर के समीप सरयू नदी की घाटी में तांबे का भण्डार विद्यमान है। उस समय वहां अनुसन्धान कार्य चल रहा था और उसके कुछ परिणाम सामने आ चुके थे। वहां तांबा, गन्धक और लोहा मिश्रित धातु काफी मात्रा में मिलने की आशा की गई है। अलमोड़ा की खराई पट्टी में सीसा मिला है। बागेश्वर के समीप मैंगनेसाइट भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ है।

सिक्किम में भी तांबे की अनेक खाने मिली हैं। आशा की जाती है कि अनुसंधान करने पर तांबा मिलने में कुछ और सफलता मिलेगी।

कहा जाता है कि किसी समय काश्मीर की खानों से चांदी निकाली जाती थी। वहां शीशा भी मिलता था।

कुमायूं प्रदेश में जिप्सम भी मिलता है। लछमन झूला ऋषिकेश के समीप भी जिप्सम की खानें मिली हैं।

काश्मीर और लद्दाख क्षेत्रों के कई स्थानों पर तालक भी मिलता है। काश्मीर के कई भागों में लोहा भी मिला है।

काश्मीर, कुमायूं और सिक्किम में ग्रेफाइट भी मिलता है। अल्मोड़ा जिले के कुछ स्थानों में भी ग्रेफाइट पाया गया है। अल्मोड़ा के पश्चिमी भाग में गंधक की भी खानें हैं। गढ़वाल जिले के नन्दप्रयाग में भी गंधक मिलता है। इस प्रकार के और भी अनेक खनिज पदार्थ हिमालय के शिखरों और घाटियों में प्राप्त होते रहे हैं।

भारत की खनिज सम्पदा की खोज के लिये अब जो नये परीक्षण किये जा रहे हैं, उनमें हिमालय के अनेक क्षेत्र सम्मिलित हैं। काश्मीर घाटी में अनेक मूल्यवान खनिजों के मिलने की आशा की गई है। इसी प्रकार सरकार ने गढ़वाल एवं अल्मोड़ा क्षेत्रों में भी कुछ परीक्षण कराये हैं।

हिमालय रत्नों का भंडार रहा है। इन रत्नों को प्राप्त करने के लिये अथक परिश्रम की आवश्यकता है। जिस प्रकार समुद्र के तल से गोताखोर मोती रोलकर लाते हैं उसी प्रकार हमें हिमालय से मूल्यवान नीलम और अन्य खनिज प्राप्त करने हैं।

हिमालय

की

चित्र कला

मूर्ति कला

हिमालय के लोक गीत

लोक नृत्य

संस्कृति का नवीनीकरण

शिक्षा का प्रसार

और

गांधी युग का प्रभाव

हिमालय की चित्रकला—

हिमालय की उपत्यकाओं में विकसित चित्रकला, कला की दृष्टि से अपन विशिष्ट स्थान रखती है। आधुनिक समय के इतिहासकारों के अनुसार मुगल बादशाह औरंगजेब के शासन काल में चित्रकारों ने हिमालय की शरण ली।

कला के ये धनी हिमालय के कई भागों में गये। इनमें से कुछ काश्मीर की सुषमामयी घाटी में जाकर बस गये। उन्होंने वहां पुराणों की कथाओं के आधार पर जो चित्रकारी की वह भारत की अमूल्य सम्पत्ति समझी जाती है।

बहुत वर्षों की बात है कि मुझे राजर्षि पुरुषोत्तम दास जी टंडन के साथ ऋषिकेश जाने का अवसर मिला था। उस अवसर पर उनके साथ मैंने हरिद्वार में एक संन्यासी के पास एक ऐसा हस्तलिखित धर्मग्रंथ देखा था जिसमें अनेकों कलापूर्ण चित्र बने थे। इस ग्रंथ के सम्बन्ध में बताया गया था कि यह काश्मीर में प्राप्त हुआ था। यह ग्रंथ हाथ से बने कागज़ पर बड़ी ही सुन्दर लिपि में अंकित किया गया है। इसके पृष्ठों पर सुन्दर बेल बनी है और इसके चित्र कई रंगों से बनाये गये हैं। इन चित्रों में लाल, पीला, नीला और हरा रंग तो प्रयोग किया ही गया है अपितु इनके साथ सुनहरी रंग भी प्रयोग में लाया गया है। ये चित्र काश्मीर शैली के उत्कृष्ट चित्र समझे जाते हैं।

कुछ का कहना है कि काश्मीर चित्रकला में कृष्ण चरित्र और दशावतार सम्बंधी घटनाओं को विशेष महत्व दिया गया है।

यहां मैं इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूं कि औरंगजेब के समय में मुगलकालीन चित्रकार हिमालय के नगरों की ओर क्यों गये। इतिहासकारों के अनुसार अकबर जहां सगीत से प्रेम रखता था, वहां उसे चित्रकला से भी अगाध प्रेम था। उसने चित्रकारों को पूर्ण प्रश्रय देकर चित्रकला को बड़ा प्रोत्साहित किया।

अकबर के चित्रकला प्रेम के सम्बन्ध में अबुलफजल ने लिखा है—'अकबर चित्रकला को मुक्ति और ईश्वर सान्निध्य प्राप्त करने का एक मुख्य साधन मानता था।'

श्री न्हानालाल चमनलाल मेहता आई० सी० एस० ने मुगल सम्राट अकबर के समय की चित्रकला के सम्बन्ध में लिखा है—

> "मुगल सम्राट अकबर के जमाने में महाभारत के फारसी अनुवाद 'रज्मनामा' के अतीत सुन्दर चित्र दो-दो तीन-तीन चित्रकारों के हाथ से बने हैं। एक ने रेखा खींची है, जिसे उस समय के चित्रकारों की भाषा में 'तरह करना' कहते हैं। दूसरे ने रंग भरा है, जिसे 'रंगरेज' कहते हैं। एक चित्र में कभी-कभी तरह के, रंग के, हाशिये के, बिलकुल अलग अलग कारीगर हुआ करते थे। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक चित्र बिना रंग के भी मिलते हैं—इन्हें

'स्याह कलम' कहते हैं। तैयार चित्रों की रेखाओं से ही झिल्ली पर खाका उतार लेते थे। पुराने चित्रों के इन खाकों को एक प्रकार का 'स्याह कलम' कहना चाहिए जो चित्रकारों के वंशजों के लिये बड़े ही उपयोगी और मूल्यवान साबित हुये, क्योंकि बीसवीं सदी में उनसे अमेरिका और योरप के श्रीमंत जनों के लिये, हजारों की संख्या में चित्र बने और बिके।"*

श्री मेहता के इस लेख से जहां अकबर काल की चित्रकला का कुछ परिचय मिलता है, वहां इससे यह भी पता चलता है कि भारत की चित्रकला ने विदेशों में भी ख्याति-प्राप्त की। श्री मेहता ने भारतीय चित्रकला के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"भारतीय चित्रकला में सादृश्य को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।"

औरंगजेब ने अकबर के विचार से सहमत न होकर चित्रकला को इस्लाम धर्म के विरुद्ध बताया और उसका घोर विरोध किया।

अकबर कालीन चित्रकारों को जब औरंगजेब ने किसी प्रकार से भी सहन न किया तब वे अपना क्षेत्र छोड़कर वन पर्वतों की ओर जाने को विवश हुये। जो चित्रकार पंजाब के कांगड़ा क्षेत्र की ओर गये उनकी चित्रकला कांगड़ा शैली के नाम से विख्यात हुई। इसे गुलेर, नीरा सुजानपुर और नूरपुर के राजाओं का प्रश्रय प्राप्त हुआ।

गुलेर राज्य में सन् १८७८ तक यह कला गोवर्धनचंद्र, प्रकाशचंद्र और भूपसिंह राजाओं के समय में विकसित हुई। तीरासुजानपुर में राजा संसारचन्द्र और राजा अनिरुद्धचन्द्र ने इस कला को प्रश्रय दिया। नूरपुर राज्य में १७३५ ई० से १८४६ ई० के काल में राजा पृथीसिंह और राजा वीरसिंह ने इसे विकसित कराया।

कांगड़ा शैली के चित्रों में राधाकृष्ण की प्रेम कथाओं को विशेष महत्व दिया गया है। वैसे प्राकृतिक चित्रण की दृष्टि से भी कांगड़ा शैली चित्र अपना विशिष्ठ स्थान रखते हैं।

अठारहवीं शताब्दी में गढ़वाल एक बड़ा राज्य माना जाता था। उस समय के राजा की राजधानी श्रीनगर थी। मुगलकालीन कुछ चित्रकार श्रीनगर गये। इनमें भोलाराम नाम के चित्रकार ने विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनके चित्र गढ़वाल शैली के उत्कृष्ठ चित्र माने गये हैं।

गुरुखा आक्रमण के कारण गढ़वाल का कुछ भाग गढ़वाल महाराज के हाथ से निकल गया। फलस्वरूप महाराज सुदर्शन शाह को टिहरी जाना पड़ा और उनके

* द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ पृष्ठ २८०

राज्य का नाम टिहरी गढ़वाल पड़ा। टिहरी गढ़वाल राज्य बन जाने पर श्रीनगर के कलाकार टिहरी राज्य में ही चले गये।

गढ़वाल के चित्रकारों में चेतूशाह के नाम को बड़ी ख्याति प्राप्त हुई। प्रकृति चित्रण और सौन्दर्य की कोमल अभिव्यक्तियों के चित्रण में वे बड़े सफल चित्रकार माने गये हैं।

इतिहास की एक और घटना का उल्लेख भी यहां कर देना आवश्यक है कि जब गुरुखों ने सुजानपुर पर आक्रमण किया तब कांगडा का राजा अनुरोध चंद्र अपनी दो बहिनों को लेकर टिहरी राज्य में चला गया। वहां जाकर उसने अपनी दोनों बहिनों का विवाह महाराज सुदर्शन शाह के साथ कर दिया और उन्हें उस अवसर पर कांगड़ा शैली के चित्रों का एक संग्रह भी भेंट किया।

चम्वा की चित्रकला भी अपना विशेष स्थान रखती है। चम्वा के चित्रकारों ने धार्मिक एवं ऐतिहासिक दोनों प्रकार के चित्रों से पर्वतीय चित्रकला को सम्मानित किया है।

मैंने यहां सत्तरहवीं अठारहवीं और उन्नीसवीं शती की पर्वतीय चित्रकला का कुछ उल्लेख किया है। परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इससे पूर्व पर्वतों में चित्र-कला के सम्बन्ध में किसी प्रकार का ज्ञान न था। कुछ विद्वानों का मत है कि तिब्बत और चीन में जो धर्मोपदेशक हिमालय की ओर से गये, उनके साथ धर्म ग्रंथ ही नहीं किन्तु भारतीय चित्रकला सम्बन्धी साहित्य भी गया। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का कहना है "भारतीय चित्रकला का तिब्बत और चीन दोनों देशों की चित्रकला पर विशेष प्रभाव पड़ा।"

चीन के तुन-होय गुफा के भित्ति चित्रों पर अजंता के गुफा चित्रों का जो प्रभाव पड़ा उसकी झलक वहां के चित्रों से स्पष्ट मिलती है। वा० मोतीचन्द्र एम. ए. ने अपने 'भारत की चित्र-विद्या सम्वन्धी खोज' लेख में इस बात पर प्रकाश डाला है कि बौद्ध काल से ही भारत की चित्रकला को सम्मान मिलता रहा है। उनका कहना है 'इस कला का प्रभाव सारे एशिया भर में फैला था। खोतन, मध्य एशिया, तुन-हुवाङ्, बामियां, तिब्बत आदि देशों से जितने चित्र प्राप्त हुये हैं, उनपर अजन्ता की छाया साफ साफ दीख पड़ती है।"

वा० मोतीचंद्र ने अपने लेख में उन युरोपीय विद्वानों के नामों का उल्लेख किया है जिन्होंने अजन्ता गुफा के चित्रों को प्रकाश में लाने के लिये अथक परिश्रम किया। उनके लेखानुसार १८३० ई० में ले० जेम्स एडवर्ड एलेक्ज़ेण्डर ने अजन्ता के चित्रों पर लेख लिखे।

वा० मोतीचन्द्र का कहना है कि संस्कृत में 'चित्र शास्त्र' पर अनेक ग्रन्थ हैं। वे लिखते हैं—

'सब से अच्छा विवरण विष्णु धर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड में है। इसका अनुवाद डा० स्ट्रेला क्रामरीश द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। दूसरी उपादेय पुस्तक इस सम्बन्ध में 'समराङ्गण सूत्रधार' है। गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज द्वारा इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। श्रीरत्न ने सतरहवीं शताब्दी में 'शिल्परत्न' नाम की एक पुस्तक लिखी। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी और सरल है। इसका प्रकाशन ट्रावनकोर संस्कृत सिरीज में हुआ है। तिब्बती भाषा से जर्मन भाषा में अनुवादित होकर 'चित्रलक्षण' नाम की एक पुस्तक भी छपी है।''*

वा० मोतीचंद्र जी ने मुगल कालीन चित्रकला पर प्रकाश डालते हुये लिखा है– ''सोलहवीं सतरहवीं शताब्दी से भारत में मुगलों का राज्य आरम्भ होता है। तभी से फारस की चित्रकला का बहुत बड़ा असर भारत की चित्रकला पर पड़ा। बहुत दिनों तक पंदरहवीं शताब्दी के बाद के चित्र इंडो-एशियन चित्रों के नाम से प्रसिद्ध थे। डाक्टर कुमार स्वामी ने राजपूत पेंटिङ्ग यानी राजपूताने के चित्रों और मुगल-चित्रों को अलग अलग किया। सन् १९१२ में आपकी 'राजपूत पेंटिङ्ग' प्रकाशित हुई।''*

भारतीय पेंटिङ्ग के सम्बन्ध में डा० स्मिथ ने भी 'हिस्टरी आफ़ फ़ाइन आर्ट एंड सिलोन' पुस्तक में प्रकाश डाला है। मुगल चित्रकला पर मि० पर्सी ब्राउन ने भी बहुत अनुसंधान किया।

हिमालय की चित्रकला को सजीवता प्रदान करने में निकोलस रोरिक ने बड़ी सफलता प्राप्त की। रोरिक अपने हिमालय सम्बन्धी चित्रों के लिए विश्व ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। उन्होंने अपनी तूलिका के बल पर हिमालय के रहस्यमय दृश्यों को संसार के सम्मुख रखकर चित्रकला को एक नवीन रूप प्रदान किया है। उनकी चित्रकला हिमालय की आत्मा का दर्शन कराती है।

जर्मन के विख्यात चित्रकार अनागारिक गोविन्द ने भारत आकर हिमालय की ओर प्रस्थान किया। वे भी हिमालय के प्राकृतिक दृश्यों से बड़े प्रभावित हुये। उनके मन पर हिमालय की दिव्य छटा ने बड़ा प्रभाव डाला। उनकी दृष्टिमें हिमालय साकार शिव रूप हो गया। उन्होंने हिम शिखरों को अपनी तूलिका द्वारा ऐसा रूप दिया जिसमें मानव के उत्कृष्ट विचारों की झलक प्रगट होती है।

भारतीय कलाकार श्री कंवल कृष्ण ने भी हिमालय को चित्रित करने में बड़ी सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार कुमारिल स्वामी ने भी हिमालय को अपनी तूलिका द्वारा चित्रित करके ख्याति प्राप्त की।

इनके अतिरिक्त और भी चित्रकारों ने हिमालय को चित्रित करने का प्रयास किया है। प्राचीन और वर्तमान चित्रकला से यह बात भी प्रगट होती है कि

* गंगा-पुरातत्वाङ्क पृष्ठ १७३

हिमालय हमारी संस्कृति का मूलभूत आधार रहा है। हिमालय के उल्लासमय जीवन की झांकी प्रस्तुत करने में इन कलाकारों ने जो सफलता प्राप्त की उससे भारतीय संस्कृति को बड़ा बल मिला है।

मूर्तिकला—

हिमालय में मूर्तिकला का विकास कब हुआ, इसका ठीक पता चलाना कठिन है, इसका कारण यह है कि मूर्तिपूजक भगवान शंकर के 'शिवलिङ्ग' से मूर्तिकला का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। पौराणिकों का विश्वास है कि वेदों के समय से ही मूर्ति पूजा चली आ रही है और मनुष्यों ने अपने विश्वास के अनुसार अनेक देवी देवताओं की मूर्तियों का निर्माण कराया।

उत्तराखंड के सम्बन्ध में इतना तो निश्चय ही है कि बौद्धकाल में यहां मूर्तियों का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् आदि जगद्‌गुरु स्वामी शंकराचार्य के समय में भी मूर्तिकला को प्रोत्साहन मिला। पुरातत्ववेत्ता श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का कहना है— "शताब्दियों तक यहां मूर्तिकला विकसित होती रही।"

उन्होंने अपनी पुस्तक 'युगयुगों से उत्तर प्रदेश' के पृष्ठ सत्तरह पर लिखा है— "स्थापत्य और मूर्तिकला का इस प्रदेश में एक दीर्घकाल तक विकास होता रहा। जो प्राचीन स्मारक और अवशेष इस भू-भाग में यत्र-तत्र बिखरे हैं उनसे इस बात की पुष्टि होती है। कूर्माचल (कूमायूं) तथा केदारखंड (गढ़वाल, टिहरी गढ़वाल तथा उत्तर देहरादून) के जो स्थान स्थापत्य एवं मूर्तिकला के विकास के केन्द्र रहे हैं, वे बैजनाथ, बागेश्वर, कटारमल, जागेश्वर, द्वाराहाट, आदिबद्री, बिनसर, राणीहाट और लाखा-मंडल हैं।"

मैंने जब उनसे हिमालय के कुछ अन्य स्थानों की चर्चा की और उनको इन स्थानों के अतिरिक्त कुछ और स्थानों की मूर्तियों के चित्र दिखाये, तब उन्होंने कहा— 'हां, हिमालय के कुछ और स्थान भी हैं जिनमें कलापूर्ण मूर्तियां मिलती हैं।'

इसी प्रकार सुयोग्य विद्वान श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल से जब मैंने उत्तरा-खंड के कुछ स्थानों की मूर्तियों की चर्चा की तो उन्होंने कहा— 'उत्तराखंड में प्राप्त हुई मूर्तियों को सुरक्षित करने की आवश्यकता है क्योंकि ये हमारी मूर्तिकला की अमूल्य निधि हैं।'

हिमालय की मूर्तिकलाके सम्बन्धमें मैंने स्थानों के साथ उसका कुछ उल्लेख किया है। मेरा ऐसा विश्वास है कि मुस्लिम काल में अनेक मूर्तिकार हिमालय में गये। जिस प्रकार औरंगजेब के शासनकाल में चित्रकारों ने हिमालय की शरण ली, उसी प्रकार मूर्तिकार भी वहां गये। मुस्लिम आक्रमणों के होने पर भी इन्होंने हिमालय की कन्द-[illegible] अपनी कला को विकसित करने का यत्न किया।

हिमालय की मूर्तिकला के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि मूर्तिकारों ने पुराणों की कथाओं के आधार पर अग्निदेव, सूर्य, शिव, विष्णु, शिव पार्वती, कार्तिकेय गणेश, दुर्गा, चामुण्डा आदि अनेक देवी देवताओं की मूर्तियों का निर्माण किया। हिमालय में शक्ति पूजा को विशेष महत्व दिये जाने के कारण शक्ति के अनेक रूपों के अनुसार मूर्तियों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार शिव को भी अनेक रूपों में प्रगट किया गया है। उनके जितने भी नाम पुराणों में आये हैं, उनके अनुसार उनकी मूर्तियां बनाई गईं।

रानीखेत से तेरह मील दूरी पर द्वाराहाट के मंदिरों की दीवालों पर जो उत्कीर्ण शिलापट लगे हैं, उनपर आकर्षक मुद्राओं में स्त्रियों एवं पुरुषों के चित्रण हैं। कुछ मूर्तियों को पुष्पों से सुसज्जित दिखाया गया है। पुष्पों का कटान बड़ा ही कलात्मक रूप में हुआ है।

बिनसर की मूर्तियों का निर्माण सातवीं शती से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। मंदिर के चारों ओर एक बड़ी संख्या में मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं। इन मूर्तियों के सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ता श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का कहना है— 'इन्हें देखने से पता चलता है कि ईस्वी सातवीं से लेकर बारहवीं शती तक यह स्थान मूर्ति कला का महत्वपूर्ण केन्द्र था।'

लाखामण्डल के समीप भी प्राचीन मूर्तियां एक बड़ी संख्या में पाई जाती हैं। इनके बारे में ऐसा अनुमान किया गया है कि ये ईसा की पांचवीं शताब्दी में बननी प्रारम्भ हुईं और बारहवीं शताब्दी तक बनती रहीं। इसके पश्चात् मुस्लिम आक्रान्ताओं ने यहां के मन्दिर और यहां की कलापूर्ण मूर्तियों को खंडित किया।

गंगोत्री की ओर उत्तरकाशी जाते समय एक स्थान धरासू आता है। यह भागीरथी के तट पर बसा है। यहां एक छोटे से मंदिर में मुझे कई कलापूर्ण मूर्तियां देखने को मिलीं। इनमें अग्निदेव की मूर्ति बड़ी ही सुन्दर कृति है।

अग्निदेव की मूर्ति

भारत में अग्नि की पूजा का बड़ा प्रचलन रहा। पर्वतों में भी अग्नि को देवता मानकर उसकी पूजा की गई। धरासू की यह मूर्ति दसवीं शताब्दी की बताई जाती है।

मुझे टिहरी गढ़वाल, गढ़वाल, अल्मोडा एवं कई अन्य जिलों के ऐसे अनेक स्थानों में जाने का अवसर मिला जहां के मंदिरों के समीप या मंदिरों के भीतरी भाग में कलापूर्ण मूर्तियां एक बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। जागेश्वर में वहां के मंदिर के एक कमरे में अनेक मूर्तियां भरी हुई हैं। इन्हें देखने से ऐसा लगा कि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने हिमालय की दुर्गम घाटियों में पहुंचकर मूर्तियों को खण्डित करने में कोई कमी न की। जागेश्वर की मूर्तियां एवं मंदिर अब केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के संरक्षण में आ गये हैं।

खंडित एव पूर्ण दोनों प्रकार की मूर्तियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की पांचवीं से बारहवीं शताब्दी तक हिमालय में मूर्ति पूजा का विशेष प्रचलन रहा। वैसे कुछ मूर्तिया अठारहवां शती तक भी बनती रहीं।

ऐसा लगता है कि मुस्लिम आक्रमण के समय हिमालय के इन क्षेत्रों में भी हिन्दुओं में यही भावना काम करती रही कि उनके देवी-देवता उनकी रक्षा कर लेंगे। परन्तु जिस प्रकार सोमनाथ मंदिर के देवता मंदिर और उनके रक्षकों की कुछ भी सहायता न कर सके, इसी प्रकार हिमालय के मंदिरों में प्रतिष्ठित देव भी मुस्लिम आक्रमणों का बचाव न कर सके।

अब हमारा यह कर्तव्य है कि इन प्राचीन मूर्तियों का मूर्ति-कला की दृष्टि मे पूर्ण संरक्षण किया जाय। अभी तक जिन स्थानों में मूर्तियां वैसे ही पत्थरों का ढेर पड़ी हुई हैं उन सबका संग्रह होना अत्यन्त आवश्यक है। मैंने एक बार पुरातत्व विभाग को लिखा था कि वह इन सबके संरक्षण का यत्न करे। साथ ही मैंने यह भी सुझाव दिया था कि पुरातत्व से सम्बन्ध रखने वाले विद्वान उनके निर्माण काल का पता लगाने का यत्न करें।

बदरीनाथ क्षेत्र की मूर्तियों के सम्बन्ध में आदरणीय डा० सीताराम जी ने बदरीनाथ मदिर कमेटी को यह सुझाव दिया था कि वह बदरीनाथ पुरी में एक अच्छा संग्रहालय बना दे। उस संग्रहालय में मूर्तियों के अतिरिक्त हस्त लिखित ग्रंथ एवं अन्य सामग्री भी एकत्रित होनी चाहिये। खेद है कि उनके सुझाव पर अभी तक राज्य सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया।

इसी प्रकार उत्तरकाशी में भी एक अच्छे संग्रहालय के बनाये जाने का सुझाव दिया गया था। इससे गंगोत्तरी जाने वाले यात्रियों को विशेष आनन्द प्राप्त हो सकता है।

भारतीय संस्कृति जहां ऋषियों और दर्शनकारों के द्वारा पालित पोषित होती रही वहां उसे साधारण जनता का भी बल प्राप्त हुआ। वन पर्वतों में निवास करने वाली जनता ने जिस लोक संस्कृति की रक्षा की, उसपर भारत आज भी गर्व करता है। भारतीय संस्कृति के पोषण में लोक संस्कृति सदा सहायक रही है। इस विशाल देश की सामान्य जनता ने भगवान राम और कृष्ण की स्मृति को अब तक बनाये रक्खा है। जनता ने राजनीतिक उलझनों में न पड़कर मानवता का जो पोषण किया, उसने भारतीय संस्कृति को जीवित बनाये रखने में बड़ी सहायता प्रदान की।

पौराणिक कथाओं, देव मंदिरों और तीर्थ यात्रियों द्वारा हिमालय के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को विशेष बल मिला। सम्पूर्ण भारत के नर-नारियों ने धार्मिक विश्वास के साथ हिमालय के पुण्य तीर्थ स्थानों का भ्रमण करके, वहां के रहने वालों के प्रति जो आत्मिक स्नेह प्रगट किया उसने मैदानी और पर्वतीय भागों का एक प्रकार से भेद ही समाप्त कर दिया। मैंने अपनी इन तीर्थों की यात्रा के समय उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के उन स्त्री पुरुषों को देखा जो अपने यहां के ग्रामों में रहते हुये ठेठ ग्रामीण जीवन बिताते हैं। इसी प्रकार मुझे गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, दक्षिण भारत एवं बम्बई राज्यों के उन नर-नारियों से भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ जो पर्वतीय भाषा न समझते हुए भी पर्वतों के रहने वाले स्त्री पुरुषों से मिलकर प्रसन्नता का अनुभव करते थे। जिस समय विभिन्न प्रान्तों के ये यात्री रात्रि के समय अपनी अपनी भाषा में मधुर स्वर से भाव भरे गीतों का स्वर अलापते थे तब ऐसा लगता था कि मानो सम्पूर्ण भारत एक स्वर में अपने भगवान को प्रसन्न करने का यत्न कर रहा है।

इन स्वरों के साथ मुझे पर्वतीय भाइयों के संगीत को सुनने का भी अनेक बार अवसर मिला। मैंने उत्तराखंड के अनेक पर्वों एवं मेलों के अवसरों पर वहां के स्त्री पुरुषों के भाव भरे गीत सुने हैं। भले ही मैं उन गीतों को न समझ पाता था परन्तु उन्हें सुनने से इतना पता चल जाता था कि वे गीत किस विषय से सम्बन्ध रखते हैं। कभी कभी ऐसा भी हुआ कि वहां के रहने वाले मित्रों ने उन गीतों का भाव समझा दिया।

लोकगीतों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि गढ़वाल की कुछ जातियां केवल गायन और नृत्य का ही काम करती हैं। इनके नाम मिरानी, हुडक्या, ढक्की तथा बादी हैं। बादी को बाजगी भी कहते हैं। ये चारों जातियां निम्न वर्ग की मानी गई हैं। ये लोग घूम फिरकर अपने नृत्य एवं संगीत द्वारा अपना निर्वाह चलाते हैं। विवाह और उत्सवों पर 'औजी" जाति के लोग वाद्य-वादन करते हैं।

जौनसार बावर के सम्भ्रान्त परिवारों में सयना नृत्यगीत बड़ा प्रचलित है। वहां के स्त्री-पुरुषों ने १९६१ ई० के गणराज्य दिवस पर अपने इस गीत को प्रस्तुत करके बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। इस गीत में ग्रामीण जीवन बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में चित्रित किया गया है। गीत इस प्रकार है—

सयना नृत्य गीत

उदै कैरे नदीय सयना पणि रैं न ससौरे।
तेरो मेरो साथ सयना नादरिया को असौरे,
उदै कैरे नदीय सयना पणि रै न ससौरे।
तैरे मैरे बिचों दे सयना सांपों जशे तो सौरे,
संदो रै न बखतै सयना दीया वाड़ी वाटे रे।
सांप को न मुड़ वै सयना हाउं मारूगा काटे रे,
उबै कै न धारो दे सयना लागों ले न घाटे रे।
हाउं चेईथों तेरों दीया ली सयना तू चेईथी वाटे रे,
वशों लना देउड़ सयना पड़ो-लेना भरौ रे।
दीय न रे वाड़ी के सयना कुंणीये न मरों रे,
उदै न रै दुणी दे सयना गाढ़ी तेना कुलौ रे।
तू वाजीया भौरे सयना हाऊं वाजै दो फुलों रे,
उदै कैरे नदीय सयना वहे वाले कड़े रे।
फुलां बिनी वाजीणों सयना से जाग्रों लो झोड़े रे,
उदै कै न धारो दे सयना लागों लेना खयणों रे।
हाउं वाजे दो दूसों वैं सयना तू विदेरी गयणों रे,
उदै क रे खेतों दे सयना फुलों ले शरें शौ रे।
विदरे न गउणों सयना दी न वरैशों रे,
उदै कैरे नदीय सयना चिली को लो पाणी रे।

यह गीत बहुत लम्बा है इसका पूरा भावार्थ इस प्रकार है—

गीत का भावार्थ

प्रिय, तेरा मेरा सहाचर्य बाल्यकाल से है,
किन्तु बीच में सांप की तरह यह नदी पड़ी हुई है।
मैं सांप के सर को काट कर फेंक दूंगा,
मैं तेरा दीप हूं ग्रौर तू मेरी बाती है।
नहीं दीप जला कर प्राण हरता है,
प्रिय, तू भौंरा बनना, मैं कुंजे की कली बन जाऊंगी।
पर कुंजे की कली तो झड़ कर मर जाती है,

मैं सूर्य बनूंगा और तू निर्मल आकाश बन जाना।
पर निर्मल आकाश भी तो कभी बरसता नहीं,
तू गरजता बादल बनना मैं बिजली रानी बनूंगी,
अच्छा तो तू इन्द्र की अपसरा बनना,
जहां मन बसता, वहां मौत से डरना ही क्या ?
फूल फूलकर झरता है, वहां उसकी बास छूट जाती है,
जीवन हार कर भी सहारे पर जीता है।
अरे कल (मित्रों में) तेरी चर्चा हुई थी,
धुआं लगने के बहाने मेरी आंखों से आंसू बह चले।
तू न जाने कहां काले बालों को गूंथती रहेगी,
मेरे लिए आना-जाना दूर, केवल वेदना बची है।

जौनसार में दीवाली के अवसर पर स्त्री और पुरुष सम्मिलित रूप में नृत्य के साथ इस गीत को मधुर ध्वनि से गाते हैं।

जौनसार रवाईं और जौनसार में पाण्डव गीत भी बड़ा लोकप्रिय है जो नृत्य के साथ गाया जाता है। इस गीत के सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि यह देवता के प्रसन्न करने के लिये गाया जाता है। पाण्डवों को वाद्य और संगीत के साथ नचाने की प्रथा गढ़वाल के अन्य भागों में भी प्रचलित है।

पाण्डव-गीतों में पुराणों की अनेक कथाओं का भी उल्लेख किया जाता है। इन कथाओं में कुछ ऐसी कथायें भी हैं जो कुन्ती और द्रोपदी से सम्बन्ध रखती हैं। जौनसार के निवासियों का विश्वास है कि पाण्डव उनके यहां के ही रहने वाले थे।

गढ़वाल के वीरतापूर्ण लोकगीत जहां मानव को एक नई स्फूर्ति प्रदान करते हैं वहां मानव प्रेम से सम्बन्धित गीत मानव मन को एक अन्य दिशा में ले जाते हैं।

कांगड़ा के लोक गीतों में देश प्रेम और प्रकृति चित्रण को विशेष स्थान दिया गया है। हम इस प्रकार के एक लोकगीत की कुछ पंक्तियां यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें बताया गया है कि मेरा गौरवशाली देश कांगड़ा सबसे न्यारा है। यहां शीतल जल से भरी गहरी-गहरी नदियां हैं। यहां के युवक बड़े छैला हैं और युवतियां बड़ी बांकी (मन को मोह लेने वाली) हैं। यहां चिड़ियां चहचहाती हुई डाल पर फुदकती रहती हैं। हम सबसे ही प्रिय बोल बोलते हैं। यह मेरा कांगड़ा देश सबसे न्यारा देश है। गीत बड़ा सरल है।

गीत

गौरवशाली कांगड़ा
नी मेरा कांगड़ा देश न्यारा।
डुग्गी डुग्गी नदियां तां सैली-सैली धारां,
ओ सैली सैली धारां।

छैल छैल छैल गवरू तां बांकियां नारां,
ओ बांकियां नारां।
बोलण बोल प्यारा, नी मेरा कांगड़ा,
चिव चिव चिव चिव चिड़ुआ ओ करदा,
ओ चिड़ुआ ओ करदा।
उड़ी उड़ी डाली डाली बैहंदा,
बोलण बोल प्यारा, नी मेरा कांगड़ा।

कांगड़ा के लोक गीतों में वहां के रंग विरंगे पुष्पों, वृक्षों और लताओं आदि का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। लोक गीतकार ने वहां की भूमि को अन्न से परिपूरित बताया है।

काश्मीर के लोक गीतों में वहां की दिव्य छटा का अनूठा वर्णन मिलता है। उनमें जहां पुष्पित पुष्पों के सौन्दर्य का बखान किया गया है, वहां केसर की क्यारियों में सुगन्धि भी विखेर दी गई है।

काश्मीर के अनेक लोक गीतों में वहां के कृषकों और श्रमिकों के उस जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसमें जूझते हुए उसकी सम्पूर्ण आयु ही समाप्त हो जाती है। वहां की मनहर झीलों के अनुपम दृश्यों और मानव प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत लोक गीतों की स्वर लहरी सहज ही आत्म-विभोर कर देती है।

काश्मीर के पर्व और त्योहारों के गीतों में देव-पूजन को विशेष महत्व दिया गया है। ऐसे गीत धार्मिक समारोहों में ही गाये जाते हैं।

काश्मीर में विवाह के गीतों का प्रयोग वहां के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से करते हैं। ये लोग एक दूसरे के यहां आते जाते हैं और वर-वधु के लिये मंगल कामना करते हैं।

हिमालय के विशाल क्षेत्र में जो पर्वतीय आदिवासी भोटिया अथवा अन्य वर्ग के लोग रहते हैं, उनके गीतों की स्वर-लहरी भी मानव मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

नेपाल के समीपवर्ती क्षेत्रों के लोकगीतों में जहां देवता की आराधना की गई है, वहां प्रकृति की अनुपम शोभा का भी वर्णन किया गया है। इनके गीतों में मानव प्रेम को भी प्रगट किया गया है। मुझे जोशीमठ में कुछ नेपाली भाइयों द्वारा गाये गये लोक गीत सुनने का अवसर मिला। मुझे बताया गया कि इन गीतों में फूलों, वृक्षों एवं वन में उत्पन्न होने वाले फलों का सुन्दर वर्णन किया गया है। इनका देवसी गीत विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है।

मैं यहां नेपाल के 'भइलो गीत' के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख कर देना भी आवश्यक समझता हूं। नेपाल भगवान शिव का अनन्य भक्त रहा है। वहां शिव के अनेक मंदिर हैं। शिव की तरह वहां 'गाय' की भी बड़ी पूजा की जाती है। गाय को नेपाली लक्ष्मी रूपा मानकर पूजते हैं। लक्ष्मी पूजा के दिन गायों को खूब सजाया जाता है। नेपाली उन्हें कपड़े की झूलें पहनाते हैं और उनके सींगों और खुरों पर तेल लगाते हैं। उनके सींगों को पुष्पमालाओं से सजाते हैं और उनके माथे पर सिन्दूर का टीका लगाते हैं। स्त्री, पुरुष और बच्चे उनके नीचे से निकलते हैं।

नेपालियों का विश्वास है कि ऐसा करने से आयु में वृद्धि होती है और वर्ष भर तक उन्हें गाय का दूध पीने को मिलता है।

यह समारोह दीपावली के अवसर पर मनाया जाता है। रात्रि को महिलाएं 'भइलो गीत' गाती हैं और घर घर बधाई मांगने जाती हैं। इनके गीतों में मानव कल्याण की भावना पाई जाती है। जिन घरों पर वे बधाई मांगने के लिये जाती हैं, उनमें रहने वाले बदले में अपनी शुभ कामनाएं व्यक्त करते हुये सब के सुखी जीवन के लिये बधाई देते हैं।

कुल्लू घाटी के लोक गीत भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दशहरे के पर्व पर कुल्लू में एक सप्ताह तक बड़ा भारी मेला लगता है। इस मेले के कारण 'कुल्लू का दशहरा' बड़ा प्रसिद्ध है। मेले में न केवल कुल्लू घाटी के किन्तु समीपवर्ती अन्य क्षेत्रों के हजारों नर-नारी आते हैं। इस अवसर पर हिमालय के इन क्षेत्रों का अनेक जातियां अपनी अपनी पोशाक और अपनी अपनी भाषा में लोकगीतों का आनन्द लेती हैं।

यहां मैंने पर्वतीय जीवन से सम्बन्धित कुछ लोकगीतों की चर्चा की है। मुझे ज्ञात है कि गढ़वाल, काश्मीर और हिमालय के अनेक साहित्यकारों ने अपने लेखों में इन गीतों की चर्चा की है। बहुत से लोकगीत आकाशवाणी से भी प्रसारित हुये हैं। इनकी विस्तृत विवेचना करना मेरे लिये कठिन है। मुझे यहां केवल इतना ही कहना है कि हिमालय के विशाल क्षेत्र के लोकगीत हमारी सांस्कृतिक भावनाओं पर अपना प्रभाव डालते हैं।

लोक नृत्य—

लोक नृत्य का प्रारम्भ सृष्टिकाल से ही माना जाता है। कहा जाता है कि मानव ने अपनी भावनाओं को प्रगट करने के लिये शरीर के जिन अंगों का प्रयोग किया वे कालान्तर में नृत्य के आधार बन गये। मानव न जाने कितने समय तक संकेतों द्वारा कार्य चलाता रहा।

शिव, ताण्डव नृत्य की मुद्रा में

पुराणों के अनुसार नृत्य का प्रारम्भ शिव के ताण्डव नृत्य से माना जाता है। शिव, नृत्य के आदि देव माने गये हैं। शिव और पार्वती दोनों ही नृत्य कला में प्रवीण

थे। जहां शिव ताण्डव नृत्य में प्रवीण थे वहां पार्वती कोमल भावों को व्यक्त करने वाले लास्य नृत्य में निपुण थीं।

कविकुलगुरु कालिदास ने भी भगवान शंकर के इस नटराज स्वरूप का बड़ी कुशलता से सुन्दर चित्रण किया है। 'मेघदूत' में वह यक्ष के मुख से मेघ के प्रति कहलाते हैं—

नृत्यारंभे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां।
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥

(मेघदूत १।३६)

'हे मेघ, सायंकाल-समय नवीन जवापुष्प की लाली के समान रक्तिम आभा से सम्पन्न अपने मंडल को शिवजी की भुजाओं पर इस प्रकार तान देना कि अपने नाच के आरम्भ में उन्हें गजासुर की गीली खाल की इच्छा न रहे। उस समय पार्वती भी उस तेरी शिव-भक्ति को निश्चलनयन होकर देखेंगी।'

पुराणों के अनुसार शिव कैलास पर्वत पर निवास करते थे। अतः नृत्य का प्रारम्भ कैलास से ही हुआ माना जाता है। शिव के अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओं का भी नृत्य से सम्बन्ध जुड़ा माना जाता है। इन्द्र नृत्य के बड़े प्रशंसक माने जाते हैं। पुराणों में उनकी राज-सभा में अप्सराओं के नृत्य की अनेक कथायें वर्णन की गई हैं। नृत्य के लिये 'इन्द्र सभा' प्रसिद्ध थी।

प्राचीन साहित्य में हिमालय का किन्नरियों के नृत्य का भी वर्णन मिलता है। अब भी यह जाति अपने नृत्य कला के लिये विख्यात है।

हिमालय के विभिन्न क्षेत्रों के लोकगीतों में जिस प्रकार देवी-देवताओं की आराधना, प्रकृति की अनुपम छटा के वर्णन एवं मानवी प्रेम को स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार वहां के लोक नृत्यों में भी ये सब भावनायें मूर्त्तरूप से मुखरित होती हैं। हिमालय की प्रत्येक दिशा लोक नृत्य से परिपूरित हो रही है।

नृत्य और लोक नृत्य में क्या अन्तर है, यह मेरा विषय नहीं। न मैं शास्त्रीय नृत्य का ही कुछ ज्ञान रखता हूं। मुझे तो यहां केवल इतना बताना है कि हिमालय में बसी जातियां अनेक शताब्दियों से नृत्य का आश्रय लेती रही हैं। पर्वतीय घाटियों में रहने वाली इन जातियों के लोक नृत्य आज भी मानव मन को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

पर्वतीय लोक नृत्य के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि हिमालय के दो हजार मील से अधिक लम्बे क्षेत्र में अनेक प्रकार के लोक नृत्य प्रचलित हैं। नृत्यकार अपने अपने क्षेत्र की वेशभूषा में इन लोक नृत्यों को ऐसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते

हैं कि दर्शक बम्बई और अन्य नगरों की झिलमिलाती पोशाक को भूलकर उनके नृत्य की भावभरी मुद्राओं में आनन्द विभोर हो जाता है।

पहले मैं यहां जोनसार बावर के नृत्यों का कुछ उल्लेख कर रहा हूं। मैंने लोक गीतों के प्रसंग में सयना-लोकगीत का कुछ परिचय दिया है। यह गीत लोक नृत्य से ही सम्बन्ध रखता है।

जोनसार बावर के और भी अनेक नृत्य बड़े ही कलापूर्ण माने जाते हैं। मुझे वहां के सम्भ्रान्त परिवार की महिलाओं के कई लोक नृत्य देखने का अवसर मिला है। वहां की महिलायें जब हाथ की एक उंगली पर थाली को अनेक भावभरी मुद्राओं में नचाती हैं तब मानव-हृदय उनकी कला पर मुग्ध हुये बिना नहीं रहता। थाली नृत्य के समय वे सिर पर पानी से भरा गिलास भी रखती हैं। उनका नृत्य काफी देर तक चलता है परन्तु पानी की एक बूंद नीचे नहीं गिरती। इस प्रकार के उनके और भी अनेक नृत्य हैं जो कला की दृष्टि से अपना विशिष्ठ स्थान रखते हैं।

जोनसारी महिलाएं थाली नृत्य की मुद्रा में

थाली नृत्य जोनसार के अतिरिक्त गढ़वाल, कुमायूं और कुछ अन्य भागों में भी लोकप्रिय है।

जोनसार में 'पाण्डव नृत्य' और 'थोरा नृत्य' वीरता को प्रगट करने वाले नृत्य हैं। थोरा नृत्य में तलवारों का भी प्रयोग किया जाता है। जैंता और [illegible] जोनसार के समारोह नृत्य हैं। ये नृत्य स्त्री और पुरुष दोनों के सम्मिलित नृत्य हैं। [illegible]

पर्वतों के भोटिया, जाड और कुछ दूसरे लोग ऊनी वस्त्रों में नृत्य करते हैं। इनके नृत्यों में देवताओं को प्रसन्न करने का भाव अधिक पाया जाता है।

काश्मीरी जनता के लोक नृत्यों में कोमल भावनाओं का प्राबल्य माना गया है इनके लोक नृत्यों में प्रकृति प्रेम और उल्लास के साथ अध्यात्म की भावना भी मुखरित हुई है। बसंत में सम्पूर्ण काश्मीर में लोकगीत और लोक नृत्यों का क्रम चलता है।

पर्वतों के बाजगी लोग पेशेवर नृत्यकार हैं। ये लोग मेले, पर्वों, उत्सवों और सामाजिक समारोहों में अपने नृत्य और गीतों से जनता का मनोरंजन करते हैं। चैती पसारा इनका एक ऐसा नृत्य है जब ये लोग चैत के महीने में सवर्णों के घरों पर जाकर अपना नृत्य दिखाकर अन्न मांगते हैं। बाजगी जाति अपने नृत्य और संगीत से ही गुजारा चलाती है। पुरुष ढोल बजाते हैं और स्त्रियां नृत्य करती हैं। इसी प्रकार पर्वतों की बादी जाति भी नृत्य और संगीत से ही अपना गुजारा चलाती है। ये लोग शिव के उपासक माने जाते हैं। इनका बेडारी नृत्य बड़ा भावपूर्ण माना जाता है। स्त्रियां इस नृत्य में फिरकनी की तरह नाचकर अपनी नृत्य कला का परिचय देती हैं।

कुमायूं का छपेली नृत्य बड़ा लोकप्रिय नृत्य है। इसमें प्रायः नर्तक भाग लेते हैं। वे नायक-नायिका, भाई-बहिन और स्त्री-पुरुष दोनों पात्रों का प्रदर्शन करते हैं।

गढ़वाल का 'चौंफुलों नृत्य' भी उल्लेखनीय है। कुमारी लड़कियां इस नृत्य में भाग लेती हैं। वे चांदी की झेंवरी पहनकर नाचती हैं। इस झेंवरी आभूषण से वे घुंघरू की तरह अनेक ध्वनियां निकालती हैं। घर की बड़ी बूढ़ी स्त्रियां गीत गाती हैं।

नृत्यों के सम्बन्ध में यहां मुझे अधिक विश्लेषण नहीं करना है किन्तु दो बातें मुख्य रूप से बतानी हैं। प्रथम यह कि लोक नृत्यों में कलाकार अपने अपने क्षेत्र के अनुसार वाद्यों का प्रयोग करते हैं। दूसरी यह कि कहीं लोक नृत्यकार मोटे लबादे पहनकर नृत्य करते हैं और कहीं वे मामूली वस्त्रों से काम चलाते हैं।

गढ़वाल में कहीं तुरई, ढोल, दमामा, थाली और डमरू से काम लिया जाता है और कहीं नगाड़े का प्रयोग किया जाता है। मैंने कभी कभी बांस के टुकड़ों से मधुर ध्वनि निकलते देखी है।

वेश-भूषा के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि कहीं कहीं मुख पर चेहरे लगाकर भी नृत्य करने का रिवाज है। लद्दाख और स्पिती में नृत्यकार मुख पर चेहरे लगाकर नाचते हैं। ये चेहरे भिन्न २ पशुओं की आकृति वाले होते हैं। ये लोग भड़कीले रंग वाले चोगे पहनकर नृत्य करते हैं। गीतों में ये लोग अपनी भेड़, ऊन और पर्वतीय घाटियों का चित्रण करते हैं।

इस प्रकार हिमालय के इन लोक नृत्यों का हमारी संस्कृति से सीधा सम्बन्ध रहा है और आज भी ये लोक नृत्य वन पर्वतों के लोक जीवन की एक सुन्दर झांकी प्रस्तुत करते हैं।

संस्कृति का नवीनीकरण—

विद्वानों ने संस्कृति और सभ्यता में काफी अन्तर माना है। उनके अनुसार संस्कृति आत्मा से सम्बन्ध रखती है और सभ्यता मनुष्यों के कर्मों से। यहां मैं संस्कृति को आत्मा और कर्म दोनों से सम्बन्धित मानकर भारतीय संस्कृति के नवीनीकरण पर कुछ विचार प्रगट कर रहा हूं।

सृष्टि के प्रारम्भ में मानव की जो स्थिति थी, उसमें आज बड़ा भारी परिवर्तन दिखाई पड़ रहा है। उसके प्रारम्भिक सामाजिक जीवन से आज का जीवन बहुत बदल चुका है। इसी प्रकार उसके धार्मिक विचारों में भी एक बड़ा परिवर्तन आया है। वैदिक काल के ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों जैसा जीवन व्यतीत करना आज कठिन समझा जा रहा है। भले ही इने गिने व्यक्ति उस पथ का अनुसरण करने में समर्थ हों। इसी प्रकार उस युग का पठन पाठन और गार्हस्थ्य जीवन भी बहुत बदल चुका है। एक समय था जब जीवन का मुख्य लक्ष्य धर्म था। उस समय मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य को धर्म की कसौटी पर कसकर ही उसे क्रिया में लाता था। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य धार्मिक मान्यताओं से बंधा हुआ था। वह अपने खाने-पीने और उठने बैठने में भी धर्म को स्थान देता था

परन्तु आधुनिक सभ्यता में भौतिकवाद ही मुख्य है। प्रत्येक व्यक्ति उस भौतिकवाद में इतना उलझ गया है कि वह वैदिक काल की मर्यादाओं का पालन नहीं कर पाता। आज यदि यह कहा जाय कि पुराणों के अनुकूल पूजा पाठ, व्रत और नियमों का प्रत्येक व्यक्ति पालन करे तो शायद सर्व साधारण का जीवन चलना ही कठिन हो जाए।

भारतीय समाज की व्यवस्था में यद्यपि धर्म, सदाचार और व्यक्तिगत जीवन को मुख्य माना है परन्तु आज उस समाज की व्यवस्था का रूप ही बदल गया है। फिर भी इतना अवश्य है कि हमारी संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त आज भी अमर हैं और संसार के विद्वान उनका आदर करते हैं।

एम. लुई जेकोलियट ने भारतीय संस्कृति की प्रशंसा में लिखा है—

> "हे प्राचीन भारतभूमि ! हे मानव जाति की पालिका ! हे पूजनीया ! हे पोषिका ! तुझे नमस्कार है, नमस्कार है। तुझे शताब्दियों के अत्याचार आज तक नष्ट न कर सके। तेरा स्वागत है। हे श्रद्धा, प्रेम, कला और विज्ञान की जन्मदा तुझे नमस्कार है।" *

जार्ज बर्नार्डशा का कथन है —

> "भारतीयों की मुखाकृति में जीवन के प्रकृत रूप का दर्शन होता है। हम तो कृत्रिमता का आवरण ओढ़े हुए हैं। भारतीय मुख मंडल की सुकुमार रूप-रेखाओं में ही कर्ता के कराङ्गुष्ठ की छाप दिखाई देती है।" *

---

* [illegible]

पाश्चात्य सभ्यता के सम्वन्ध में चीन के सुविख्यात विद्वान डा० सनयातसेन का कहना है—

"पाश्चात्य सभ्यता द्वारा संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती और न किसी देश की वास्तविक उन्नति ही हो सकती है क्योंकि उस सभ्यता के अन्तः स्थल में हिंसा तथा स्वार्थ की लहरें उठा करनी हैं और वही लहरें आगे चलकर देश के सत्यानाश का कारण होती हैं।"*

इन विद्वानों के अतिरिक्त और अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय संस्कृति का गुणगान किया है। अपने देश के नेता भी भारतीय संस्कृति को विश्व के लिये कल्याणकारी मानते हैं। महात्मा गांधी जी ने एक स्थान पर लिखा है—

"दुनिया में किसी संस्कृति का भण्डार इतना भरा-पूरा नहीं है, जितना हमारी संस्कृति का है। हम लोगों ने उसे अभी जाना नहीं है, हम उसके अध्ययन से दूर रक्खे गये हैं, हमें उसके गुण जानने और मानने का मौका भी नहीं दिया गया। हमने उसके अनुसार चलना करीव करीव त्याग दिया है।"

जिस समय अंग्रेजों के विरुद्ध लड़े गये १८५७ ई० के स्वतंत्रता संग्राम में भारतीयों की पराजय हुई और अंग्रेज भारत पर शासनारूढ़ हुये उन दिनों मुसलमानों के अत्याचारों से जर्जरित हिन्दू लोग किंकर्तव्य विमूढ़ हो रहे थे। उस समय पहली नवम्बर १८५८ को महारानी विक्टोरिया की तरफ से जो घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया, उसमें वाध्य होकर अंग्रेजों को यह वचन देना पड़ा कि हिन्दू संस्कृति के सम्बन्ध में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।

हिन्दू संस्कृति के प्रसंग में हम यहां प्रकाण्ड विद्वान् मैक्समूलर का उस समय का वह पत्र उद्धृत कर रहे हैं जो उन्होंने महारानी विक्टोरिया को लिखा था। वे लिखते हैं—

'सम्पूर्ण विश्व में समस्त प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न, सौन्दर्य, शक्ति और सम्पत्ति से समलंकृत देश मेरे विचार से भारतवर्ष ही है।

'यदि मुझसे पूछा जाए कि किस देश में मानव मस्तिष्क ने अपनी मुख्यतम शक्तियों को विकसित किया, जीवन के बड़े-से-बड़े प्रश्नों पर विचार किया और ऐसे समाधान ढूंढ निकाले, जिनकी ओर प्लेटो और काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालों का ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये, तो मैं भारतवर्ष की ही ओर संकेत करूंगा।

'यदि मैं अपने आप से पूछूं—किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमेटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारा में बहते हुये यूरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को

* 'आज' काशी २ अप्रैल १६२६ ई०

अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त विश्वजनीन, उच्चतम मानवीय बना सकेंगे—जो जीवन इहलोक से ही सम्बद्ध न हो अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो, तो मैं फिर भारतवर्ष की ही ओर संकेत करूंगा।'*

(सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया को भेजे गये एक पत्र से)

यहां मेरा आशय भारतीय संस्कृति की विशेषता को प्रगट करने का यही है कि युग बदल जाने पर भी भारतीय संस्कृति की मूलभूत बातें आज भी समाज को शक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं। मानव वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में आज भी भारतीय संस्कृति का सहारा चाहता है। इस सहारे के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी पाशविक वृत्तियों पर नियंत्रण लगाये और मानवता के पोषण का लक्ष्य निर्धारित करके अपने जीवन की क्रियाओं को नियंत्रित करे।

इस नियंत्रण के लिये जहां भारतीय संस्कृति की शरण में जाना आवश्यक है, वहां इस बात का भी ध्यान रखना है कि पाशविक वृत्तियों को उभारा न मिले। आज देखने में आ रहा है कि शोषण करने वाले भी अपने को सभ्य समझते हैं। भारतीय संस्कृति में इस प्रकार के शोषण को त्याज्य माना गया है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि उसमें स्वार्थ सिद्धि को कोई स्थान प्राप्त नहीं। उसमें परमार्थ को विशेष स्थान दिया गया है। परन्तु इस समय

'If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that Nature can bestow, I should point to India.

'If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant, I should point to India.

'And, if I were asked myself from what literature we here in Europe, we who are nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greeks and Romans and of the Semetic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more universal, in fact more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and Eternal life, again I should point to India.'

(In a letter to Queen Victoria in the year 1858)

* कल्याण का हिन्दू संस्कृति विशेषाङ्क

परमार्थ की बात करना मूर्खता समझा जा रहा है। इस विचार को बदलने के लिये हमें भारतीय संस्कृति को एक नये रूप में रखना है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की सात्विक वृत्तियों को प्रोत्साहन मिले। इसके लिये धार्मिक उपदेश करने से अब काम नहीं चल रहा। यदि मनुष्य अपने आचरण को ठीक रखकर दूसरों से कुछ आशा करे तो सम्भव है, उसका अच्छा प्रभाव पड़े।

आज समाज का जो स्तर गिरा है, उसने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया है। उस प्रभाव से हिमालय के क्षेत्र भी अछूते नहीं बचे हैं। जिन क्षेत्रों में देवताओं और ऋषियों की वाणी गूंजी, उनमें भी पाशविक वृत्तियां पनपने लगी हैं। इससे बचने के लिये आवश्यकता है कि उन वृत्तियों को सात्विक वृत्तियों से दबाया जाए।

इस सम्बन्ध में आचार्य मुनि सुशील कुमार का कहना है—

"किसी देश के पुरुष या स्त्री को देखकर आप उस देश की संस्कृति की अवस्था का मोल लगा सकते हैं। आप यह जान सकते हैं कि वह जाति या देश सफलता की कितनी सीढ़ियां चढ़ा है। उसकी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और आचारिक परम्परा कैसी है, उसका आदि कहां से है और अन्त किधर गतिमान है?

"आपको विदित है कि संसार का शुद्ध स्वरूप ब्रह्ममय है। मनुष्य उस अनन्त सत्य का एक अंश है। उसके चारों ओर एक प्राणशील आवरण-वातावरण तना है। इसलिये यह सत्ता महत्वपूर्ण हो जाती है। विभिन्न विद्वानों, पंडितों और दार्शनिकों ने इस ब्रह्म सत्ता को अपने ढग और तर्क, शैली और तरीकों से बखाना है, लेकिन हमें उस की तह तक जाने की जरूरत नहीं। हमें उसके नवनीत को पाना है। किसी ने अपनी शैली में उसे द्वैत कहा, अद्वैत कहा, द्वैताद्वैत और विशिष्ट द्वैत कहा। कोई शून्य बताकर शून्य हो गया। लेकिन यह सब ने स्वीकार किया कि ब्रह्मसत्ता है और उसका संस्कारित-स्वरूप संस्कृति है। जो संस्कृति के द्वारा अलंकृत है, वह संस्कृत (किया हुआ) है।"

मनुष्य के श्रेष्ठ तत्वों के सम्बन्ध में उनका कहना है—

"इस आत्म तत्व के प्रकाश में मनुष्य ने पिछले सहस्रों वर्षों में ज्ञान, विज्ञान, बुद्धि, हृदय, प्रकृति आदि अनेकानेक क्षेत्रों में अकथनीय उन्नति की। यद्यपि इस काल में हमें मनुष्य के सुर और असुर सभी स्वरूप देखने को मिले। रावण, कंस, बाणासुर जैसे असुर भी हुए। पर निर्माण और मर्यादा के पुरुषोत्तम राम, लक्ष्मण, कृष्ण, गौतम और महावीर जैसे अभयदानी भी इसी अवधि में हुये। मानव आगे बढ़ा और उसके भीतर जो 'मानवता' सोई थी वह जगी और वह भी आगे बढ़ी। इस प्रकार, हम कहेंगे कि संसार-सागर में मानवता का अभियान चलता रहा।"

'राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर के जन्म ने इतना तो प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य आसुरिक, विनाशात्मक ताकतों से सदैव लड़ता रहा है, लड़ता रहेगा और जब उसके साधारण रूप से काम न चलेगा, तो लोक-उद्धारक भगवान बनकर अन्तिम समय तक लोक की रक्षा करेगा।

'यहीं हमारी संस्कृति का समुज्जवल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है—विनाश, हिंसा, वर्बरता एवं द्वेष से लड़ना, उनपर मनुष्य के देव-गुणों की विजय प्रतिष्ठित करना।'

इस समय संसार भर में विनाश, हिंसा और घृणा का वातावरण बन गया है। इससे भारत भी आज प्रभावित हो रहा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन देशों ने किसी समय भारत को अध्यात्मिक गुरु मानकर उसके चरणों में मस्तक झुकाया था, वे ही आज उसकी संस्कृति पर प्रहार कर रहे हैं। ऐसी दशा में भारत को अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिये अपने विचारों में एक बड़ा परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

समय के अनुसार इसमें परिवर्तन लाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। हमें इस बात को नहीं भूल जाना है कि समय के अनुसार परिवर्तन न लाने से समय समय पर भारी क्षति उठानी पड़ी। यदि मौहम्मद गजनी के आक्रमण के समय सोमनाथ मंदिर के देवताओं के भरोसे न रहकर रक्षा का संगठित प्रयत्न किया जाता तो हिन्दू समाज का इतना अधिक विनाश न होता जितना उनकी शक्ति पर विश्वास कर लेने से हुआ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि वैदिक काल की संस्कृति प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ थी। उसके शान्ति, सहनशीलता, सत्यनिष्ठा, इन्द्रियों पर विजय, दानशीलता, दयालुता एवं नम्रता ऐसे गुण हैं जिनको सभी ने स्वीकार किया है। जीवन में सात्विकता की भावना रखना आर्यो का एक महान गुण था।

पौराणिक काल में भी ये सब गुण भारतीय संस्कृति के अंग बने रहे परन्तु मनुष्य के यज्ञों और कर्मकाण्ड का प्रकार बदल गया। उस समय के धर्म शास्त्रों में ऐसी बातें सम्मिलित हो गई जिनका वेदों से कोई सम्बन्ध न था। पंडितों ने फिर भी भारत के अध्यात्मवाद को बनाये रखने का यत्न किया। पूजा पाठ की विधि बदल जाने पर भी वे भगवान में आस्था रखते रहे। परन्तु उनका क्रम देर तक न चल पाया। अंध विश्वासों ने सांस्कृतिक परम्पराओं को भारी क्षति पहुंचाई। इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान बुद्ध को कठोर साधना करके मानवों को सात्विकता, पवित्रता और अहिंसा की ओर लाना पड़ा।

भगवान बुद्ध के विचारों का संसार भर पर प्रभाव पड़ा। उनके उपदेशों का

बौद्ध संस्कृति में अनेक परिवर्तन आये। भारत और भारत से बाहर के देशों में बुद्ध के धार्मिक उपदेशों का रूप ही बदल गया। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध-कालीन संस्कृति अधिक देर तक न टिक सकी।

इस युग के उपरान्त आदि शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। उनके समय में बौद्ध संस्कृति का रूप बदल गया। उन्होंने बौद्ध-धर्म का खण्डन करके पुनः वैदिक संस्कृति को व्यापक बनाने का यत्न किया। इस युग के उपरान्त भारत की संस्कृति को मुस्लिम एवं क्रिश्चियन संस्कृतियों ने प्रभावित किया। मुसलमानों के आने पर भारत के सामान्य रहन सहन, रीति रिवाजों और धार्मिक विचारों में परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। पुराने विचारों को बदले बिना उस समय के लोगों का जीवन नहीं चल सकता था। ईसाई धर्म के प्रभाव से भारतीय संस्कृति में अनेक परिवर्तन आये। धार्मिक भावनाओं को उस काल में भारी ठेस पहुंची। परन्तु भारत के संतों और महात्माओं, धर्माचार्यों एवं दार्शनिक विद्वानों ने प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिये अनेक साधन निकाले। उन्होंने भारत के शासन-आत्म ज्ञान और सामाजिक जीवन की रक्षा के लिये अपने अपने क्षेत्रों में कार्य किया और भारत की अध्यात्मनिधि को नष्ट होने से बचाया।

इस युग के पश्चात् भारत में महर्षि दयानन्द ने प्रवेश किया। उन्होंने प्राचीन वैदिक धर्म को पुनर्जीवित करके जनता को नये विचार दिये। उनके पश्चात् महात्मा गांधी जी का कार्य प्रारम्भ हुआ। यद्यपि उनका कार्य राजनीति से सम्बन्ध रखता था परन्तु उन्होंने अपनी राजनीति में सत्य और अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया। प्राचीन धर्म शास्त्रों के अनुसार सत्य और अहिंसा धर्म के दो स्तम्भ हैं। सत्य पर ही मानव का श्रेष्ठ जीवन आधारित है। इसी प्रकार अहिंसा के बिना भी मनुष्य धार्मिकता को स्थिर नहीं रख सकता।

महात्मा गांधी जी ने सत्य और अहिंसा के साथ साथ भगवान की प्रार्थना को भी महत्व दिया। उन्होंने सभी धर्मों की उन बातों को अपनी प्रार्थना का अंग बनाया जो एक दूसरे से सामंजस्य रखती थीं। उनकी प्रार्थना सभाओं में हजारों नर-नारी बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ सम्मिलित होते थे। उनके प्रवचनों में सम्मिलित होने वाले विदेशी विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि गांधी जी की वाणी का आत्मा पर बड़ा प्रभाव पड़ता था।

गांधीजी के निधन के पश्चात् भारत में धर्म-निरपेक्षता की दृष्टि से सभी धर्मों और संस्कृतियों का समन्वय किया जा रहा है। इस समय जहां धार्मिक आचार्य, मौलवी और पादरी अपने अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं, वहां इस बात का प्रयत्न भी हो रहा है कि विभिन्न धर्मावलम्बी एक दूसरे के धार्मिक विचारों का लाभ उठा कर एकता स्थापित करने में सफल हों।

भारत सरकार ने देखा जाय तो संस्कृति का रूप ही बदल दिया है। इस समय इस बात का यत्न किया जा रहा है कि संसार भर में मानवता की रक्षा हो और जो शक्तियां मानवता के विनाश में लगी हैं, उन्हें दूसरी ओर लगाया जाय। अपने आपको विनाश से बचाना और दूसरों की विनष्ठ होने से रक्षा करना आज संस्कृति का मुख्य आधार बन गया है। परन्तु फिर भी मानव इससे दूर जाना चाहते हैं। ऐसी दशा में आवश्यकता है कि भारत के अध्यात्मवाद का तेजी से प्रचार हो।

समय के अनुसार बदलकर हमें अब अपने आपको सुसंस्कृत बनाना है। भौतिकवाद की लपटों से बचकर जब तक हम अध्यात्मवाद की ओर नहीं आयेंगे तब तक हमारा और हमारे समाज का कल्याण नहीं।

शिक्षा का प्रसार—

हिमालय की दुर्गम घाटियां किसी समय देवताओं की क्रीड़ा-भूमि रहीं। उसके उपरान्त साधु, महात्माओं और योगियों ने उन्हें अपनी एकान्त तपस्या के लिये चुना। समय परिवर्तित होते होते अब उन घाटियों और उनके समीपवर्ती शिखरों पर सामान्य जन विहार करते हैं। इतना ही नहीं किन्तु उनसे सम्पर्क स्थापित करने के लिये आज हमारे देश के नेता भी प्रयत्नशील रहते हैं।

एक समय था जब सम्पूर्ण उत्तराखंड में सौ दो सौ पंडित ही रहते थे, जन साधारण को शिक्षा से कोई काम न था। वे अपनी बोलचाल के बल पर ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते थे।

उस समय के पंडितों की यह दशा थी कि वे निम्न वर्ग को अक्षर ज्ञान कराना पाप समझते थे। उनके कानों में शास्त्रों की बातें पहुंचने को वे अधर्म मानते थे। परन्तु अब वह 'अंधकार-युग' समाप्त हो चुका है। सम्पूर्ण उत्तराखंड में अब अनेक शिक्षण संस्थायें कार्य कर रही है। स्वतंत्रता के उपरान्त तो इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य हुआ है।

एक बार की बात है कि उत्तरकाशी में डा० सम्पूर्णानन्द जी गये थे। उस समय वे उत्तर प्रदेश राज्य के मुख्य मंत्री थे। जिस समय वहां के कार्यकर्ताओं ने उनके सम्मुख टिहरी गढ़वाल जिले की शिक्षा सम्बन्धी कुछ समस्यायें रक्खी उस समय उन्होंने यही कहा—'हम तो चाहते हैं कि आप न केवल लड़कों की उच्च शिक्षा की मांग करें किन्तु अपनी लड़कियों के लिये भी अधिक से अधिक विद्यालय खोलें।'

इस समय टिहरी गढ़वाल, उत्तरकाशी, गढ़वाल और पिथौरागढ़ चारों सीमावर्ती जिलों में अनेक विद्यालय चालू हैं। लड़कों के विद्यालयों के अतिरिक्त अब इन जिलों में लड़कियों के भी विद्यालय खुल गये हैं। राजमाता कमलेन्दुमती शाह ने टिहरी में लड़कियों का कालिज खोलकर स्त्री शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन दिया है।

कुछ क्षेत्रों में सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने भी शिक्षा को प्रोत्साहन दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी सैंकड़ों पाठशालायें खोली गई हैं।

हिमालय के एक बड़े भाग में आर्य समाज ने भी शिक्षा के प्रचार में महत्व-पूर्ण कार्य किया है। आर्य समाज ने उत्तराखंड के पचासों स्थानों में पाठशालायें स्थापित कीं। हिमालय के कितने ही स्थान ऐसे हैं जहां आर्य समाज के कार्यकर्ता लड़के और लड़कियों के हाई स्कूल चला रहे हैं। रामगढ़ जैसे स्थान में महर्षि दयानंद के नाम पर एक विशाल शिक्षा संस्था चल रही है। आर्य समाज के नेता महात्मा नारायण स्वामी ने इस संस्था की स्थापना की थी। इस प्रकार की संस्थाएं मसूरी, शिमला, नैनीताल, अल्मोड़ा आदि अनेक स्थानों में शिक्षा को विस्तार देने का यत्न कर रही हैं।

इस प्रकार का काम हिमालय के अन्य क्षेत्रों में भी हुआ है। काश्मीर राज्य के अन्तर्गत अनेक विद्यालय चालू हैं। लद्दाख, सिकियांग और नेफा के पिछड़े क्षेत्रों में भी अब शिक्षा की किरणें फूट रही हैं। वास्तविक बात तो यह है कि अब हिमालय की दुर्गम घाटियां भी ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होती जा रही हैं।

शिक्षा का एक दूसरा दृष्टिकोण भी हम सबके सम्मुख विद्यमान है। पर्वतीय घाटियों और शिखरों में वास करने वाले अब अपने लड़के और लड़कियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत के बड़े बड़े नगरों में भेज रहे हैं। वे चाहते हैं कि दुनियां की दौड़ में हमारे बालक और बालिकायें पिछड़े न रहें किन्तु आगे बढ़कर भारत के मस्तक को उन्नत करने में सफल हों।

इन क्षेत्रों के रहने वाले आज केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बड़े २ पदों पर कार्य कर रहे हैं। कितने ही ऐसे युवक हैं जो अपनी प्रतिभा के बल पर प्रशासन के कार्यों में लगे हुये हैं। इन क्षेत्रों के रहने वालों ने प्रायः सभी सरकारी विभागों में उच्च पद प्राप्त किये हुये हैं। इनके अतिरिक्त हिमालय के ऐसे भी अनेक विद्वान हैं जो अपने ज्ञान से देश भर का मार्ग दर्शन करने में सहायक बने हुये हैं।

शिक्षा के सम्बन्ध में जहां यह उज्ज्वल पक्ष हमारे सामने आता है, वहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि ग्रामीण लोग अपने बालक बालिकाओं को शिक्षा दिलाने की अपेक्षा सारे दिन घरेलू कामों में लगाये रखना अधिक पसंद करते हैं। उनका कहना है कि यदि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजने लगें तो उनके घर के कामधंधे पूरे न हों। इस प्रकार की विचारधारा को अब बदलने का यत्न किया जा रहा है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही पिछड़ा वर्ग भी शिक्षा से लाभ उठाने लगेगा।

जहां तक निम्न वर्ग के लोगों की शिक्षा का प्रश्न है, इसके लिये राज्य सरकार और सार्वजनिक कार्यकर्ता दोनों ही इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि इनको भी उच्च वर्ग के समान शिक्षा प्राप्त करने का पूरा अवसर प्राप्त हो।

गांधी युग का प्रभाव—

हिमालय की संस्कृति को राष्ट्रपिता गांधी जी के विचारोंने एक नवीन रूप दिया है। उनका मुख्य ध्येय यह था कि मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति का पूर्ण अवसर प्राप्त हो। इसके लिये उन्होंने हरिजन एवं सवर्ण दोनों को समान स्तर पर लाने का यत्न किया।

गांधी जी हिमालय के अनेक स्थानों में गये। उन्होंने वहा की सार्वजनिक और प्रार्थना सभाओं में हरिजनों को समान रूप से साथ लेकर आगे बढ़ने की प्रेरणा की। जिन दिनों महात्मा गांधी जी अल्मोड़ा जिले में कोसानी स्थान पर रहते थे, उनकी सभा में वहां के सभी वर्ग समान रूप से भाग लेते थे। कोसानी में उन्होंने 'अनासक्ति योग' नाम की पुस्तक भी लिखी थी। प्रसन्नता की बात है कि अब उनकी विदेशी शिष्या सरला बहिन गांधी जी के विचारों को विस्तार देने में संलग्न हैं। वे एक आश्रम चला रहीं हैं।

कुछ वर्ष पूर्व हिमालय में गांधी जी की शिष्या मीरा बहिन ने भी बहुत कार्य किया था। उन्होंने ऋषिकेश के समीप बहुत वर्षो तक 'पशुलोक' चलाया था। यहां से वे चम्मा के समीप चली गई थीं। वहां उन्होंने 'पक्षीकुंज' नाम की संस्था खोलकर पर्वतीय भाई बहिनों में गांधी जी के विचारों का फैलाने का यत्न किया। मुझे उनके दोनों आश्रमों में जाने का अवसर मिला था। मैंने देखा था कि वहां के रहने वाले उनको बड़ी श्रद्धा से मस्तक झुकाते थे। उन्होंने छोटे बड़े वर्गो में प्रेम उत्पन्न करने का भरसक यत्न किया।

गांधी जी के विचारों को फैलाने में गांधी आश्रम के कार्यकर्ताओं ने भी काफी योग दिया है। खादी आश्रमों के द्वारा उन्होंने जहां खादी का प्रचार किया वहां समय-समय पर अनेक आयोजन करके गांधी विचारों को भी फैलाया।

गांधी विचारों के प्रसार में हरिजन कार्यकर्ताओं ने भी बड़ा योग दिया है। इन्होंने पुराने विचारों में परिवर्तन लाने के लिये बड़े कष्ट सहन किये हैं। अब से बीस वर्ष पहले की बात है कि मुझे रामगढ़ (जिला नैनीताल) जाने का अवसर मिला था। वहां मेरे एक मित्र डा० मदन मोहन मित्तल ने 'शिल्पकार सम्मेलन' आयोजित किया था। उसमें मुझे भाग लेने का अवसर मिला। उस समय मैं यह नहीं जानता था कि 'शिल्पकार' मैदानी भागों के समान निम्न वर्ग के व्यक्ति होते हैं। सम्मेलन में वहां के कुछ शिल्पकारों ने जब उच्च वर्ण की अनेक ज्यादतियों का उल्लेख किया तब समझ में आया कि ये लोग निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। उन समय शिल्पकारों ने अपनी एक चाय की दुकान लगा ली थी। इस पर उच्च वर्ग के लोगों ने बड़ी आपत्ति की थी। परन्तु हरिजन कार्यकर्ताओं ने कष्ट उठाकर भी शिल्पकारों को उन्नत करने का सफल यत्न किया।

इधर टिहरी में गांधी जी के अनन्य भक्त ठक्कर वापा के नाम पर जो छात्रावास स्थापित किया गया है, उसके संचालकों एवं उसमें निवास करने वाले विद्यार्थियों ने गांधी विचारों के प्रसारण में निस्संदेह सराहनीय कार्य किया है। मुझे इस छात्रावास के कई समारोहों में सम्मिलित होने का सौभाग्य मिला है। छोटे छोटे वालक वालिकाओं को 'महात्मा गांधी जी' की जय वोलते सुनकर ऐसा लगता था कि हिमालय की इन उपत्यकाओं में गांधी जी की आत्मा का चमत्कार छाया हुआ है।

मुझे एक वार उत्तरकाशी में आयाजित हरिजन सम्मेलन में भाग लेने का अवसर भी मिला था। इस सम्मेलन में राज्य सरकार के अनेक विभागीय अधिकारी सम्मिलित हुए थे। वहां के निम्नवर्ग की आर्थिक स्थिति को उन्नत करने पर उस समय मुख्य रूप से विचार किया गया था। मैंने उस समय ऐसा अनुभव किया कि इस क्षेत्र के रहने वालों पर गांधी जी के विचारों का काफी प्रभाव पड़ चुका है। आर्थिक संकट में फंसे निम्न वर्ग के सामने उस समय मुख्य समस्या यह थी कि वे अपना निर्वाह किस प्रकार चलायें। वैसे कुछ सामाजिक समस्याओं पर भी विचार हुआ था।

जिस समय मैं सर्व प्रथम वदरीनाथ की यात्रा पर गया था, उस समय वहां हरिजन संघ दिल्ली के कुछ कार्यकर्ता भी पहुंचे हुये थे। उस दिनों मन्दिर के प्रवन्धक श्री पुरुषोत्तम वगवाड़ी थे। उन्होंने पहले दिन ही हरिजन कार्यकर्ताओं को यह स्वीकृति दे दी थी कि वे निश्चित समय पर मंदिर दर्शन के लिये आयें। जिन पंडों ने कुछ आपत्ति की भी, उन्हें समझा दिया गया कि वे समय के अनुसार अपने विचारों का वदलकर हरिजनों के मंदिर प्रवेश के कार्य में सहायक वनें। वे लोग इस बात को जानते थे कि राज्य सरकार ने मदिर प्रवेश विल स्वीकार करके प्रत्येक व्यक्ति को मंदिर दर्शन का अधिकार दिया हुआ है। अतः ये लोग मौन रहे और हरिजन कार्यकर्ताओं की एक टोली ने तम्बूरे पर भजन गाते हुए वद्रीनाथ-मंदिर में प्रवेश किया। इस प्रकार भारत के विख्यात मदिर की सीढियों पर महात्मा गांधी की जय वोलते हुये, इन सभी कार्यकर्ताओं ने गांधी विचारों को प्रसार देने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

इस हरिजन टोली के सम्बन्ध में एक वड़ी ही विचित्र वात भी सामने आई। मैं मंदिर के विश्राम गृह में ठहरा हुआ था। मेरे एक दो जानकार भाई वहां आये। उनमें से एक ने पूछा: 'क्या यह वात सच है कि ये लोग भंगी, चमार हैं ? मैंने उन्हें उत्तर दिया कि यह तो मुझे मालूम नहीं कि ये भंगी और चमार हैं परन्तु इतना अवश्य है कि ये हरिजन हैं। वह व्यक्ति मेरी बात सुनकर तत्काल कह उठा 'ये तो इतने उजले कपड़े पहने हुये हैं कि इन्हें कोई छोटी जाति का मान ही नहीं सकता।'

ऐसे और भी अनेक अवसर आये हैं जब वन पर्वतों के रहने वालों ने महात्मा गांधी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की है। हिमालय की उपत्यकाओं में जो कार्य इस दिशा में हुआ है, वह निस्संदेह सराहनीय है।

हिमालय पर

शत्रु की कुदृष्टि

देवभूमि रण क्षेत्र बनी

राष्ट्र रक्षा आज का धर्म

हिमालय पर

शत्रु की कुदृष्टि —

हिमालय के हिमाच्छादित शिखर, उसकी उपत्यकायें एवं घाटियां सदा से अजेय रही हैं। इन शिखरों पर वास करने वाले देवता इसके रक्षक रहे। ऋषि, मुनियों और देवी देवताओं के ये हिमगिरि शृंग धार्मिक भावनाओं के लिये संसार भर में विख्यात् हुये। सम्पूर्ण भारत के श्रद्धालु नर-नारियों ने इन हिमगिरि शृंगों में स्थापित मंदिरों और तीर्थ स्थानों का भ्रमण करके इनके प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति का परिचय दिया। हिमालय के इन शिखरों और उपत्यकाओं की ओर शत्रु ने कभी आंख उठाकर देखने का साहस नहीं किया। परन्तु अब कुछ समय से ये सब स्थान शत्रु का निशाना बने हुये हैं।

इस समय हिमालय की ओर चीन और पाकिस्तान दो देशों की अनेक गति-विधियां चल रही हैं। पाकिस्तान ने सन् १९४७ के विभाजन के पश्चात् काश्मीर पर आक्रमण करके हिमालय की सीमा पर युद्ध का प्रारम्भ किया था। उन्होंने कबायलियों की मदद से काश्मीर के लगभग एक तिहाई भाग को अपने अधिकार में लेकर वहां 'आजाद काश्मीर' राज्य स्थापित करने का ढोंग रचा। यदि उस समय भारत सरकार युद्ध वंदी स्वीकार न करके कठोर कदम उठाती तो सम्भव था कि पाकिस्तान काश्मीर लेने का कभी नाम न लेता।

पाकिस्तान ने काश्मीर के लिये अनेक बार संघर्ष किया है। उसने भारत के साथ अनेक बार समझौते किये परन्तु उनका पालन न करके, वह काश्मीर लेने के लिये ही संघर्ष करता रहा। उसने ५ अगस्त १९६५ को काश्मीर पर एक बड़ा आक्रमण करके युद्ध को भड़काने का पूरा यत्न किया। इस आक्रमण के सम्बन्ध में उसने यही कहा कि यह काश्मीर की जनता का विद्रोह है। परन्तु जब वहां [illegible] और पाकिस्तानी शस्त्र पकड़े गये तब यह बात सामने आई कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया है। उसने घुसपैठियों को भेजकर सारे काश्मीर में अशांति उत्पन्न करने का जो षडयंत्र रचा था, उसमें वह पूर्णतया असफल रहा। युद्ध में बुरी तरह पिटकर भी वह अभी तक काश्मीर पर अपनी गृद्ध-दृष्टि लगाये हुये है।

पाकिस्तान के इस आक्रमण से पूर्व १९६२ ई० में चीन ने हिमालय के कुछ क्षेत्रों में आक्रमण किये। उसने नेफा सिक्यांग और लद्दाख में घुसने का यत्न किया

चीनी फाजा-सानका-न भारताय क्षेत्रा में घुसकर अंधाधुंध गोलियां चलाई। उस समय भारत को भारी क्षति उठानी पड़ी। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय यह कल्पना नहीं की जाती थी कि चीन मित्र होते हुये भारत पर आक्रमण करेगा।

चीन के आक्रमण ने हिमालय के लगभग दो हजार मील लम्बे क्षेत्र को सैनिक गतिविधियों का केन्द्र वना दिया। उसने हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों तक सड़क वनाने का यत्न किया। परन्तु भारत सरकार ने उसका साहस और वीरता के साथ मुकावला करके उसे भारतीय क्षेत्र से वाहर निकालने का यत्न किया। जिन हिम शिखरों पर गोला वारूद पहुंचना कठिन समझा जा रहा था, भारत के साहसी वीरों ने अपने प्राणों की वाजी लगाकर वहां अस्त्र शस्त्र पहुंचाकर शत्रु को पीछे धकेलने में सफलता प्राप्त की।

कुछ राष्ट्रों ने चीन और भारत के वीच समझौता कराने का यत्न किया। युद्ध विराम हुआ और दोनों देशों ने निश्चित स्थान तक हटकर अपनी रक्षा पंक्तियां वनाईं। प्रयत्न करने पर भी अभी तक चीन और भारत के वीच कोई समझौता नहीं हुआ है। चीन ने अभी ऐसा वातावरण नहीं वनने दिया जिससे युद्ध का खतरा टल जाता किन्तु वह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर रहा है कि दोनों देशों की सेनाओं में सीधा संघर्ष हो जाय। उसने भारत सीमा पर एक वड़ी संख्या में चीनी सेनायें एकत्रित की हुई हैं। सिकियांग और लद्दाख में उसने कई वार घुसने का यत्न किया है।

जिस समय अगस्त १९६५ में पाकिस्तानी घुसपैठियों ने काश्मीर में आक्रमण किये, उस समय यह आशंका होने लगी थी कि कहीं चीन आक्रमण न कर वैठे। भारत ने पाकिस्तान और चीन दोनों देशों की सेनाओं से मोर्चा लेने की जो दृढ़ नीति उस समय अपनाई, उसने भारत के मस्तक को संसार भर में ऊंचा कर दिया।

पाकिस्तान अभी तक युद्ध की तैयारी में है। वह काश्मीर स्यालकोट और वाड़मेर आदि क्षेत्रों में आक्रमण करने की घात में है और चीन लद्दाख से नेफा तक के विशाल क्षेत्रों में जहां अवसर मिले, घुसना चाहता है।

हिमालय की सीमा के प्रसंग में यहां हम भारत और तिब्वत सीमा का भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। भारत और तिब्वत दोनों देशों के पारस्परिक सम्वन्ध मैत्रीपूर्ण रहे है। तिब्वत और भारत का व्यापारिक सम्वन्ध उस समय रहा जब तक चीन ने तिब्वत पर अधिकार नहीं कर लिया था।

तिब्वत पर चीन का अधिकार हो जाने पर उत्तराखड का एक वड़ा भाग भी चीनियों का निशाना वना। चीन ने इस बात का कई वार यत्न किया कि वह माना, नीति और नेलंग घाटियों में घुसपैठ करे परन्तु भारत ने इन सब घाटियों की सुरक्षा का

जो प्रवन्ध किया है, उसके सामने चीन के सैनिकों का यह साहस नहीं कि वे भारतीय सीमा में घुस आयें। वैसे वे कई बार माना और नीति घाटियों में चोरी छिपे आये और उनमें से कुछ पकड़े भी गये।

इस तरह चीन हिमालय के अनेक भागों में घुसने का यत्न कर रहा है। वह चाहता है कि भारत के जिस क्षेत्र में उसे अवसर मिले, आक्रमण करे। इधर भारत सरकार ने हिमालय की सम्पूर्ण सीमा को सुरक्षित करने का यत्न किया है।

देवभूमि रणक्षेत्र बनो—

हिमालय को देवभूमि कहा गया है। हिमालय के उन्नत शिखरों और उपत्यकाओं में अनेक देवों ने वास किया। इसी कारण ये सब दैवी वृत्तियों के केन्द्र भी माने जाते हैं।

हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर एवं उससे सम्बन्धित पर्वतमाला सम्पूर्ण आर्यवर्त्त देश की रक्षा करती रही है। वास्तविक बात तो यह है कि उत्तर में यह हमारी प्राकृतिक प्राचीर है। इस प्राचीर के उन्नत शिखरों में बसे तीर्थ स्थान, और उन शिखरों से निकलने वाली नदियां सदा-सदा से धार्मिक प्रेरणा दे रही हैं। ये पवित्र नदियां और ये अनेकों तीर्थ आज सम्पूर्ण भारत के लिये भावात्मक एकता और धर्म के केन्द्र बन गये हैं। देश के प्रत्येक प्रान्त और प्रत्येक भाग— सुदूर दक्षिण तक से, प्रति वर्ष श्रद्धा भक्ति से परिपूर्ण नर नारी युग युगों से हिमालय में बसे तीर्थों से आकृष्ट होकर आते रहे हैं। कभी प्रान्त भेद, भाषा-भेद अथवा खान-पान और रीति रिवाजों के भेद ने इन तीर्थों के प्रति आकर्षण को कम नहीं होने दिया। हिमालय से निःसृत नदियों ने देश के उत्तरी भू-खंड को पूर्व से पश्चिम तक सिंचित किया है और उस क्षेत्र के सभी निवासियों में हिमालय के प्रति समान रूप से श्रद्धा बनी हुई है।

हिमालय की वन-सम्पदा समान रूप से सारे भारत को सम्पन्न बनाती रही है। इस क्षेत्र के छोटे-से छोटे भू-भाग को आज यह कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि वहां कोई व्यक्ति निवास नहीं कर सकता। हमें तो हिमालय की समस्त भूमि को पावन भूमि समझना है।

इस पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुये अब हमें यह देखना है कि क्या हम इस देवभूमि को केवल धार्मिक महत्व ही दें या इसे राष्ट्र रक्षा का महत्वपूर्ण प्रश्न समझकर इस पर सर्वस्व अर्पित कर देने को उद्यत हों।

यह तो अब स्पष्ट ही है कि हिमालय की यह पावन भूमि युद्ध का केन्द्र बन गई है। युद्ध की ज्वाला यद्यपि इस समय कुछ शान्त है परन्तु हो सकता है कि युद्ध पिपासु उसे अन्दर ही अन्दर सुलगा रहे हों। ऐसी स्थिति में हमें यह समझना होगा कि उस युद्ध में जय प्राप्त करने के लिये हम कौन सा मार्ग अपनायें।

मैं भगवान श्रीकृष्ण के उस संदेश को सम्मुख रखते हुये कुछ विचार कर रहा हूं जिसमें उन्होंने अर्जुन से कहा था—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

(गीता अध्याय २–३६)

इसमें अर्जुन से कहा गया है कि तुम्हें अपने क्षात्र धर्म के विचार से युद्ध में गुरुजनों, बन्धु-बांधवों और अन्य कुटुम्बियों के मारे जाने का भय त्याग देना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से अधिक श्रेयस्कर अन्य कुछ भी नहीं है।
इससे आगे इस धर्म युद्ध के सम्बन्ध में भगवान कृष्ण कहते हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

(गीता अध्याय २–३७)

अर्जुन यह युद्ध क्या है, मानो स्वर्ग का द्वार है जो स्वयं खुला है। ऐसा अवसर जिस क्षत्रिय को प्राप्त होता है, वह बड़ा भाग्यशाली है। इस लिए हे अर्जुन! तुम युद्ध का निश्चय करके खड़े हो जाओ।*

मैं यहां भगवान श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश के विस्तार में नहीं जाना चाहूंगा। मुझे उपरोक्त उदधरण से केवल इतना निष्कर्ष निकालना है कि हिमालय और उससे सम्बन्धित क्षेत्र की रक्षा को हम आज का क्षात्र-धर्म समझें और उस धर्म की रक्षा के लिये जो भी संकट आये उसे सहर्ष सहन करने को तत्पर रहें।

यह सभी जानते हैं कि युद्ध एक घृणित कर्म है। युद्ध से मानव का विनाश होता है। परन्तु जब दानवी शक्तियां उस युद्ध को दैवी शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिये बलात् उन पर लादना चाहें तब उससे मुंह मोड़ना या दानवी शक्तियों के सम्मुख पराजय मान लेना जघन्य पाप है। आज हिमालय की सीमा पर उत्पन्न हुई स्थिति इसी बात की पुष्टि करती है कि हम अपने हिमालय के विशाल सीमा क्षेत्र की रक्षा को अपना धर्म मानें और जिन शक्तियों से यह युद्ध लड़ा जाय उनको आसुरी वृत्तियों का पोषक समझें।

युद्ध के सम्बन्ध में हम यहां नोबल पुरस्कार विजेता श्री अर्नेस्ट हैमिंग्वे के कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे इस बात को समझने में सहायता मिलेगी कि

---

* श्रीमती ऐनी बीसेंट ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—
"Happy the Kshatriyas, O Partha, who obtain such a fight offered unsought as an open door to Heaven."

शान्तिप्रिय देशों को भी कभी कभी किस प्रकार युद्ध में उलझना पड़ता है। वे लिखते हैं—

"युद्धों का अन्त करने के लिए लड़े गये प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लेने का अवसर मुझे भी मिला। मुझे युद्ध मात्र से घृणा है तथा मेरे मन में उन राजनीतिज्ञों के प्रति भी घृणा की भावना है, जिनके कुप्रबन्ध, अविनय, स्वार्थपरता तथा महत्वाकांक्षाओं के कारण युद्ध जन्म लेते हैं तथा शान्तिप्रिय देशों को भी उनमें अनिवार्यतः भाग लेने के लिये विवश होना पड़ता है।"

युद्ध छिड़ जाने पर क्या करना है, इसके सम्बन्ध में उनका कहना है—

"परन्तु एक बार युद्ध छिड़ जाने पर हमारे सामने केवल एक ही मार्ग रह जाता है—हमें युद्ध जीतना चाहिए, क्योंकि पराजय के परिणाम युद्ध की हानियों की अपेक्षा अधिक भयंकर होते हैं। हमें इसमें विजय प्राप्त करनी ही होगी। हमें इसे हर मूल्य पर और शीघ्रातिशीघ्र जीतना होगा। हमें इस युद्ध में अपने ध्येयों को ध्यान में बनाए रखकर विजय प्राप्त करनी होगी। हमारा ध्येय है कि अधिनायकवाद के विरुद्ध संघर्ष करते समय हम स्वयं अधिनायकवादी विचारों और आदर्शों के जाल में न फंस जाएं।"

युद्ध की पराजय को श्री हैमिंग्वे ने अत्यन्त घृणित कार्य बताया है। वे लिखते हैं—

"मैंने अपने जीवन-काल में बहुत युद्ध देखा है तथा मैं युद्ध से अत्यन्त घृणा करता हूं, परन्तु युद्ध से भी अधिक भयंकर, घृणित और जघन्य कुछ और है—यह सब कुछ जो पराजय के परिणामस्वरूप भोगना पड़ता है। आप युद्ध से जितना अधिक घृणा करेंगे, उतना ही आप यह अनुभव करेंगे कि चाहे किसी भी कारणवश हो—यदि एक बार आप युद्ध में फंस गए तो आपको वह युद्ध जीतना ही होगा। आप को युद्ध जीतना है तथा उन लोगों से सदा के लिए पिंड छुड़ा लेना है, जिन्होंने यह युद्ध आरम्भ किया है। इतना ही नहीं, आपको युद्ध में इस प्रकार विजयी होना है कि भविष्य में ऐसा युद्ध पुनः सम्भव न होने पाए। हम तब तक युद्ध जारी रखेंगे, जब तक कि हमारा ध्येय पूर्ण नहीं हो जाता। यदि इस कार्य में सौ वर्ष भी लगेंगे, तो हम सौ वर्ष तक लड़ेंगे तथा हमारी पूरी तैयारी है, हमें जो कोई भी चुनौती देगा हम उससे ही लड़ेंगे।"

श्री हैमिंग्वे ने लोकतंत्र की रक्षार्थ लड़े जाने वाले युद्ध का समर्थन करते हुए लिखा है —

"हम यह संघर्ष लोकतंत्र के लिए लड़ रहे हैं। उन सुविधाओं और अधिकारों का उपभोग करने के लिए हमें युद्ध करना ही होगा जो हमें हमारे संविधान ने प्रदान किए हैं। जो कोई भी हमसे किसी भी देश में तथा किसी भी तर्क से

आधार पर हमारे मौलिक अधिकार और हमारी संवैधानिक व्यवस्था छीनने की चेष्टा करेगा हम उसको मुंहतोड़ उत्तर देंगे, फिर चाहे वह कोई भी हो।"*

श्री हैमिग्वे के कथनानुसार संसार में तभी स्थायी शान्ति हो सकती है जब अधिनायकवाद और सैनिक शासन समाप्त कर दिये जायं क्योंकि ये दोनों शक्तियां युद्ध को प्रोत्साहन देती रही हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि लोकतंत्र की प्रणाली में युद्ध को कोई महत्व प्राप्त नहीं होता अपितु ऐसे राष्ट्र युद्ध से बचने का ही यत्न करते हैं।

ठीक यही स्थिति आज हमारे सम्मुख विद्यमान है। अपनी अठारह वर्षों की स्वतंत्रता की अवधि में भारत ने कभी युद्ध का मार्ग नहीं अपनाया किन्तु सिर पर युद्ध के बादल छा जाने पर भी उसने शान्ति के मार्ग का पल्ला पकड़ा।

मैं यहां १९६२ के चीनी आक्रमण से उत्पन्न हुई स्थिति पर प्रधान मंत्री स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू के कुछ विचार प्रस्तुत करना आवश्यक समझता हूं। इससे इस बात का पता चलता है कि युद्ध की स्थिति में किसी देश को क्या करना आवश्यक है। उन्होंने कहा था—

"सारी दुनिया में हम शान्ति चाहते थे और जाहिर है, अपने मुल्क में भी चाहते थे। हम जानते हैं कि आज कल के जमाने में लड़ाई कितनी भयानक है और हमने पूरी तरह से कोशिश की कि कोई ऐसी लड़ाई, जो दुनिया को डुबो दे, वह न हो। लेकिन हमारी कोशिशें हमारी सरहद पर कामयाब नहीं हुई जहां एक बहुत ताकतवर और बेशर्म दुश्मन जिसको जरा फिक्र न शांति की थी, न शांति के तरीकों की, उसने हमको धमकी दी और उस धमकी पर अमल भी किया। इसलिए वक्त आ गया है कि हम इस खतरे को पूरी तौर से समझें और बावजूद इसके कि मुझे पूरा इतमीनान है कि कोई ताकत ऐसी नहीं जो हमारी आजादी को हम से छीन सके, आखिर में, जिस आजादी को हमने इतनी मुसीबत से मेहनत से और त्याग से हासिल किया और बाद बहुत जमाने के जबकि हमारा मुल्क औरों की गुलामी में था। लेकिन इस आजादी को और मुल्क के हर हिस्से को मुल्क में रखने के लिए हमें पूरी तैयारी करनी है, कमर कसनी है और उस खतरे का सामना करना है जो इस वक्त सबसे बड़ा खतरा हमारे सामने आया है, जब से हम आजाद हुए हैं। मुझे कोई शक नहीं कि हम कामयाब होंगे और हर और चीज का उसके बाद में नम्बर है, क्योंकि सबमें अव्वल चीज हमारे लोगों की और हमारे मुल्क की आजादी है और तैयार होना चाहिए हर चीज को हम इस पर न्योछावर कर दें।'†

---

* श्री नेमिशरण मित्तल द्वारा लिखित लेख से

† २२ अक्टूबर १९६२ को आकाशवाणी से प्रसारित संदेश का कुछ अंश

भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने भी उस समय युद्ध को पूरी शक्ति के ाथ लड़ने की प्रेरणा की थी। उन्होंने कहा था —

"हम न केवल चीनी हमलों को नेस्तनाबूद करके अपने देश की भूमि छुड़ा लेंगे, बल्कि जरूरत पड़ी तो हम तिब्बत पर से चीन के गलत कब्जे को भी समाप्त करके तिब्बत को चीन की दासता से मुक्त कर देंगे।"

"हिंसा हो या अहिंसा, हम आवश्यकतानुसार किसी भी रास्ते को अपनाकर भारत माता को बचायेंगे। अगर मौजूदा हालात में हिंसा का जवाब हिंसा से देना पड़ रहा है, तो इसमें कोई हर्ज नहीं। हम दुश्मनों को दिखा देंगे कि भारत का लोहा दूसरे देशों के लोहे से कमजोर नहीं है।"

"एक भी चीनी हमलावर हमारी पवित्र भूमि में चला आये, तो हमें उसे खाने के लिये अन्न नहीं देना चाहिये और ऐसी परिस्थिति पैदा करनी चाहिये कि उसे खाने को अनाज नहीं मिले, पीने को पानी नहीं मिले और वह मर जाए, तो उसे दफनाने के लिये जमीन न मिले।"

"हिन्दुस्तान इस समय बड़ी मुश्किल स्थिति में से गुजर रहा है। हम अपनी बहुमूल्य आजादी को किसी भी हालत में नहीं खो सकते। इस वक्त हमें क्षणिक आवेश में आकर ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिससे हम अपनी ही हानि कर बैठें।"

"हम शान्तिपूर्ण नीति रखते हैं। हमने कभी किसी दूसरे देश पर कब्जा करने की बात नहीं सोची और आज भी किसी पर आक्रमण करने की बात नहीं सोचते। हम केवल दुश्मनों से अपनी जमीन वापिस ले लेना चाहते हैं, जो चोर की तरह हमारे देश के एक-दो कोने में घुसा चला आया है।"*

भारत के दो नेताओं के इन विचारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत के विरुद्ध लड़े जाने वाला युद्ध उसके जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था। यदि उस समय इस प्रश्न को हमारे नेता केवल सत्य और अहिंसा के मार्ग द्वारा सुलझाना चाहते तो यह स्पष्ट था कि शत्रु भारत के एक बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लेता।

उस समय नेहरू जी एवं डा० राजेन्द्र प्रसाद जी के अतिरिक्त अन्य कई नेताओं ने तो संसद में यहां तक कहा था 'चीन का यह युद्ध हमारे लिये धर्म-युद्ध बन गया है।'

श्री हॅमिन्दे के विचारों को पुनः दृष्टि में रखकर मैं यह कहना चाहता कि राष्ट्र के किसी भी भाग की रक्षा को हमें अपना धर्म मानना चाहिए। इस प्रकार हम

---

* डा० राजेन्द्रप्रसाद के २४ अक्टूबर १९६२ को पटना में दिये गये भाषण से

बात की आवश्यकता है कि हमारी सम्पूर्ण शक्तियां अपने राष्ट्र के हित में लगें। युद्ध के समय अपने स्वार्थ में पड़े रहना धर्म शास्त्रों ने जघन्य पाप माना है। हमें समझना चाहिए कि हमारा हिमालय इस समय युद्ध की लपटों से प्रभावित है। अतः हमें इस पर होने वाले प्रत्येक संघर्ष को ऐसा समझना चाहिये कि शत्रु हमारे धार्मिक यज्ञों में विघ्न डालना चाहता है।

ऐसी स्थिति में हमें काश्मीर से नेफा तक के सम्पूर्ण पर्वतीय क्षेत्र को रण भूमि मानते हुए उसकी रक्षा के लिये प्रत्येक क्षण सावधान, सतर्क और क्रियाशील रहना है।

राष्ट्र रक्षा आज का धर्म—

स्वामी विवेकानन्द ने युग धर्म की विवेचना करते हुये एक स्थान पर लिखा है—

"भावी पचास वर्षों के लिये एक मात्र यही हमारा मूलमंत्र रहे—यह हमारी महान भारत माता हमारा एक मात्र देवता है। अन्य सब व्यर्थ के देवता दूसरे समय के लिये सो जाने चाहियें। यही एक ऐसा देवता है जो इस समय जागृत है 'हमारा अपना राष्ट्र'। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं, सर्वत्र उसके कान हैं, सर्वत्र उसका विस्तार है। अन्य सब देवता सो रहे हैं। हम अपने चारों ओर फैले इस देवता—इस विराट की पूजा न करके और किन व्यर्थ के देवताओं के पीछे फिरेंगे ? जब हम इसकी पूजा करेंगे तभी हम अन्य सब देवताओं की पूजा करने के योग्य हो सकेंगे।"

उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति से कहलाया है—

"उच्च स्वर में कहो—मैं भारतवासी हूं। प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। भाई कहो—अज्ञानी भारतवासी, गरीब और दीन भारतवासी, ब्राह्मण और अन्य भारतवासी मेरे भाई हैं। उच्चतम स्वर में घोषणा करो—प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, मेरा जीवन है। भारतीय समाज मेरे बचपन का पालना है, तरुणाई का आनन्द कानन है और वृद्धावस्था का स्वर्ग, भाई कहो—भारत की भूमि मेरा सर्वोच्च स्वर्ग है और भारत का कल्याण मेरा कल्याण है। दिनरात प्रार्थना करो—हे उमापति ! हे जगदम्बे ! मुझे पुरुषता प्रदान करो। हे शक्तिदायिनी मां मेरी निर्बलता को दूर भगा दो, मेरी पौरुष हीनता को दूर कर दो और मुझे मनुष्य बना दो।"

स्वामी विवेकानन्द ने यद्यपि ये उद्‌गार उस समय प्रगट किये थे जब भारत पराधीन था। परन्तु उनके इन विचारों का मूल्य आज उस समय से भी अधिक है। जब अपने देश का एक बड़ा भू-भाग युद्ध की लपटों में आया हुआ है, तब उसकी

रक्षा के लिए हमें ऐसा ही समझना होगा कि सम्पूर्ण भारत हमारा देवता है और इस विराट की हम सभी को पूजा करनी है। इस पूजा में सभी को सम्मिलित होना है। ब्राह्मण और अन्त्यज सभी को इस पूजा का समान अधिकार प्राप्त है।

आज भी इस बात की आवश्यकता है कि हम उमापति और जगदम्बा से प्रार्थना करें कि वे हमें शक्ति प्रदान करें। हमें आज उस शक्ति की आवश्यकता है कि जो शत्रुओं की आक्रमणकारी महत्वाकांक्षाओं पर विजय प्राप्त कर सके।

गणराज्य की रक्षा के सम्बन्ध में महाभारत के शान्तिपर्व में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रसंग आया है। युद्ध की समाप्ति पर जब पाण्डव भीष्म पितामह से मिलने गये तब युधिष्ठिर ने उनसे प्रश्न किया 'विद्वद्वर ! मैं गणराज्यों की वृत्ति के विषय में सुनना चाहता हूं कि किस प्रकार वैभवशाली हुआ करते है और कैसे छिन्नभिन्न हो जाया करते हैं, कैसे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं और मित्र उपलब्ध कर लेते है ?

भीष्म पितामह ने इसका उत्तर बड़े विस्तार के साथ दिया है परन्तु उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणान संतारयन्ति ते॥

शान्ति पर्व राजधर्म १०७–२१

इसका आशय यह है कि धनाढ्य, शूर, शस्त्रज्ञ और शास्त्र पारंगत ये जिस गण राष्ट्र में जितने ही अधिक होंगे, उतनी ही सफलता से वे राष्ट्र का कठिन से कठिन आपत्ति से उद्धार कर सकेंगे।

आज के कठिन समय में हमें भी इन चारों बातों पर मुख्य रूप से अपनी शक्ति को केन्द्रित करना है। इस समय राष्ट्र को रुपए और स्वर्ण की आवश्यकता है। इसके बिना राष्ट्र का कार्य नहीं चल सकता। अतः देश के धनाढ्य व्यक्तियों को अधिक से अधिक धन देकर राष्ट्र की रक्षा की ओर अग्रसर होना चाहिये। दूसरी बात शूरवीरों की है। हमारा देश प्रारम्भ से ही शूरवीरों की भूमि रहा है। राम, कृष्ण, शिवा और प्रताप जैसी वीरात्माओं ने शूर वीरता की दृष्टि से इसके मस्तक पर 'विजय तिलक' लगाया है और आज भी अपने राष्ट्र पर मर मिटने वाले शूरवीरों की कमी नहीं। उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि ही हो रही है।

जहां तक शस्त्रज्ञों का प्रश्न है, भारत ने इस दिशा में बड़ी उन्नति की है। स्थल, नभ और जल तीनों प्रकार की सेनाओं का नेतृत्व करने के लिये हमारे देश में ऐसे शस्त्रज्ञ विद्यमान हैं जो अवसर पड़ने पर कठिन से कठिन परिस्थिति का मुकाबला कर सकते हैं। पाकिस्तान के आक्रमण के समय भारत के इन्हीं शस्त्रज्ञों ने अमरीका के पैटन टैंक और जैट विमान नष्ट करके अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया।

चौथी बात शास्त्र पारंगतों की है। किसी भी राष्ट्र की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि उसका शासन संचालन करने वालों में अनूठी प्रतिभा हो और वे प्रतिक्षण सूझबूझ से काम लेने की क्षमता रखते हों। इस समय शास्त्र पारंगत का अर्थ हमें धर्म शास्त्रों का ज्ञान रखने में निपुण न करके, राजनीति का पूर्ण पंडित करना चाहिये। आज राष्ट्र की रक्षा के लिये इनकी ही आवश्यकता है।

आज भारत के लिये ऐसे शास्त्र-पारंगतों की आवश्यकता है जो गम्भीर से गम्भीर परिस्थिति में भी स्थिर बुद्धि रहकर राष्ट्र की रक्षा करें। मैं यहां इस सम्बन्ध में पाकिस्तान के अगस्त १९६५ के आक्रमण का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूं। पाकिस्तान ने काफी समय से युद्ध की तैयारी की हुई थी। आक्रमण करने के लिये उसने एक बड़ी मात्रा में शस्त्र एकत्रित किये। उसने उन मोर्चों की भी व्यवस्था की जिन पर लड़कर वह काश्मीर में घुसना चाहता था। दूसरी ओर उसने लाहौर क्षेत्र में युद्ध का एक बड़ा मोर्चा लगाया। न मालूम कितने समय से उसने पिल-बाक्स बनाने शुरू किये। इच्छोगिल नहर पर उसने जो तैयारी की वह इस बात को प्रगट करती थी कि पाकिस्तान को युद्ध के विशेषज्ञों ने पूरी मदद दी है।

इसके अतिरिक्त उसने आकाश मार्ग से आक्रमण करने की भी पूरी योजना बनाई। अमरीकी जैट विमानों द्वारा उसने अमृतसर और अम्बाला तक अनेक बार आक्रमण किये।

इसी के साथ यह बात भी उल्लेखनीय है कि उसने द्वारका के बन्दरगाह पर अपनी जल सेना से भी आक्रमण किया और भारत के जहाजों को काफी क्षति पहुंचाई।

इस स्थिति में भारत के युद्ध विशेषज्ञों और शासकों ने जिस दृढ़ता, दूरदर्शिता और कुशल राजनीतिज्ञता से काम लिया, उसने न केवल पाकिस्तान को बुरी तरह परास्त किया किन्तु इतिहास प्रसिद्ध भारत की शूरवीरता का पुनः स्मरण करा दिया। यह कहना उचित ही होगा कि भारत के प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने भारत के सेनाध्यक्षों के साथ परामर्श करके जो पग उठाया वह प्रत्येक दृष्टि से सफल रहा। संसार भर के राजनीतिज्ञों ने इस बात की सराहना की है कि अपनी शक्ति पर भारत के शूरवीरों ने पैटन टैंक और जैट विमानों को नष्ट करके शत्रु पर विजय प्राप्त की जबकि पाकिस्तान को अमरीका और ब्रिटेन दो बड़े देशों से काफी बड़ी संख्या में शस्त्र मिले हुये थे।

इस उज्ज्वल पक्ष के साथ साथ हमें यह भी विस्मरण नहीं कर देना है कि पाकिस्तान की एक वर्ष की तैयारी का भारत को पता तक न चला। काश्मीर में हजारों घुसपैठियों के घुस आने तक काश्मीर और भारत सरकार यह भी न जान

सकी कि वे किस ओर से आक्रमण करना चाहते हैं। ऐसी और भी कुछ बातें हैं जिनका हमें भविष्य में ध्यान रखना है।

राष्ट्र की रक्षा के लिये जहां धनाढ्यों, शूरवीरों, शस्त्रों और शास्त्र पारंगतों की आवश्यकता है वहां जन बल की भी परम आवश्यकता है। पाकिस्तान के साथ लड़े जाने वाले युद्ध के समय इस बात का सभी ने अनुभव किया कि सम्पूर्ण देश एक होकर पाकिस्तानियों को मार भगाना चाहता था। उस समय प्रत्येक व्यक्ति ने यही चाहा कि वह अपने देश की रक्षा के कार्यों में किसी न किसी प्रकार सहायक बने।

धर्म शास्त्रों के अनुसार भी राजा की असली शक्ति उसकी प्रजा है। इसी प्रकार लोकतंत्र में जनता, शासन की वास्तविक शक्ति है। युद्ध के समय यदि किसी देश की जन्ता का मनोबल ऊंचा रहता है तो वह देश निश्चय ही विजयी होता है और जिस देश की जनता का मनोबल स्थिर नही रहता, वह एक दिन परास्त ही होता है।

जिस समय १९६२ में चीन ने नेफा और लद्दाख में आक्रमण किये, उस समय भारत महान संकट में फंस गया था। हिमाच्छादित पर्वत माला में चीन से लोहा लेना साधारण काम न था। परन्तु हमारे देश के नेताओं ने साहस से काम लिया, साथ ही जनता को भी अपना मनोबल ऊंचा रखने की प्रेरणा दी। प्रधान-मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने उस समय कहा था— 'मुझे हिन्दुस्तान के लोगों पर पूरा भरोसा है। हमारी असली ताकत तो हमारे मुल्क की जनता ही है।' इसी प्रकार भारत के अन्य नेताओं ने भी अपने देश की जन-शक्ति की सराहना की थी। परि-णाम यह हुआ कि उस अवसर पर संकट में फंसे भारत ने अपनी सीमाओं को सुरक्षित करने मे काफी सफलता प्राप्त की।

राष्ट्र रक्षा के सम्बन्ध में हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि हम धर्म की छोटी छोटी परिधियों तक सीमित न रहें। अब तक का अनुभव इस बात को बताता है कि धर्म की परिधियों मे जकड़कर हमने अनेक बार भारी क्षति उठाई। आव-श्यकता तो इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने धर्म का पालन करता हुआ राष्ट्र को समान रूप से एक महान देवता समझे। सच बात तो यह है कि स्वतंत्रता के अठारह वर्षों में भी हम राष्ट्रीयता की भावना को जागृत न कर पाये। किन्तु खेद की बात है कि अपने स्वार्थों के लिये हम करोड़ों रुपये की राष्ट्रीय सम्पत्ति बात की बात में नष्ट कर देते है। जब हम यह पढ़ते हैं कि उपद्रवी छात्रों ने विश्व-विद्यालयों के विज्ञान कक्षों को तोड़ फोड़ डाला, तब ऐसा लगता है कि उनके मन में राष्ट्र के प्रति राष्ट्रीय भावना ही उत्पन्न नहीं हुई। ऐसी ही और अनेक घटनाएँ सामने आ चुकी हैं जो इस बात को प्रगट करती हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थ के सामने कुछ लोग राष्ट्रीय सम्पत्ति को कोई महत्व नहीं देते।

इस प्रकार की तोड़ फोड़ का परिणाम सारे राष्ट्र पर पड़ता है। तोड़ फोड़ वाले भी उससे प्रभावित होते हैं। उन कामों को संवारने या उनका पुनः निर्माण करने पर जो धन व्यय होता है वह किसी न किसी रूप में जनता की ही जेबों से निकलता है। ऐसी दशा में हम सभी का कर्तव्य है कि अपने देश में हम ऐसी भावना जागृत करें कि जिससे राष्ट्रीयता का उदय हो।

राष्ट्र की सुरक्षा के सम्बन्ध में हमें एक और खतरे का भी ध्यान रखना है। हमारी उत्तरी सीमा के अनेक क्षेत्रों में पाकिस्तानी घुसे हुये हैं। इनके घुस आने से राष्ट्र बराबर कठिनाइयां उठाता रहा है। ये लोग सीमावर्ती क्षेत्रों के अतिरिक्त देश के कुछ अन्य भागों में भी घुसे हैं। ऐसी स्थिति में देखना यह है कि इनको कौन शरण देता है। भारत में शत्रु देश के लाखों व्यक्तियों का घुस आना तभी सम्भव है जब उनको शरण देने वाले काफी बड़ी संख्या में हों क्योंकि सौ पचास व्यक्तियों द्वारा आठ लाख पाकिस्तानियों को शरण देना सम्भव नहीं।

राष्ट्रीय दृष्टि से यह बात निर्विवाद है कि जो व्यक्ति पाकिस्तानियों को चोरी छिपे अपने यहां रख रहे हैं, वे देश के प्रति वफादार नहीं। मजहब के नाम पर विदेशियों को अवैध रूपसे शरण देना पूरी अराष्ट्रीयता है। इससे राष्ट्र को बराबर क्षति पहुंची है और भविष्य में कहा नहीं जा सकता कि ये लोग किस प्रकार का अशान्त वातावरण उत्पन्न कर बैठें।

राष्ट्र रक्षा के सम्बन्ध में हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि लोकमत हमारे अनुकूल बना रहे। किसी भी राष्ट्र के मनोबल को ऊंचा करने में लोकमत बड़ा सहायक होता है। महात्मा गांधी का कहना है - 'दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति है लोकमत।'

युद्धों का पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है कि कम सैनिक शक्ति वाले देशों ने लोकमत के बल पर शक्ति सम्पन्न देश पर विजय प्राप्त कर ली।

पिछले युद्ध में जब जर्मनी ने इंग्लैण्ड पर भी भीषण आक्रमण किया, तब ब्रिटेन की स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय हो गई थी। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विन्सेंट चर्चिल ने उस समय बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। उसने एक ओर तो अपने देश के मनोबल को ऊंचा किया और दूसरी ओर उन्होंने लोकमत को जागृत करने में सफलता प्राप्त की। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी की मार से बुरी तरह विध्वंस हो जाने पर भी श्री चर्चिल ने अपनी दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता से ब्रिटेन को बचा लिया।

अभी पिछले दिनों सितम्बर १९६५ में जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया, तब यही प्रश्न सामने आया कि पाकिस्तानी झूठ का निराकरण करके जनता का मनोबल बढ़ाया जाय और साथ ही लोकमत को भी अपने पक्ष में किया जाय। भारत

सरकार ने पूरी शक्ति के साथ पाकिस्तान के झूठ का खण्डन किया। युद्ध के प्रारम्भ में जिन देशों में भारत के विरुद्ध गलत धारणायें बनी थीं, कुछ ही दिन के बाद उनमें परिवर्तन आ गया। भारत और पाकिस्तान के युद्ध समाचारों के सम्बन्ध में आखिरकार बड़े बड़े राजनीतिज्ञों, पत्रकारों एवं विचारकों को यह कहना पड़ा कि भारत ने मोर्चे के समाचार देने में पूरी ईमानदारी से काम लिया।

परन्तु इसका एक दूसरा पृष्ठ भी हमें विस्मरण नहीं कर देना है। वह यह है कि युद्ध से पूर्व हमारे दूतावासों ने लोकमत बनाने की ओर तनिक भी ध्यान न दिया। यहां तक कि उनको पाकिस्तान की उन गतिविधियों का भी पता न चला जिनका पता रखना उनके लिये अत्यन्त आवश्यक था। इस प्रकार की भूलों को दृष्टि में रख कर अब हमारे कूटनीतिज्ञों को इस बात का यत्न करना है कि विदेशों में भारत के विरुद्ध निराधार बातें न फैलने पायें। यदि पाकिस्तान ऐसा करता है तो वे उन बातों का पूरी शक्ति के साथ निराकरण करें।

राष्ट्र रक्षा के सम्बन्ध में हमें जनता की इस विचारधारा को भी बदलना है कि देश पर संकट आने पर रक्षा की सारी जिम्मेदारी सरकार की है। सरकार मोर्चे की जिम्मेदार है तो जनता सम्पूर्ण देश को सुरक्षित रखने में कम जिम्मेदार नहीं।

जहां तक हिमालय के विशाल क्षेत्र की सुरक्षा का प्रश्न है, इसपर सम्पूर्ण भारत की सुरक्षा निर्भर करती है। भारत के दोनों शत्रु इसी पर अपनी शक्ति केन्द्रित किये हुये हैं। वे जानते हैं कि भारत के अन्य किसी भाग पर भी आक्रमण करना आसान काम नहीं। ऐसी दशा में हमें हिमालय की पावन धरती को पूजनीय मानकर उसकी रक्षा में सर्व प्रकार का योग देना ही चाहिये।

हमें ऐसा यत्न करना है कि हिमालय के उन्नत शिखरों, उपत्यकाओं और घाटियों में भविष्य में शत्रु प्रवेश करने का साहस न करे। हम अपनी धार्मिक भावनाओं की पूर्ति करते हुये भी सीमा सुरक्षा को अपना धर्म समझें। राष्ट्र पर आने वाली आपत्ति से बचने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने प्रत्येक भू भाग को अपनी धर्म भूमि समझें और उसकी रक्षा के लिये प्रतिक्षण तत्पर रहें।

यह सभी जानते हैं कि कैलास भारत का परम पूजनीय शिखर था, परन्तु समय की घटनाओं ने उसे आज भारत से अलग किया हुआ है। हमारा यत्न होना चाहिये कि हम उस पवित्र शिखर को भारत में पुनः सम्मिलित करने में सफल हों। भगवान हमारी सहायता करेंगे। हम इन्द्र देवता से प्रार्थना करें—

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ॥
अस्माकं वीरा उत्तरे भवंत्वस्मान् देवासोऽवता हवेषु ॥

अथर्व० १९-१३-११

हमारे ध्वज एकत्रित होने पर इन्द्र हमारी सहायता करें। हमारे सैनिकों के शस्त्रास्त्र विजयी हों। हमारे वीर अधिक श्रेष्ठ बनें। देव युद्धों में हमारा रक्षण करें। इन्द्र देवता हमें वरदान दे रहे हैं—

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥

अथर्व० ३–१९–५

मैं इनके आयुधों (शस्त्रास्त्रों) को उत्तम प्रकार से तेज करता हूं। इनका राष्ट्र उत्तम वीरों से युक्त बनाकर बढ़ाता हूं इनका क्षात्र-तेज अक्षय हो तथा इनका चित्त जयशाली करने के लिये समस्त देव इनका संरक्षण करें।

स्याम के इतिहास से ज्ञात होता है कि स्याम में १२७५ से १३१७ ई० तक रामखपेंग नाम के राजा ने राज्य किया। राम की तरह स्याम निवासी सीता को भी बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और उनकी पूजा करते हैं। सीता को स्यामी भाषा में 'सीडा' कहते हैं।

स्याम की रामायण की कथाओं में भारत की रामायण की कथाओं से कुछ अन्तर है। स्याम की रामकथा की जो प्रति मिलती है, वह १७८० ई० की बताई जाती है।

स्याम में विष्णु और शिव की मूर्तियां भी पाई जाती हैं। बैंकाक के अरुण मंदिर और प्रभात मंदिर में इन्द्र की जो प्रतिमायें हैं, उनमें इन्द्र को तीन मुख वाले हाथी पर बैठा दिखाया गया है।

बर्मा में बौद्ध धर्म—

बर्मा में बौद्ध धर्म से पूर्व भारतीय (हिन्दू) संस्कृति फैली। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत से कुछ भारतीय बर्मा गये। उस समय इस देश का नाम 'ब्रह्म देश' था। पाली साहित्य में इस देश का नाम 'स्वर्ण-भूमि' आया है। वे अपने साथ भारतीय धर्म, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, लिपि और कला ले गये। उन्होंने वहां भारतीय संस्कृति का विस्तार किया। कुछ का कहना है कि बर्मा में तिब्बत और मंगोलिया से वे लोग गये जो भारत से जाकर इन देशों में बसे थे।

बर्मा सन् १८९७ में भारतवर्ष का एक प्रान्त बन गया था। अंग्रेजी शासन काल में सन् १९३५ में यह प्रान्त भारत से अलग किया गया और तब से यह एक स्वतंत्र देश है।

बर्मा के तीरीक्षेतरा स्थान पर हुई खुदाई में प्राप्त शिलालेखों से पता चलता है कि वहां बौद्ध धर्म से पहले हिन्दू धर्म फैला। तीरीक्षेतरा का प्राचीन नाम श्री क्षेत्र था। यह स्थान प्रोम नगर के समीप था।

बर्मा में विष्णु की पूजा का प्रचलन हुआ। बर्मी बौद्ध भी विष्णु की पूजा करते हैं। बर्मी भाषा में विष्णु का उच्चारण 'विनै' करते हैं।

बर्मा की लोकमान्यता के अनुसार अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारतीयों ने रंगून के समीप 'उक्कला' नगर बसाया। वहां से तपस्स और भल्लिक नाम के दो भारतीय जलयान द्वारा भारत आये। उन्होंने उरुवेला क्षेत्र में बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध के दर्शन किये। उनकी विनती पर भगवान बुद्ध ने उन्हें अपने सिर के सात बाल दिये। वे उन बालों को बर्मा लाये और उनको उक्कल के राजा उक्कला पति

(उक्कलामा) ने राजसी स्वागत किया। वह अपने एक सहस्र सैनिकों के साथ भारत की पुण्य भेंट की अगवानी करने के लिये समुद्र तट पर पहुंचा। भगवान बुद्ध के ये पवित्र बाल रंगून के बोटाठाऊं और श्वेडेगोन के पैगोडाओं में रक्खे गये। ये दोनों पगोडा इन पवित्र बालों को रखने के लिये ही निर्मित किये गये।

अशोक के राज्य-काल में उनके संदेशवाहक सोन और उत्तर नाम के दो बौद्ध भिक्षु बर्मा गये। उन्होंने वहां पहुंचकर बौद्ध धर्म और संस्कृति को विस्तार देने का यत्न किया।

दक्षिण वर्मा के टलाई जाति के प्राचीन साहित्य में बौद्ध आचार्य धम्मपाल का उल्लेख मिलता है। भारत के कांजीवरम का भी यहां के साहित्य में उल्लेख हुआ है।

वर्मा में अनेक राजवंशों ने अपने राज्य स्थापित किये। इनके नाम सूर्य, (वर्मी नाम सांग तूरिया) पांचाल, (पिजाला) राजाधिराज, (याजाडरि) तथा अनुरुद्ध (अकोरठा) मिलते हैं। ये सब हिन्दू धर्मानुयाई थे परन्तु बौद्ध धर्म फैलने पर इन्होंने भी इसे ही स्वीकार कर लिया था।

वर्मा की एक कथा में वर्मा के हिन्दू राजा सत्य (बर्मी तिस्सा) के बौद्ध धर्म ग्रहण करने का वर्णन किया गया है। इसमें बताया है कि महाराज सत्य की बौद्ध रानी भद्रावती ने उन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित कराया।

वर्मी जनता और शासकों ने भारत के धर्म और धर्म-गुरुओं का बड़ा आदर किया। समय २ पर वे भारतीय ब्राह्मणों को अपने यहां ले जाते रहे। उनमें से कुछ ने राज पुरोहित का भी स्थान प्राप्त किया। मांडले के समीप पौना जाति उन्हीं ब्राह्मणों की वंशज कही जाती है जो असम से वर्मा जाकर बसे थे।

वर्मा में भारतीय नामों पर अनेक नगर बसाये गये जिनका वर्मी भाषा में रूप बदल गया। ऐसे कुछ नाम इस प्रकार हैं—

भारतीय नाम	वर्मी रूप
हंसावती	हाथांवडी
धन्यावती	ढंयावडी
साकेत	ताकेडा
मिथिला	मेंकटीला
वैशाली	वेताली

वर्मा की एक कथा में कपिलवस्तु के एक शाक्य नरेश का वर्णन किया गया है। उसकी ३१ पीढ़ियों ने वर्मा में राज्य किया। इसी प्रकार कुछ और भारतीय नरेशों के नाम भी वर्मी कथाओं में मिलते हैं।

वर्मा मंदिरों और पगोडा का देश माना जाता है। वैदिक मिश्नरी महता जैमिनी ने इस सम्बंध में लिखा है—

'ब्रह्मा (वर्मा) का देश पगोडा और मंदिरों का गृह है। बुद्ध मत का जितना अधिक प्रभाव इस देश पर हुआ उतना और कहीं नहीं हुआ। सारे देश में जिधर दृष्टि डालो मन्दिर ही मन्दिर दृष्टि पड़ते हैं। पहाड़ियों पर इतनी ऊंचाई पर पगोडे वने हुए हैं कि मनुष्य आश्चर्य में पड़ जाता है कि इतने ऊंचे पर कैसे मसाला पहुंचाया होगा जवकि मैशीनरी व विज्ञान की इतनी उन्नति भी न थी।

रंगून, माण्डले, पीगू, संगाई, आवा, शोईज़का, थाज़ी, मोंगलंग और विगयू के पगाडे तो इतने विशाल, मूल्यवान और कलाकौशल के दर्शनीय नमूने हैं कि मनुष्य चकित हो जाता है। चूसे, माण्डले और संगाई की पहाड़ियों पर इतनी अधिक संख्या में मन्दिर हैं कि एक-एक पहाड़ी पर दो दो हजार से कम मन्दिर न होगे। जिला पीगान में तो ४५ हजार मन्दिर वतलाये जाते हैं। सारांश यह कि कुल ब्रह्मा में दो लाख के लगभग मन्दिर है। रात को वड़े वड़े पगोडों पर विद्युत-प्रकाश की ऐसी जगमगाहट होती है कि मानो दीपावली का दृश्य दिखाई देता है। इन पगोडों में कुछ मूर्तियां इतनी विशाल है कि मनुष्य देखकर चकित रह जाता है। इनपर सोने के पत्तर चढ़े हुये हैं। कई मूर्तियां तो पत्थर की काट-छांट, कलाकौशल व मूर्ति निर्माण कला के उच्चतम नमूने हैं। इनपर वहुत धन व्यय हुआ होगा। कुछ मन्दिरों में इतने भारी घण्टे लटक रहे हैं कि एक दो मनुष्य तो उठा नही सकते। माण्डले का घण्टा तो २० मन भारी वताया जाता है। जंगलों और दुर्गम पर्वतों पर तथा समुद्र में भी जहां स्थल भाग निकल आया है— बुद्ध भगवान के मन्दिर वने हैं।'*

वर्मा का भारत के साथ जो सांस्कृतिक सम्बंध स्थापित हुआ, उसे वनाये रखने का वरावर यत्न होता रहा है परन्तु राजनीतिक विपमताओं के कारण समय समय पर अनेक समस्यायें भी सामने आती रहीं हैं। फिर भी वर्मावासी भारत को भगवान बुद्ध का देश मानकर श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

नेपाल में वौद्ध एवं हिन्दू धर्म—

हिमालय में अवस्थित नेपाल भारत का सीमावर्ती राज्य है। इसका भारत के साथ घनिष्ठ सम्बंध रहा है। यहां के निवासी हिन्दू और वौद्ध दोनों धर्मो के मानने वाले हैं। परन्तु यहां का मुख्य धर्म हिन्दू धर्म माना जाता है।

---

* इन्डोनेशिया', संस्करण १९३१, पृष्ठ १४, १५

नेपाल की तराई लुम्बिनी में भगवान बुद्ध का जन्म होने से नेपालवासियों ने भी उनको पूजनीय माना। भारत से बहुत से बौद्ध भिक्षु नेपाल गये और उन्होंने वहां जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। परन्तु नेपाल में बौद्ध धर्म को वह मान्यता प्राप्त न हुई जो तिब्बत, चीन और जापान आदि देशों में हुई थी। फिर भी नेपाल-वासियों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया।

काठमाण्डू से छः मील दूर पाटननगर में भगवान बुद्ध के नाम पर एक विशाल मंदिर बना जो महाबौद्ध मंदिर के नाम से विख्यात है। इस मंदिर का निर्माण भारत के बौद्ध गया मंदिर के समान हुआ है। नेपाली बौद्ध इस मंदिर की पूजा को बड़ा महत्व देते हैं।

नेपाल नरेश हिन्दू धर्म के अनुयायी रहे। उन्होंने अनेक देवी देवताओं के मंदिरों का निर्माण कराया। वाग्मती के तट पर स्थित श्री पशुपतिनाथ जी का मंदिर हिन्दू धर्म का एक सजीव चित्र उपस्थित कर देता है। मंदिर की दीवारों, चौखटों और दरवाजों पर चांदी के पत्तर चढ़े हैं। मंदिर के ऊपरी भाग में सोने के पत्तर चढ़ाये गये हैं। इनपर की गई नक्काशी को देखकर मनुष्य का मन प्रसन्न हो जाता है। मंदिर के बरामदों में लकड़ी के जो खम्भे हैं, उनपर भी बड़ी कलापूर्ण चित्रकारी की गई है।

श्री पशुपतिनाथ जी की पूजा केवल नेपालवासी ही नहीं करते किन्तु भारत और एशिया के कई देशों के रहने वाले भी उसकी पूजा के लिये नेपाल जाते हैं।

शिवरात्रि के समय श्री पशुपतिनाथ मंदिर पर एक बड़ा मेला लगता है। उसमें भारत से बहुत से यात्री मंदिर के दर्शनों के लिये जाते हैं।

नेपाल में और भी कई मंदिर बड़े प्रसिद्ध हैं। हनुमान ढोका मंदिर के सामने जो स्तूप है, वह दो हजार वर्ष पुराना माना जाता है। यहां से डेढ़ मील की दूरी पर स्वयंभू चैत्य का मंदिर है जिसमें भगवान बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है। मेष की संक्रान्ति को यहां पर एक बड़ा मेला लगता है।

पाटननगर के महाबौद्ध मंदिर के समीप राधाकृष्ण जी का मंदिर है। इसके सम्बंध में कहा जाता है कि इसका निर्माण सन् १६२० ई० में नेपाल के सोमवंशी नरेश श्री सिद्ध नरसिंह देव ने कराया था। वे राधाकृष्ण के परम भक्त थे।

नेपाल पर हिन्दू धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। वहां धार्मिक ग्रंथों को एक बड़ी संख्या में एकत्रित किया गया। बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म से सम्बन्वित शास्त्रों का भी वहां संकलन हुआ। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने नेपाल में रहकर इन धर्म-ग्रन्थों की बहुत समय तक खोज की।

नेपाल के शासक भारत के धार्मिक तीर्थ स्थानों की बरावर यात्रा करते रहे हैं। वर्ष १६६१ में नेपाल की राजमाता एवं उनके परिवार के कुछ व्यक्ति बदरीनाथ यात्रा के लिये आये थे। इस तरह नेपालवासी हिन्दू धर्म के प्रति सदा प्रेम प्रगट करते रहे हैं।

कश्मीर में बौद्ध धर्म—

हिमालय में अवस्थित कश्मीर में बौद्ध धर्म पहली शताब्दी में फैला। लगातार तीन सौ वर्षों तक कश्मीरी इस धर्म में दीक्षित होते रहे। तीसरी शताब्दी के अन्त में कश्मीर में बौद्ध धर्म का ही प्राधान्य था। भारत पर आक्रमण करने वाले शकों ने बौद्ध धर्म को अपना राजधर्म बनाकर उसका प्रचार किया।

महाराज कनिष्क के राज्य-काल में कश्मीर में बौद्ध धर्म को विशेष समर्थन प्राप्त हुआ। उस समय कश्मीर और भारत का शेष भाग धार्मिक और कला कौशल आदि की दृष्टि से समान रूप से उन्नति कर रहे थे।

ईस्वी सन् की पहली शताब्दी में कनिष्क ने चीनी तुर्किस्तान पर विजय प्राप्त की और वहां अपना राज्य स्थापित किया। उस प्रदेश मे भारतीय धर्म और साहित्य के प्रचार में कनिष्क ने बड़ी रुचि प्रगट की। कनिष्क ने धार्मिक ग्रन्थों की बहुत सी पाण्डुलिपियां भी वहां भेजीं।

कश्मीर के बौद्ध भिक्षु गुणवर्मन के नाम का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। वह कश्मीर के एक राज्य परिवार में उत्पन्न हुआ था। वह धर्म, दर्शन, ज्योतिष, शिल्प और चित्रकला में निपुण था। राज्यकुल का समस्त सुख-वैभव त्यागकर वह बौद्ध भिक्षु बना था। कश्मीर से वह बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये जावा, सुमात्रा आदि देशों में भी गया।

गुणवर्मन ने जावा में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसकी विद्वत्ता की ख्याति सम्पूर्ण दक्षिण एशिया मे फैल गई। उसने बहुत थोड़े समय में ही जावावासियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लेने में सफलता प्राप्त की।

चीनी सम्राट के आमंत्रण पर गुणवर्मन चीन गया। केन्टन में उसने वहां के एक नवनिर्मित बौद्ध विहार की दीवारों को अपनी चित्रकला के बल पर भगवान बुद्ध के जीवन की मुख्य २ घटनाओं से चित्रित किया। चीनी सम्राट गुणवर्मन की चित्र कला से बड़ा प्रभावित हुआ। इसके पश्चात् तुन्होयं गुफा में चित्रकारी की गई।

कश्मीर के प्रसंग में यहां सुप्रसिद्ध कवि कल्हण के नाम का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है जिन्होंने 'राजतरंगिणी' की रचना की। उस समय के इतिहास से

ऐसा प्रगट होता है कि चीन से आने जाने वाले भारतीय और चीनी बौद्ध भिक्षुओं ने कश्मीर को सांस्कृतिक एकता को जोड़ने वाला अपना एक प्रमुख स्थान मान लिया था।

बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् कश्मीर में हिन्दू धर्म ने प्रभुत्व स्थापित किया। ब्राह्मणों ने पौराणिक मत के ग्रंथों को ले जाकर वहां हिन्दू धर्म को फैलाने में काफी सफलता प्राप्त की। इस प्रदेश में संस्कृत भाषा को विशेष बल प्राप्त हुआ।

यहां हमने बौद्ध धर्म के सम्बंध में कुछ ऐसे देशों का वर्णन किया है जिनमें बौद्ध धर्म ने राजधर्म का रूप ग्रहण किया। इनमें से अधिकांश देश हिमालय की शृंखला से आबद्ध हैं। यहां चीन में बौद्ध धर्म फैलने के सम्बंध में कुछ अधिक विवरण दिया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि चीन और तिब्वत ऐसे देश हैं जिनमें बौद्ध धर्म को ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृति को भी विशेष महत्व दिया गया।

जहां तक लंका, स्याम, जावा आदि देशों का प्रश्न है, एशिया के इन भागों में भी बौद्ध धर्म के साथ २ हिन्दू धर्म बड़ी तीव्र गति से फैला। इन सब देशों में विशाल मंदिरों के रूप में भारतीय सस्कृति के जो प्राचीन चिन्ह मिलते हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि भारत किसी समय इन सब देशों का धर्म गुरू था।

इन देशों के अतिरिक्त कुछ और देश भी हैं, जिनमें बौद्ध धर्म फैला परन्तु उसने राजधर्म का स्थान प्राप्त नहीं किया। इसी प्रकार ऐसे भी अनेक देश हैं जिनमें भारतीय संस्कृति को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

बौद्ध धर्म का पतन—

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्य आनन्द और उपाला ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को विस्तार देने का यत्न किया। उन्होंने राजगृह के समीप बौद्धों का एक विशेष सम्मेलन बुलाया और इसमें महात्मा बुद्ध के वचनों का संग्रह करने का निश्चय किया गया। उन्होंने महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को तीन भागों में विभक्त किया। प्रथम भाग में बौद्ध भिक्षुओं के सम्बंध में निश्चित किए नियम थे जो 'विनय-पिटक-' के नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरे भाग का नाम 'धर्म-सूत्र-पिटक' है। इसमें महात्मा बुद्ध के उपदेशों व शिक्षाओं को स्थान दिया गया है। तीसरा भाग 'अविधम्म-पिटक' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें धार्मिक तत्वों, दार्शनिक विचारों और आध्यात्मिक प्रश्नों की व्याख्या की गई है।

बौद्ध धर्मावलम्वी दो वर्गों में विभक्त थे। एक वर्ग बौद्ध भिक्षुओं का था जो बौद्ध विहारों में रहते थे। दूसरा वर्ग गृहस्थियों का था। इन दोनों ने मिलकर बौद्ध धर्म को आगे वढ़ाने का यत्न किया।

वौद्ध विहारों में रहने वाले भिक्षुओं को बड़े-कड़े नियमों का पालन करना पड़ता था। उनमें गृहस्थी नहीं जा सकते थे। पूर्ण संयमी व्यक्ति ही संन्यास धारण करते थे। पंदरह वर्ष से कम आयु के युवक को संन्यासी नहीं बनाया जाता था।

स्त्री और पुरुष दोनों को ही वौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी बनने का अधिकार प्राप्त था। इन्हें अलग २ रहने का आदेश था और ये बड़े कठोर व्रत का पालन करते हुये आत्मचिन्तन में रत रहते थे।

भगवान बुद्ध के निर्वाण के कुछ वर्षों के पश्चात् इन वौद्ध विहारों और मठों में रहने वाले भिक्षु एवं भिक्षुणियों के जीवन में अनेक कमजोरियां आने लगीं और धीरे २ वे सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों के दास बन गये। उनके जीवन की पवित्रता देर तक स्थिर न रह सकी। उनकी वाणी का वह ओज घट गया जिसके बल पर वे जन मानव को भगवान बुद्ध की आज्ञाओं का संदेश देकर वौद्ध धर्म की ओर आकर्षित करते थे।

वौद्ध विहार और मठ जो प्रारम्भ में ज्ञान और विज्ञान के केन्द्र समझे जाते थे, भोग विलास और कलह के केन्द्र बन गए। उनमें रहने वाले वौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के दैनिक जीवन पर इसका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि जनता ने उन्हें वह सम्मान देना बंद कर दिया जो उसने वौद्ध धर्म के आरम्भिक काल में दिया था।

वौद्ध भिक्षुओं ने अपनी दुर्वलताओं को छिपाने के लिये धर्म की आड़ ली और इसके लिये उन्होंने वौद्ध सिद्धान्तों को वह रूप देना प्रारम्भ कर दिया जिसमें वे उच्च स्थान पर बने रह सकें। फिर भी ये अपने आपको जनता की दृष्टि में ऊंचा न रख सके। परिणाम यह हुआ कि जनता में वौद्ध धर्म के प्रति असंतोष फैलने लगा।

दूसरी ओर हिन्दू धर्म ने भी फिर संभाला लिया। वुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ब्राह्मणों ने भी हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित करने के लिये धार्मिक प्रचार प्रारम्भ किया।

आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य महाराज ने प्राचीन वैदिक धर्म को पुनर्जीवित करने में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। उनके आविर्भाव से वौद्ध धर्म पर वड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने प्राचीन धर्म ग्रंथों के आधार पर हिन्दू धर्म को लोकप्रिय बनाने में जो अथक परिश्रम किया, वह सदैव स्मरणीय रहेगा।

स्वामी शंकराचार्य के प्रचार का प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर पड़ा। उन्होंने हिमालय से लेकर सुदूर दक्षिण तक प्राचीन वैदिक धर्म को फैलाने का यत्न किया। उन्होंने धर्म प्रचार के लिये पूर्व से पश्चिम तक भ्रमण भी किया और इस बात का यत्न किया कि वौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त हो जाय।

स्वामी शंकराचार्य के सम्बंध में यह बात कही जाती है कि उन्होंने वौद्ध दर्शन शास्त्रों का अध्ययन किया था और उनपर वौद्धों के महायान दर्शन का वड़ा

प्रभाव पड़ा था। कुछ विद्वानों का मत है कि शंकराचार्य ने बौद्ध-सिद्धान्तों को ही विशद रूप दिया। परन्तु ऐसा मानना युक्ति संगत नहीं क्योंकि स्वामी शंकराचार्य वेदों के प्रबल समर्थक थे जबकि बुद्ध वेदों के सम्बन्ध में मौन रहे या उन्होंने उनका समर्थन न किया।

यहां इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बौद्ध काल में दार्शनिक साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना हुई। ये ग्रंथ पाली भाषा में लिखे गये और उनका अनुवाद अनेक भाषाओं में किया गया। बौद्ध ग्रंथों की खोज में महापंडित राहुल सांकृत्यायन एवं डा० रघुवीर ने जो अथक परिश्रम किया, वह इतिहास के पृष्ठों पर सदा अंकित रहेगा। ये दोनों विद्वान तिब्बत, चीन, नेपाल आदि अनेक देशों में गये और वहां से वे ग्रंथ लाये जो भारत में मिलने दुर्लभ थे।

हम यहां बौद्ध धर्म के पतन पर विचार कर रहे हैं। बौद्ध धर्म के पतन का उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि बौद्ध धर्म को विदेशी आक्रमणों से भी भारी आघात पहुंचा। यवनों ने भारत में बलपूर्वक इस्लाम धर्म फैलाकर जहां हिन्दू धर्म को समाप्त करने का यत्न किया, वहां बौद्ध धर्म पर भी उनका विशेष प्रभाव पड़ा।

बौद्ध धर्म के पतन के कारणों में एक कारण यह भी रहा कि अशोक, कनिष्क जैसे यशस्वी राजाओं के समान बाद के शासकों ने बुद्ध धर्म को किसी प्रकार का भी प्रश्रय नहीं दिया।

ऐसे कुछ कारण और भी हैं जिनसे बौद्ध धर्म को क्षति पहुंची। फिर भी यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति का पोषक रहा और उसने पश्चिमी देशों में भारत को गौरवान्वित किया।

हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान—

भारत में एक ऐसा संक्रान्ति काल आया जब धर्म और कर्मकाण्ड की ओर से शिक्षित जन समुदाय का ध्यान हट गया। बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् कुछ राजनीतिक उतार चढ़ाव इस प्रकार के आये जिनके कारण समाज धार्मिक दृष्टि से पिछड़ गया। फिर भी हिन्दू धर्म की भावनाएं जीवित रहीं और उनके बल पर हिन्दू धर्म ने पुनः उन्नति की।

इस काल में मूर्ति पूजा का बड़ा प्रचार हुआ। धर्मशास्त्रों में वर्णित परमात्मा के अनेक नामों का सहारा लेकर अनेक प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ और उनका पूजन किया जाने लगा। हिन्दू धर्म ने इस काल में एक ऐसा रूप धारण किया जिसका सीधा सम्बंध वेद, वेदांग, उपनिषदों और अन्य शास्त्रों से न रहा किन्तु वह

पुराणों तक सीमित रहा। इन पुराणों का प्रचार भारत से बाहर के उन देशों में भी हुआ जिनके भूभाग पर किसी समय भारतीय नरेशों का अधिकार था।

इस सम्बंध में इतिहासकारों का मत है कि पौराणिक काल में भारतीयों का विदेशों से सम्बंध था। पौराणिक ग्रंथों में ऐसे अनेक देशों का विवरण भी मिलता है। मत्स्य पुराण में भारत के नव-भेदों (उपनिवेशों) का उल्लेख किया गया है। शिव पुराण के अनुसार मनु के पुत्र नरिष्यन्त के वंशज पश्चिम के पर्वतों को पार करके उत्तर में गये और वहां जो जातियां बसती थीं उनके रक्षक एव शासक बने। इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुसी के वंशजों का सुमेरु (सुमेरिया) और उसके दक्षिणी प्रदेश में जाकर उपनिवेशों की स्थापना करने का भी पुराणों मे उल्लेख मिलता है।

वायु पुराण में चद्रवंशी आर्य राजाओं में से राजा प्रचेतस के पश्चिमोत्तर भारत (गांधार) से निकलकर उत्तर की ओर जाने का उल्लेख है। इन्होंने मध्य एशिया के राज्यों को अपने अधीन किया। इन्होंने वहां भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को भी फैलाया।

ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व भारतीय आर्यो ने मैसोपोटामिया को अपना उपनिवेश बनाया। इस सम्बंध में वहां एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है।

भारत का यूनान, रोम, अफगानिस्तान, फारस आदि देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बंध उस समय तक बना रहा जब तक कि वहां इस्लाम धर्म न फैला।

भारतीयों ने हिन्द चीन में चम्पा नाम के राज्य की स्थापना करके वहां भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया। उनके समय में भव्य मंदिरों और बौद्ध चैत्यों का निर्माण किया गया।

ईसा की दूसरी शताब्दी में भारतीयों ने हिन्द चीन में कम्बुज नाम के उपनिवेश की स्थापना की। इसका वर्तमान नाम कम्बोडिया है। प्राचीन काल में इसकी राजधानी यशोधरपुर थी। यहां भारतीय संस्कृति का बड़ा विस्तार हुआ। यहां के प्राचीन भवनों और मंदिरों में भारतीय संस्कृति की झलक आज भी दिखाई देती है। यहां शिव और शिवलिंग दोनों की मूर्तियां बनीं और उनकी पूजा की गई। विष्णु के नाम पर भी यहां मंदिर बने और उनकी भी पूजा की गई।

जावा के साथ भारत का प्राचीन सम्बंध चला आ रहा है। इतिहास से विदित होता है कि यहां सर्वप्रथम ७४ ई० में सौराष्ट्र के राजा प्रभुजयभय के प्रधानमंत्री अजिशक ने पदार्पण किया। भारतीय राजा ने राक्षसों को परास्त किया।

७५ ई० में कलिंग के राजा ने जावा में बसने के लिए कई हजार परिवारों को भेजा। कण्व नाम के राजकुमार ने यहां शासन किया।

वैदिक मिश्नरी श्री महता जैमिनी ने अपनी पुस्तक 'इण्डोनेशिया' प्रथमसंस्करण नवम्बर १९३१ पृष्ठ ९१ व ९२ पर लिखा है—

'रामायण में इसका नाम यव-द्वीप आया है। प्राचीन संस्कृत के शिलालेखों जो चौथी शताब्दी में वोर्नियो द्वीप से प्राप्त हुये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि राजा शिव वर्मा ने पहले पहल यहां अपना राज्य स्थापित किया। इसके बड़े पुत्र मूलवर्मा ने यहां एक विशाल यज्ञ किया था।

'एक दूसरे शिलालेख में यहां की दो नदियों का उल्लेख है जिनके नाम गौमती और चंद्रभागा हैं। दो शिलालेखों पर पूर्ण वर्मा राजा के पद चिन्ह हैं जो भगवान विष्णु के पद चिन्हों के समान पूजे जाते थे। मध्य जावा के शिला लेख सन् ७३२ ई० में प्राप्त हुये हैं। ये शिलालेख शिव मत से सम्बंध रखते हैं। इनमें एक शिव मंदिर के पुनः नवीन निर्माण किये जाने का वर्णन है।

श्री महता जैमिनी ने अपनी एक अन्य पुस्तक 'विदेशों में वैदिक धर्म' के पृष्ठ १६९ पर लिखा है "आज से ५०० वर्ष पहले जावा में हिन्दुओं का राज्य शासन था।"

वे लिखते हैं —'पश्चिम के विद्वानों तथा खोज करने वालों ने यहां के खंडहरों को खोदकर अनेक शिलालेख, पत्तों पर हस्तलिखित ग्रंथ तथा पट्टियों पर जो लेख प्राप्त किये हैं वे सब संस्कृत में हैं। उनसे वहां भारत की संस्कृति के प्रभाव का पर्याप्त पता चला है।'

श्री महता जैमिनी ने इसी पुस्तक के पृष्ठ १९२ पर चीनी यात्री फाहियान की 'भारत यात्रा' पुस्तक के आधार पर लिखा है—'पांचवीं शताब्दी में जावा में २००० संस्कृत पढ़ाने की पाठशालाएं थीं। यहां ब्राह्मण लोग संस्कृत पढ़ाते थे तथा बुद्ध मत के ग्रंथ भी पढ़ाए जाते थे।'

जावा में अगस्त की प्रशंसा में जो शिलालेख मिला है उसके सम्बन्ध में श्री महता जैमिनी ने इण्डोनेशिया पुस्तक के पृष्ठ १०४ पर लिखा है कि अगस्त मुनि ने जावा में एक मंदिर वनवाया था। इस शिलालेख पर संस्कृत में जो प्रशस्ति अंकित है उसका भाव इस प्रकार है—'घड़े से उत्पन्न हुए अगस्त ने एक देव स्थान स्थिर किया जिसका नाम भद्रलोक रक्खा। इसके सारे वंश ने यहां वैभव और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन विताया। वह पूजनीय देवता था। वह धर्म संस्थापक भी वन गया था।'

अगस्त मुनि के सम्बन्ध में अंकित इस प्रशस्ति से यह वात विदित होती है कि जावा में पौराणिक गाथाओं का खूब प्रचार हुआ।

जावा के मंदिरों के विवरण में श्री महता जैमिनी ने इस वात को प्रगट किया है कि वहां वड़े २ विशाल मंदिर वने और उनमें हिन्दुओं के देवी देवताओं की मूर्तियों की स्थापना की गई।

जावा के परमवनन मन्दिर के विवरण में श्री महता जमिनी ने इंडोनेशिया पुस्तक के पृष्ठ ११२ पर लिखा है-'इसके चारों ओर पत्थर की चारदीवारी है जिसका घेरा दो मील का होगा। इसमें पांच मन्दिर तो ठीक हैं और शेष खंडहरों के ढेर पड़े हैं। . दोनों ओर की दीवारों पर असंख्य पत्थर की काट छांट की मूर्तियों के दृश्य हैं जिनमें अधिकतर रामायण के दृश्य हैं।'

जावा के जोगना नगर का यह मन्दिर 'रामायण का मन्दिर' भी कहलाता है। इस मन्दिर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ऐसा सुन्दर और कलापूर्ण मन्दिर अन्यत्र नहीं मिलता। इसका निर्माण राजा शिवकुमार वर्मा ने कराया था। इसके निर्माण के लिए उसने भारत से एक हजार शिल्पकार बुलवाए थे। चार वर्षों में इसका निर्माण कार्य पूर्ण हुआ था। पापाओं को काट छांटकर रामायण के जो दृश्य तैयार किए गए वे हिन्दू संस्कृति के जीवित जागृत प्रमाण हैं।

श्री महता जैमिनी ने लिखा है-'दीवारों पर रामायण के बयालीस दृश्य हैं।' उन्होंने इन सबका विस्तृत विवरण भी दिया है।

जावा का दूसरा मन्दिर थनातरन का मन्दिर है। इसमें राम और कृष्ण की मूर्तियां हैं। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्तियां भी हैं। इस मन्दिर में रामायण के ६८ दृश्य हैं।

जावा का तीसरा मन्दिर दारबडोज मन्दिर कहलाता है। यह मन्दिर एक छोटी सी पहाड़ी पर बना है। इसकी आठ गोलाकार मंजिलों में हिन्दू देवी देवताओं की हजारों मूर्तियां है। इसे हिन्दुओं के तेतीस कोटि देवताओं का मन्दिर मानते हैं। श्री महता जैमिनी के अनुसार इसकी पांच मंजिलों में हिन्दू देवी, देवताओं, ऋषियों और मुनियों की मूर्तियां हैं और शेष तीन मंजिलों में केवल भगवान बुद्ध की मूर्तियां हैं। मन्दिर को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहां पौराणिक हिन्दू धर्म का किसी समय पूर्ण आधिपत्य रहा।

श्री महता जैमिनी जी के लेखानुसार परमवनन मन्दिर से आगे एक और स्थान पर अनेक मन्दिर बने हैं जो 'चङ्गरङ्ग, मन्दिर के नाम से विख्यात हैं। इस क्रम में चंडी शिव, चंडी विष्णु, चंडी ब्रह्मा, चंडी अर्जुन, चंडी बुद्ध, चंडी सरस्वती, चंडी गरुड़ और चंडी सूर्य नाम के मंदिर हैं। यहां चंडी का आशय मन्दिर से है। श्री महता जी लिखते हैं—

'इन मन्दिरों ने अब तक जावा निवासियों के हृदय पर हिन्दू सभ्यता और धर्म की छाप लगा रक्खी है। जावा में वीरों के कारनामे और मन्दिरों के धार्मिक दृश्य भारत की कला कौशल, चित्रकारी और शिल्पकला को प्रगट कर रहे हैं।'*

*इंडोनेशिया पृष्ठ १२३

बाली में हिन्दू धर्म—

बाली द्वीप में भी हिन्दू धर्म फैला। ईसा की प्रथम शताब्दी में इस द्वीप में हिन्दुओं का राज्य स्थापित हो गया था। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि यहां ईसा की छटी शताब्दी में हिन्दू राज्य स्थापित हुआ। कुछ समय तक इस द्वीप पर जावा के राजा का भी अधिकार रहा।

बाली में भी हिन्दुओं के अनेक मन्दिर बने। यहां के सम्बन्ध में श्री महता जैमिनी ने अपनी इंडोनेशिया पुस्तक के पृष्ठ १७० पर लिखा है—'बाली के नगरों और मनुष्यों के नाम, उनकी पूजा विधि व रीति रिवाज आदि सब कुछ हिन्दुओं के समान हैं। वे अपने आपको आर्य कहते हैं और अपभ्रंश संस्कृत बोलते हैं। यहां के मन्दिरों में वेद, रामायण, महाभारत और सत्तर श्लोकी गीता मिलती है जो लंटूर वृक्ष के पत्तों पर अंकित है।'

'बाली में बौद्ध धर्म भी फैला। यहां बुद्ध की मूर्तियां भी मिलती हैं।'

उपरोक्त द्वीप समूहों के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित रघुनन्दन शर्मा ने अपने 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रंथ में कुछ उल्लेख किया है। उन्होंने लंका का बड़ा विस्तार माना है। वे लिखते हैं—'मलय और सुमात्रा की ही जमीन में लंका थी। हमारा तो अनुमान है कि प्रारम्भ में मेडेगास्कर, सीलोन और द्वीपपुञ्ज एक में मिले थे और इस विशाल समस्त भू भाग को लंका कहा जाता था।'

लंका में अधिक सोना होने की पुष्टि करते हुये वे लिखते हैं—'यह बात कल्पना नहीं है। इन द्वीपों में पहिले बहुत सोना निकलता था। इसी से असुरों ने भी इस स्थान को राजधानी बनाया था और वह सोने की जमीन के नाम से प्रसिद्ध भी था। यह इस बात से जाना जाता है कि यहां भारत के लोग अर्थात् पतित क्षत्रीगण और अन्य लोग भी सुवर्ण के ही लिये उपनिवेश बनाकर बसते थे।'*

इस द्वीप पुञ्ज के विस्तार के सम्बन्ध में पंडित रघुनन्दन शर्मा लिखते हैं—

"इस द्वीप पुञ्ज में प्रधानतया छः सात द्वीप हैं। योरप निवासी अब तक यहां के निवासियों के लिए नाना प्रकार की कल्पना करते हैं। पर संस्कृत के प्राचीन साहित्य से सिद्ध होता है कि मलय, जावा, सुमात्रा आदि देशों में आर्यों ने ही सबसे प्रथम उपनिवेश किया था।'

बाल्मीकि रामायण में लिखा है कि 'यत्नवंतो यवद्वीपः सप्तराज्योपशोभितः' अर्थात् यवद्वीप सात राज्यों से सुशोभित है। इन द्वीपों के लिए वायुपुराण में लिखा है -

---

* वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ४४०

अङ्गद्वीपं यवद्वीपं मलयद्वीपमेव च।
शंखद्वीपं कुशद्वीपं वराहद्वीपमेव च॥
एवं षडेते कथिता अनुद्वीपा समन्ततः।
भारतं द्वीप देशो वै दक्षिणे बहुविस्तरः॥

अर्थात् अङ्गद्वीप, यवद्वीप, मलद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप और वराहद्वीप आदि भारतवर्ष के अनुद्वीप ही हैं जो दक्षिण की ओर दूर तक फैले हैं।

कुश द्वीप के सम्बंध में यह बात प्रसिद्ध है कि इसे भगवान रामचंद्र के पुत्र कुश ने बसाया था।

बाली द्वीप को सातवां द्वीप माना गया है। इस द्वीप में मनुस्मृति का कानून माना जाता था।

इस प्रकार इन द्वीपों में किसी समय आर्य सभ्यता, आर्यवंश और आर्य गौरव की जयध्वनि गूंजी।

आर्यों का विदेश गमन—

वैदिक सभ्यता संसार भर में किस प्रकार फैली, इस सम्बंध में विद्वानों में काफी मतभेद है परन्तु अब अधिकांश विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि वेद ही प्राचीनतम ग्रंथ हैं। दूसरी बात यह है कि आर्यों ने वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए प्राचीनकाल में संसार के अनेक देशों की ओर प्रस्थान किया।

इस सम्बंध में कुछ मुख्य मुख्य बातें हम यहां प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझते हैं। 'आर्यों का विदेश गमन' विषय में स्वर्गीय पं० रघुनन्दन शर्मा ने अपने 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रंथ में काफी विवरण दिया है। वे लिखते हैं—

"भारत से पश्चिम की ओर सबसे प्रथम अफ़रीदी, काबुली और बलूचियों के देश आते हैं। इन देशों में इसलाम प्रचार के पूर्व आर्य ही निवास करते थे। यहीं पर गान्धार था जहां की गान्धारी राजा धृतराष्ट्र की रानी थी। गान्धार को इस समय कन्धार कहते हैं, जिसका अपभ्रंश कन्दार और खन्धार भी है। इसी के पास राजा गजसिंह का बसाया हुआ ग़ज़नी नगर अब तक विद्यमान है। काबुल में जो पठान जाति रहती है वह प्रतिष्ठान (झूसी) राजधानी की रहने वाली चंद्रवंशी क्षत्री जाति है। झूसी से आकर पहिले यह सरहद (फ्रंटियर) में बसी और वहां इसने प्रजासत्ताक शासनपद्धति स्थापित की। प्रजासत्ताक शासनपद्धति को उस समय गणराज्य कहते थे। अफ़रीदी लोग उस समय के गण लोग ही हैं। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य अपने महाभारत मीमांसा नामी ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। आप कहते हैं कि "महाभारत में लिखा है कि 'गणान् उत्सवसंकेतान् दस्यून् पर्वत-

वासिनः । अजयन् सप्त पाण्डवाः' अर्थात् सप्त गणों को पाण्डवों ने जीत लिया । इन्हीं गणों ने जरा आगे बढ़कर 'उपगण' या 'अपगण' राज्य स्थापित किया । इसी को इस समय अफ़ग़ान कहते हैं और उनके स्थान का नाम अफ़ग़ानिस्तान है । इसका असली उच्चारण 'उपगणस्थान' है । यह पहिले गणराज्य का मातहत था । ये गण (अफ़रीदी) आर्यों से द्वेष रखने के कारण ही आर्यों के शासन से अलग रहते थे । इसी तरह बलूचिस्तान भी वलोच्चस्थान शब्द का अपभ्रंश है । इसमें केलात नामक नगर अब तक विद्यमान है । यह केलात तब का है जब किरात नामी पतित आर्य क्षत्री यहां आकर बसे थे । ये क्षत्री होने से ही बल में उच्च स्थान प्राप्त कर सके थे । मनुस्मृति में जहां अन्य पतित क्षत्रियों के नाम गिनाये गये हैं वहां 'किराताः यवनाः शकाः' कहकर किरात भी गिनाये गए हैं ।

"अफ़ग़ानिस्तान के आगे ईरान है, जिसको पारस्य देश भी कहते हैं । यहां पहिले वह जाति आबाद थी, जो आजकल हिन्दुस्थान में पारसी नाम से प्रसिद्ध है । यह जाति अति प्राचीन काल में ही आर्यों से जुदा होकर ईरान में आबाद हुई थी । मैक्समूलर कहते हैं कि 'यह बात भौगोलिक प्रमाणों से सिद्ध है कि पारसी लोग फ़ारस में आबाद होने के पहले भारत में आबाद थे । उत्तर भारत से जाकर ही पारसियों ने ईरान में उपनिवेश बसाया था' । वे अपने साथ यहां की नदियों के नाम ले गये । उन्होंने सरस्वती के स्थान में 'हरह्वती' और सरयू के स्थान में 'हरयू' नाम रक्खा । वे अपने साथ शहरों के भी नाम ले गये । उन्होंने भरत को 'फरत' किया और वही फरत 'यूफरत' हो गया । उन्होंने भूपाल (न) को बेबिलन और काशी को कास्सी (Cassoci) तथा आर्यन को ईरान नाम से भी प्रसिद्ध किया । इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि पारसी भी भारती आर्यों की ही शाखा हैं ।

"ईरान के पास ही अरब है । वैदिक भाषा में अर्वन् घोड़े को कहते हैं और जिस जगह घोड़े रहते हैं, उस स्थान को अर्व कहते हैं । जिस प्रकार गौओं के बड़े चरागाह को व्रज और भेड़ बकरी वाले देश को गन्धार कहते हैं, उसी तरह जहां अच्छी जाति के घोड़े रहते हैं, उसको अर्व कहते हैं । अब भी अरबी घोड़ा सर्वोपरि समझा जाता है । उत्तम घोड़े उत्पन्न होने से ही आर्यों ने इस देश का नाम अर्व रक्खा था । स्मृतियों के पढ़ने वाले जानते हैं कि आर्यों से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति को शैख कहते हैं । यह संकरजाति ब्राह्मणों के योग से उत्पन्न होती है । मालूम होता है वही शैख जाति अरब में बसकर शेख हो गई है क्योंकि शेखों का अरब में वही मान है, जो भारत में ब्राह्मणों का है । यह प्रसिद्ध बात है कि मुसलमान होने के पहिले वहां के निवासी अपने को ब्राह्मण ही कहते थे । अरब से ही रामानुज सम्प्रदाय का मूल प्रचारक यवनाचार्य बहुत करके यहां नवीं शताब्दी में आया था क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ है । इनके दो सौ वर्ष पूर्व मद्रास

प्रान्त में शूद्र जाति पर महान् अत्याचार था। उसी समय इस अरब देश निवासी ब्राह्मण कुलोत्पन्न दयालु यवनाचार्य का आना हुआ। उस समय वहां महात्मा शटकोप आदि आन्दोलन कर्ताओं को यवनाचार्य ने मदद दी।"†

स्वर्गीय रघुनन्दन शर्मा आगे लिखते हैं—

'असीरिया में भी आर्यों का ही निवास था। ए. वेरीडेल कीथ ने वहां के सुवरदत्त, जशदत्त और सुवन्धि आदि राजाओं के नामों से सिद्ध किया है कि वे आर्य ही थे।'§

'असीरियावासी आर्य ही हैं और भारत से ही जाकर वे वहां वसे थे।'

'मैसोपोटामिया वाले भी आर्य थे। इनके विषय में ए वेरीडेल कीथ ने लिखा है कि दसरथ नाम का मितानी राजा इजिप्ट के एक राजा का साला था। वह आर्य था और ईस्वी सन के १३००–१४०० वर्ष पूर्व राज्य करता था। इसी प्रकार मितानियों के दूसरे राजा का हरि नाम भी आर्यों का ही सिद्ध होता है।'

'अभी हाल में जो मैसोपोटामिया के पुराने मकानों की खुदाई से मिट्टी की पकी हुई लिखित ईंटें प्राप्त हुई हैं, उन ईंटों में मितानी और हिटाई राजाओं का इकरारनामा लिखा हुआ मिला है जिसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम लिखे हुये हैं।*

पंडित रघुनन्दन शर्मा लिखते हैं–'इस प्रकार से हमने यहां तक एशिया माइनर के तमाम प्राचीन देशों को देखा तो मालूम हुआ कि वहाँ प्राचीन काल में ही आर्य जाति जाकर आवाद हुई है और उसी ने अपनी सभ्यता का वहां प्रचार किया।‡

आर्य विद्वान पंडित रघुनन्दन शर्मा ने आर्यों के युरोप, अफ्रीका एवं कुछ अन्य भागों में जाने का भी अपने ग्रंथ 'वैदिक सम्पत्ति' में वर्णन किया है।

---

† वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ४१५, ४१६, ४१७

§ Aryan names among the princes in Syria such as Suwordatta, Jasdatta, Arzawiya, Artamanya, Rasmanya, Subandhi and Sutarana ......(Dr. Bhandarker Commemoration Essays, The Early History of Indo Iranians by A. Berriedale Keith.)

* एशिया माइनर के वगजकोई (Baghazkoi) स्थान पर हिटीशिया के वादशाह सुब्बिलुलिउमा (Subbiluliuma) और मताई (Mitai-Modern Mesopotamea) के वादशाह मुट्टीवुजा (Muttivuza) के बीच के (ई० सन् पूर्व १४०० के) कुछ सन्धिपत्र मिले हैं जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं की वन्दना की गई है। (रायल एशियाटिक सोसाइटी का सन् १९१० का जर्नल पृष्ठ ७२१ और ४४३)

‡ वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ४२२

अमरीका में आर्यों के निवास का अनेक ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। इसके सम्बंध में सुयोग्य विद्वान पं० रघुनन्दन शर्मा ने 'वैदिक सम्पत्ति' के पृष्ठ ४५४ पर लिखा है–'भारत देश उस देश के मूल को केवल जानता ही नहीं था, प्रत्युत भारत के ही निवासी वहां जाकर बसे हैं। भारत में प्राचीन से प्राचीन और नवीन से नवीन साहित्य में अमेरिका वालों का जिक्र मौजूद है। अति प्राचीन आर्य साहित्य में पातालवासियों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त महाभारत में लिखा है कि उद्दालक मुनि पाताल में ही निवास करते थे, अर्जुन की उलीपी स्त्री भी वहां की ही थी और वेद व्यास भी एक बार वहां गये थे।'

भारतवासियों के विदेशों में जाने और विदेशियों के भारत आने के सम्बंध में पं० रघुनन्दन शर्मा 'वैदिक सम्पत्ति' के पृष्ठ ४५६ पर लिखते हैं— 'इतिहास से पता मिलता है कि ईरान, सीरिया, ग्रीस और चीन आदि देशों से लोग यहां शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया करते थे। यहां वाले भी आस्ट्रेलिया, अमेरिका, सीरिया, ग्रीस और चीन आदि देशों में शिक्षा देने के लिए जाया करते थे। ऋषि पुलस्त्य धर्म प्रचार करने के लिए आस्ट्रेलिया गये, वेद व्यास अमेरिका और वलख को गये, वौद्ध संन्यासी पेलिस्टाइन, ग्रीस और चीन को जाते रहे अर्थात् पुलस्त्य से लेकर सन् ईस्वी के आरम्भ तक आर्य ऋषि, मुनि और संन्यासी वैदिक धर्म का प्रचार दूसरे देशों में करते रहे और वहां के असभ्य लोगों में सभ्यता का संचार होता रहा, धर्म प्रचार होता रहा।'

दक्षिण अफ्रीका के प्रसंग में उन्होंने दुष्यन्त के पुत्र भरत के 'मष्णार' नामक देश में सुवर्ण अलंकारों से युक्त वड़े वड़े श्वेत दांत वाले हाथियों के एक सौ सात वृन्द दान में देने की कथा का उल्लेख किया है। 'मष्णार' संस्कृत के 'मष्णा' का ही रूप है। इस कथा से विदित होता है कि प्राचीन काल में आर्य अफ्रीका में भी गये।

परन्तु जव आर्य लोग अपने धर्म कर्म को स्थिर न रख सके और उनमें कलह और वैमनस्य फैल गया तव उनका पतन निश्चय ही था।

विदेशियों का भारत आगमन

भारतवर्ष की अनेक जातियां जो पृथ्वी के अनेक भागों में जाकर बस गई वे दीर्घकाल तक भारत के आर्यों से पृथक रहने के कारण वहां की जलवायु और परिस्थिति के अनुसार धर्म, आचार विचार तथा खान-पान आदि में पूर्ण स्वतंत्र हो गईं। उन्होंने अपनी शक्ति को संग्रह करने का भरसक यत्न किया। उन्होंने भारत में आकर यहां के आर्यों से सम्पर्क स्थापित करके उनमें अवैदिकता और अनार्यता का प्रचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्यों में अवैदिकता फैल गई। इतिहास से विदित होता है कि अनेक देशवासी भारत में आकर बस गए और उन्होंने भारत के रहने वालों के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित कर लिए।

इतिहास में भारत में मंगोलिया से 'मग' नाम की जाति के भारत आने का उल्लेख मिलता है। वे सूर्य की उपासना करते थे।

शक और हूण जातियां भी भारत में आई। हूण तातारी भी कहे जाते थे। भारत के कलचुरी राजा कर्ण ने तातारी हूणों को परास्त करके उनकी कन्या से विवाह किया। इस तरह हूण जाति भारत की जातियों में मिल गई।

विदेशियों के भारत आगमन के सम्बन्ध में इतिहास से पता चलता है कि यहां अनेक जातियां आई। उन जातियों के साथ भारतवासियों के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुये। इसका परिणाम यह हुआ कि इन विदेशियों को आर्य संस्कृति में घुलमिल जाने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रकार के जाति मिश्रण के सम्बन्ध में पंडित रघुनन्दन शर्मा का कहना है—"संसार के प्रायः सभी प्रधान प्रधान देशों के रहने वाले लोग (जिनके आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, खान-पान अवैदिक थे) आर्यों में मिल गये और उनके अनेकों आचार-विश्वास धीरे-धीरे आर्यों में दाखिल हो गये। अतः भारत के आर्य इस मिश्रण से आर्य न रहकर, हिन्दू हो गये। मिश्रण सभी वर्णों में हुआ। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र सभी विदेशियों के मिश्रण से मिश्रित हुये। परन्तु क्षत्रियों में इन विदेशियों का मिश्रण बहुतायत से हुआ।"

इतिहासकार ई० डब्लू थामसन ने 'हिस्ट्री आफ इंडिया' में इस सम्बन्ध में लिखा है—

"राजपूत लोग विशेषकर उन मरू मैदानों और पहाड़ी प्रदेशों में रहते हैं जा सिन्धु और गंगा के बीच में हैं। उनके देश दक्षिण में नर्मदा तक फैले हुए हैं। वे भिन्न-भिन्न जातियों से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ प्राचीन आर्यों की संतान हैं और कुछ सिथियन, हूण तथा द्रविड़ों के गिरोह में से भी हैं।" *

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि विदेशियों के आगमन के समय भारत में एकीकरण की भावना का अभाव हो चला था। पारस्परिक संघर्ष के कारण राज्यों की शक्ति बहुत क्षीण होने लगी थी। मगध के सम्राट बिम्बसार और अजातशत्रु के समय भारत के पश्चिमी सीमा प्रांतों में गांधार और कम्बोज के दो प्रसिद्ध राज्य थे। सिन्धु और पंजाब में भी कुछ राज्य स्थापित हो चुके थे। यूनानी साहित्य के अनुसार इस प्रदेश में अनेक राज्य थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय यह प्रदेश निम्न राज्यों में बंटा था —

(१) अश्वक-यह राज्य काबुल नदी के उत्तर में था (२) गौर-यह पंचकौर नदी की घाटी में बसा था (३) पूर्वी अश्वक—इस राजा को सुवास्तु अथवा उद्यान भी कहते थे। इसकी राजधानी मसग मालकन्द दर्रे के समीप थी (४) नीसा-यह राज्य काबुल और सिन्धु नदी के बीच में स्थित था (५) पश्चिमी गांधार—यह राज्य भी सिन्धु और काबुल के मध्य में था। इसकी राजधानी पुष्कारवती थी (६) पूर्वी गांधार-यह राज्य सिन्ध और झेलम नदी के मध्य में था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी (७) उरशा—यह राज्य गांधार के पूर्व में स्थित था (८) अभिसार—इस राज्य के अन्तर्गत कश्मीर का पश्चिमी प्रदेश था (९) पौरव राज्य—यह राज्य झेलम और चिनाव के मध्य में था (१०) ग्लुचुकायन—यह राज्य पौरव के पूर्व में स्थित था। (११) अद्रिज—यह राज्य रावी नदी के पहाड़ी प्रदेश में था इसका मुख्य नगर प्रियग्रामा था (१२) कठ—यह राज्य रावी और व्यास नदी के बीच में था (१३) सौभूति—यह राज्य झेलम और चिनाव के दक्षिण में था (१४) मगल राज्य—यह राज्य कठ राज्य के दक्षिण में रावी और व्यास नदी के बीच में था (१५) शिवि राज्य—यह राज्य झेलम और चिनाव नदी के दक्षिण में था (१६) अगलेसाय-यह राज्य शिवि राज्य के समीप था (१७) क्षुद्रक—यह राज्य मांटगुमरी जिले के रावी और व्यास नदी के मध्य में था। इसकी सैनिक शक्ति बड़ी प्रबल थी (१८) मालव—

* "The Rajputs are the tribe and clans who live in the deserts, mountain ranges and valleys that lie between the Ganges and Indus. Their country reaches southward almost as far as Narmada. They belong to several races. Some of the clans my be descended from the old Aryan cheiftains, others are sprung from the Sythian and Hun invaders while others again are probably Dravidian tribesmen."

यह राज्य रावी और [illegible] नदी के संगम के समीप था (१९) अमवष्ठ राज्य–यह राज्य चिनाव नदी की घाटी के निचले भाग में था (२०) क्षत्रि राज्य–यह राज्य चिनाव नदी की दक्षिणी घाटी में था (२१) शूद्र–यह राज्य उत्तरी सिन्ध में था। (२२) मूपिक–इस राज्य में सिन्ध का कुछ भाग सम्मिलित था। (२३) प्रोस्थ–यह राज्य वर्तमान लरकाना जिले में था (२४) शाम्ब–इस राज्य की राजधानी सिन्धु नदी के तट पर सिन्दिमान थी (२५) पटल–यह राज्य सिन्ध के दक्षिण भाग में था।

इन छोटे छोटे राज्यों में भारत का एक भूभाग वंट जाने से भारत की शक्ति किस प्रकार संगठित रह सकती थी ? परिणाम यह हुआ कि विदेशियों ने इस देश पर अनेक वार आक्रमण किये। ईरानियों ने इस देश पर कई वार आक्रमण किये। इनके वाद सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण करने की एक विशाल योजना वनाई। उसने भारत के छोटी छोटी ईकाइयों में वंट जाने का पूरा लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त भारत के कुछ स्वार्थी और देशद्रोहियों ने भी उसका साथ दिया। उन्होंने सिकन्दर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया। शशिगुप्त सिकन्दर का मित्र वन गया। उसने भारत पर किये गये आक्रमण के समय सिकन्दर की वड़ी सहायता की। तक्षशिला के राजा आम्भि ने भी सिकन्दर को भारत पर आक्रमण करने के लिये आमंत्रित किया। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया तव उसका तक्षशिला आने पर आम्भि ने वड़ा स्वागत सत्कार किया।

सिकन्दर का राजा पुरु की सेनाओं के साथ युद्ध हुआ। पुरु की सैनिक शक्ति के वारे में इतिहासकार का कहना है कि उसकी सेना में ३०,००० पैदल, ४,००० घोड़े, २०० रथ और २०० हाथी थे। सिकन्दर को इतनी विशाल सेना पर विजय प्राप्त करना कठिन था परन्तु दुर्भाग्य की वात यह हुई कि पुरु की सेना के घायल हाथी जव पीछे की ओर भागे तव उन्होंने अपनी ही सेना को कुचल दिया। परिणाम यह हुआ कि पुरु पराजित हो गया। उसने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। इस तरह भारत की फूट का लाभ उठाकर सिकन्दर अपनी कूटनीति में सफल हुआ।

सिकन्दर ने भारत पर जब भी आक्रमण किया, उसने भारत के राजाओं की फूट से लाभ उठाया। उसने आक्रमण से लौटते समय भी भारत के कई राजाओं के साथ युद्ध किया। झेलम घाटी में सौराष्ट्र के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार की। सिकन्दर ने शिवियों, अगलस्तों, मालव और क्षुद्रकों को भी युद्ध मे परास्त किया। दक्षिणी-पश्चिमी पजाव के संघ को भी सिकन्दर ने परास्त किया। जब सिकन्दर सिंध प्रान्त में आया तव मुषिक और शम्भु जनपदों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। ब्राह्मण जनपद ने जब सिकन्दर की अधीनता स्वीकार न की तव उसने उस जनपद को नष्ट कर डाला।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव मुख्य रूप से भारत के पश्चिमी प्रदेशों पर पड़ा। इन प्रदेशों पर यूनानियों का अधिकार स्थापित हो गया। परन्तु पंजाब के विभिन्न राज्यों में एकता की भावना भी उत्पन्न हुई। इस क्षेत्र की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर यद्यपि यूनानियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उद्योग किया परन्तु वे इसमें सफल न हो पाए।

सिकन्दर के आक्रमण के सम्बन्ध में यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त को भी परास्त करने का विचार किया था परन्तु वह उसमें सफल न हुआ।

सिकन्दर के वापिस चले जाने पर चन्द्रगुप्त ने भारतीय जनता को यूनानी राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये प्रोत्साहित किया। चन्द्रगुप्त ने उसका नेतृत्व किया और उसने अपनी शक्ति के बल पर यूनानियों को भारत से निकालकर उनकी सत्ता का अन्त कर दिया। उसने उन राज्यों पर अधिकार किया, जिनपर सिकन्दर का अधिकार हो गया था। बहुत से यूनानी सरदार चन्द्रगुप्त के भय से भाग गये और कुछ मारे गये। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने पंजाब प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् ३०५ ईस्वी पूर्व सैल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त पहले से ही सावधान था। उसने पश्चिमोत्तर सीमा को सुदृढ़ बना लिया था। उसने सैल्यूकस की विशाल सेना का सिन्धु नदी के पार सामना किया। उसने सैल्यूकस को बुरी तरह परास्त कर दिया। विवश होकर सैल्यूकस को चन्द्रगुप्त के साथ संधि करनी पड़ी। सन्धि के अनुसार उसने अपनी लड़की हैलन का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। इसके अतिरिक्त सैल्यूकस को अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान का भाग चन्द्रगुप्त को सौंप देना पड़ा। इस अवसर पर चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस को ५०० हाथी उपहार रूप में भेंट किये।

सैल्यूकस के समय में भारत और यूनानियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने से भारत की संस्कृति को यूनानियों ने ग्रहण किया। यूनानियों ने बहुत अंशों में भारत के देवी देवताओं की पूजा को भी अपनाया।

इस युग के पश्चात् भारत में बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। भारत के अनेक राजाओं ने बौद्धधर्म को विस्तार दिया। भारतवासी विदेशों में गये और उन्होंने अनेक उपनिवेश स्थापित किये। इनमें उन्होंने अपनी भारतीय संस्कृति और धर्म को भी फैलाया। इसका वर्णन पीछे के पृष्ठों में किया जा चुका है।

मुसलमानों का आगमन—

भारत में मुसलमानों के आगमन ने यहां की संस्कृति और धार्मिक विश्वासों को बड़ा प्रभावित किया। मुसलमानी आक्रमणों से पूर्व जितने अन्य जातियों के आक्रमण

हुये, वे भारत को इतना प्रभावित न कर सके जितना मुसलमानों ने किया। इनके आक्रमणों का भारत के सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मुसलमानों ने भारत को दो विरोधी विचार धाराओं में विभक्त कर दिया। इनके आक्रमणों का भारत की एकता, धर्म और भाषा आदि पर तो बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। इन्होंने भारत में इस्लाम धर्म फैलाने में शक्ति का पूरा प्रयोग किया। तलवार के बलपर इन्होंने हिन्दुओं को मुसलमान बनाया।

इस्लाम धर्म—

इस्लाम धर्म का प्रादुर्भाव अरब देश में हुआ। उसी अरब में जहां किसी समय आर्यो ने वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति को फैलाया था। एक ईश्वर में विश्वास रखने पर भी अरब में मूर्तिपूजा का प्रचलन हुआ। मक्का उनका तीर्थ स्थान था। यहां अनेक कबीले रहते थे जिन्होंने अपने अलग अलग देवता माने हुये थे।

सन् ५७० ई० में अरब देश के मक्का स्थान में हजरत मुहम्मद साहब का जन्म हुआ। इन्होंने अरब देश को संगठित किया और उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने का उपदेश दिया। उनका अरब निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे इस्लाम धर्म के अनुयायी हो गये। हजरत मुहम्मद साहब का इस्लाम धर्म 'कुरान शरीफ' पर आधारित है। प्रत्येक मुसलमान इसे अपना पूजनीय धर्म-ग्रन्थ मानता है।

अरब वालों ने भारत में सबसे पहले समुद्रतट पर इस्लाम धर्म का प्रचार किया। उन्होंने कुछ बस्तियां भी बसाईं। उनमें इस्लाम धर्म फैलाने का यत्न किया गया परन्तु उन्हें सफलता न मिली।

सन् ६६१ में सुबुक्तगीन ने भारत पर आक्रमण किया। उसने जयपाल को युद्ध में परास्त करके सीमान्त दुर्गो पर अधिकार कर लिया। पेशावर पर सुबुक्तगीन का अधिकार हो गया।

इसके पश्चात् महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किये। सन् १००० से १०१६ ई० के बीच उसने सिन्धु और गंगा नदियों के मैदान में १६ बार आक्रमण किये। प्रति वर्ष उसने भारत की अतुल सम्पत्ति को लूटा और मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ा। महमूद के अंतिम आक्रमणों में सोमनाथ मंदिर का आक्रमण सबसे महत्व पूर्ण था। वह एक धर्मान्ध शासक था। उसने तलवार के बल पर भारत में इस्लाम धर्म को फैलाने का यत्न किया।

महमूद गजनवी के पश्चात् भारत पर मुहम्मद गोरी ने आक्रमण किये। उसने राजपूतों की पारस्परिक शत्रुता का पूरा लाभ उठाया और भारत के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में इस्लाम धर्म के पैर जम गये।

महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के आक्रमणों ने भारत के हिन्दू राजाओं की शक्ति को इतना कमजोर बना दिया कि उनके पश्चात् भारत में अनेक शताब्दियों तक मुस्लिम बादशाह ही शासन करते रहे। उन्होंने अपनी अपनी नीति के बलपर भारत में इस्लाम धर्म फैलाने का यत्न दिया। इनके आक्रमणों और शासन का हिन्दू संस्कृति पर भारी आघात लगा।

इस सम्बन्ध में पंडित रघुनन्दन शर्मा 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ के पृष्ठ ४७४ पर लिखते हैं—"इनके अत्याचार और कठोर शासन, लूट और साहित्य विध्वंस की कथा भी सभी जानते हैं। इन्होंने हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया, यह बात भी प्रसिद्ध है।"

भारत के राजाओं के पारस्परिक द्वेष, फूट और प्रतिस्पर्द्धा ने इस्लाम धर्म को काफी प्रोत्साहन दिया। राजपूत राजाओं ने स्वार्थवश मुगलों की अधीनता स्वीकार करके हिन्दू धर्म को भारी क्षति पहुंचाई। मुसलमानों ने हिन्दुओं की कमजोरियों का पूरा लाभ उठाया और उन्होंने अपनी संख्या बढ़ाने का भरसक यत्न किया।

हिन्दुओं ने भी इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि उनके कठोर धार्मिक बन्धनों ने हिन्दू समाज को कमजोर बनाना प्रारम्भ कर दिया है। वे इस बात से भी सावधान न हुये कि छोटी २ त्रुटियों पर हिन्दुओं का सामाजिक बहिष्कार करने से हिन्दू धर्म को भारी आघात पहुंचेगा। परिणाम यह हुआ कि भारत में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक इस्लाम धर्म को फैलने का अवसर मिला।

मुस्लिम शासनकाल में मुसलमानों ने जहां इस्लाम धर्म को फैलाया वहां उन्होंने भारत के संस्कृत साहित्य को भी नष्ट किया। संस्कृत के लाखों ग्रंथ वर्षों तक मुसलमानों के हमामों में जलते रहे। 'उदन्तापुरी आदि के नौ-नौ मंजिल जैसे पुस्तकालय बात की बात में भस्म कर दिये गये।'

मुसलमानों ने हिन्दू धर्म शास्त्रों में भी मिलावट कराई। इसके सम्बंध में सुयोग्य विद्वान पं० रघुनन्दन शर्मा लिखते हैं—

'मुसलमान जाति ने जब अपने कठोर शासन से भी हिन्दू धर्म का नाश न कर पाया, तो उसने अपने सिद्धांत संस्कृत भाषा में लिखवाना शुरू किया और अपना एक दल अपने से अलग करके हिन्दुओं का गुरु बननें के लिए कायम किया। एक तरफ तो मुसलमान अपने प्रचार के लिए इस तरह साहित्य नष्ट करने लगे और दूसरी तरफ हिन्दुओं ने मुसलमानी अत्याचार से पीड़ित होकर उनसे बचने के लिए खुद भी नवीन नवीन रचना करके शास्त्रों में मिश्रण करना शुरू कर दिया। इस तरह के दो तीन मार्गों के द्वारा हिन्दुओं का साहित्य बिगड़ने लगा। नवीन

रचना में अल्लोपनिषद विशेष उल्लेखनीय है। यह सभी जानते हैं कि अल्लोप निषद् मुसलमानों की ही रचना है। यहां हम ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं—

अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते।
इल्लल्ले वरुणो राजा पुनर्ददुः।
हयामित्रो इल्लां इल्लल्ले इल्लां वरुणो मित्रस्तेजस्कामः ॥१॥
होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्र महा सुरिन्द्राः।
अल्लो ज्येष्ठं श्रेष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्माणं अल्लाम् ॥२॥
अल्लो रसूल महामदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् ॥३॥
आदल्ला बूक मेककम्।
अल्लबूक निखादकम् ॥४॥
अलो यज्ञेन हुत हुत्वा।
अल्ला सूर्य्यचन्द्रसर्वनक्षत्राः ॥५॥
अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्यां इन्द्राय पूर्वं माया परममन्तरिक्षा ॥६॥
अल्लः पृथिव्या अन्तरिक्षं विश्वरूपम् ॥७॥
इल्लांकवर इल्लांकवर इल्लां इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥८॥
ओम् अल्लां इल्लल्ला अनादि स्वरूपाय अथर्वणा श्यामा हुह्री जनान
पशून् सिद्धान् जलचरान् अदृष्टं कुरु कुरु फट ॥९॥
असुरसंहारिणी हुं ह्रीं अल्लो रसूल महमदरकबरस्य
अल्लो अल्लाम इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥१०॥ इति अल्लोपनिषत् ॥

इसको पढ़कर कौन कह सकता है कि यह मुसलमानों की रचना नहीं है अथवा यह विना उनकी प्रेरणा के बना है ? इसके अतिरिक्त यूनानी वैद्यक को भी संस्कृत में लिखवाकर हिन्दू जनता में मुसलमानी हिकमत के प्रचार का उद्योग किया गया।‡

मुसलमानों ने ज्योतिष में भी इस्लामी तत्व दाखिल करने का यत्न किया। फलित ज्योतिष सम्बंधी बातें यूनानियों द्वारा मिश्रित की गईं। इस्लाम के प्रचार के लिए उर्दू मिश्रित अनेक श्लोक भी बनाये गये जिनके द्वारा अल्लाह की भक्ति की जा सके। इस प्रकार का एक श्लोक यहां दिया जा रहा है—

हेच फिक्रन्नकर्तव्यं कर्तव्यं जिक्रे खुदा।
खुदातालाप्रसादेन सर्वकार्यं फतह भवेत्।

इस प्रकार मुसलमानों ने संस्कृत भाषा के द्वारा अपने धर्म, विश्वास और विचारों को हमारे विश्वासों और विचारों में भरकर हमारी संस्कृति में क्षोभ उत्पन्न कर दिया।

---

‡ वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ५२७ व ५२८

इतना होने पर भी प्राचीन वैदिक धर्म नहीं मिटा, वह आज भी सुरक्षित है और संसार भर के विद्वान् उससे लाभ उठा रहे हैं।

ईसाई धर्म—

भारत में ईसाई धर्म भी तेजी के साथ फैला। मुस्लिम शासन की समाप्ति पर जब अंग्रेज इस देश के स्वामी बन गये तब उन्होंने भारत में ईसाई धर्म को अनेक प्रकार से विस्तार देने का यत्न किया। उन्होंने भी भारत के साहित्य को दूषित करने का भरसक प्रयास किया। अंग्रेजों ने इस बात को अनुभव कर लिया था कि भारत में ईसाई धर्म का प्रचार जोर जुल्म से नहीं किया जा सकता। उन्होंने इसके लिये अन्य साधन अपनाए। उन्होंने भी मुसलमानों की तरह यहां के साहित्य और धार्मिक ग्रंथों में मिश्रण कराया। समस्त युरोपवासियों ने भारत के धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद भी मनमाने ढंग से किये।

अंग्रेजों ने भारत के इतिहास को भी विकृत रूप में रखकर भारतीयों की गौरवपूर्ण ख्याति को आघात पहुंचाया। उन्होंने वैदिक धर्म और भारतीयता के विरुद्ध अविश्वास और असन्तोष उत्पन्न करके भारत के शिक्षित वर्ग को अपनी ओर आकर्षित किया।

बंगाल के आर्य शिरोमणि राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना करके हिन्दू धर्म की रक्षा करने का यत्न किया। परन्तु उनके पश्चात् श्री केशवचंद्र सेन ने ईसाई धर्म से प्रभावित होकर ब्रह्म समाज को एक नया रूप दे दिया। इसमें ईसाई धर्म की अनेक बातें इस ढंग से सम्मिलित कर दी गईं कि उनके बारे में किसी को यह शंका ही न हो कि वे ईसाई धर्म से ली गई हैं। ब्रह्म समाज में जो धार्मिक उपदेश होते थे उनमें हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, पारसी और चीनी धर्म ग्रंथों की भी बहुत सी बातें वर्णन की जाती थीं। इस प्रकार ब्रह्म समाज वैदिक धर्म के विपरीत एक नया संगठन बन गया। केशवचन्द्र सेन ने इस संगठन को ईसाई धर्म के प्रचार का ही एक केन्द्र बना डाला।

सन् १८६७ में डा० आत्माराम, पाण्डुरंग, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, महादेव गोविन्द राणाडे जैसे समाज सुधारकों ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। इन्होंने हिन्दुओं में घुसी अनेक कमजोरियों को दूर करने का यत्न किया।

इसी शताब्दी में श्री रामकृष्ण परमहंस एवं उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भी हिन्दू धर्म की रक्षा करने का महान कार्य किया। १८७३ में कलकत्ता में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सनातन धर्म रक्षिणी सभा की स्थापना की गई। इसने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सर्व प्रथम बंगाल में कार्य प्रारम्भ किया। इसे स्वामी विवेकानन्द का समर्थन प्राप्त हुआ।

स्वामी विवेकानन्द ने युरोप के देशों में हिन्दू धर्म की महानता पर जो व्याख्यान दिए, उनसे भारत को बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ।

स्वामी विवेकानन्द १८९३ ई० के सितम्बर मास में शिकागो गए और वहां वे सर्वधर्म सम्मेलन में सम्मिलित हुये। उनके व्याख्यान ने युरोप के विद्वानों को बड़ा प्रभावित किया। उनके सम्बंध में 'दी न्यूयार्क हैरल्ड' ने लिखा था—'सर्व धर्म परिषद (Parliament of Religions) में निस्संदेह विवेकानन्द सबसे बड़े व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि उस शिक्षित राष्ट्र (भारत) में मिशनरी भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है।'

स्वामी विवेकानन्द के प्रचार से प्रभावित होकर मेडम लुइस तथा श्री सैण्ड-स्वर्ग उनके शिष्य बने। सैण्डस्वर्ग सन्यासी हो गये, उनका नाम स्वामी कृपानन्द रक्खा गया। इंग्लैंड में मिस मारग्रेट नोबिल भी स्वामी विवेकानन्द की शिष्या बन गई। उनका नाम भगिनी निवेदिता रक्खा गया। इन सबने हिन्दू धर्म के प्रचार में योग दिया।

स्वामी विवेकानन्द १८९७ में अमरीका और इंग्लैड की यात्रा से लौटकर कोलम्बो गए। वहां उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया।

भारत लौटने पर स्वामी जी ने भारत में धर्म प्रचार के दो केन्द्र स्थापित किये। उनमें से एक कलकत्ता के समीप वेलूर में स्थापित किया और दूसरा हिमालय की उपत्यका में अवस्थित मायावती (अल्मोड़ा) में।

स्वामी विवेकानन्द ने १९०० ई० में पेरिस मे हुई धर्म परिषद मे भी भाग लिया। इस प्रकार उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि मे भारत की धार्मिक विचार-धारा को लाने में भारी सफलता प्राप्त की और भारत के अध्यात्मवाद का युरोपीय देशों में सम्मान बढ़ाया।

स्वामी दयानन्द का प्रादुर्भाव—

उन्नीसवीं शती के महान धर्म प्रचारक, स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म को पुनर्जीवित करने की दिशा मे महान कार्य किया। उनका जन्म काठियावाड़ के टङ्कारा ग्राम में १८२४ ईस्वी को हुआ था। उन्होंने हिमालय के अनेक स्थलों का भ्रमण किया उसके पश्चात् मथुरा मे गुरु विरजानन्द से वेदों का अध्ययन किया।

उनका प्रचार कार्य वेदों पर आधारित रहा। वे वेदों के प्रकाण्ड पंडित थे। इस सम्बन्ध में योगी अरविन्द ने लिखा है "उन्होंने वेद को युगों से चले आने वाले भारत की चट्टान समझा तथा उनमें यह साहसपूर्ण कल्पना थी कि वे वेद के आधार पर अपने सुधार का निर्माण करें जिस वेद में उनकी तीक्ष्ण दृष्टि ने एक सम्पूर्ण राष्ट्रीयता के दर्शन किये थे।"

स्वामी दयानन्द ने मूर्ति पूजा को वेद विरुद्ध सिद्ध करके एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने देश में राष्ट्रीय भावना भी जागृत की। उनके सम्बन्ध में आर्य विद्वान पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ के पृष्ठ ५३६ पर लिखा है—

"स्वामी दयानन्द ने इस क्षेत्र में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने आर्यों में उनकी प्राचीन विद्या, सभ्यता, संस्कार, धर्म और सार्वभौम राज्य आदि के मंत्र फूंके। उन्होंने सारे देश में घूम घूमकर तत्कालीन समझदार लोगों के हृदयों में प्राचीन आर्यों का जाज्वल्यमान यश, प्रकाशित कर दिया। उन्होंने वेदों की उच्च शिक्षा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया और आर्य जाति को सचेत किया कि वे अपनी डूबती हुई आर्य नौका को संभालें।'

स्वामी दयानन्द की प्रतिभा और योग्यता ने युरोप के विद्वानों को चकित कर दिया। कांग्रेस के जन्मदाता श्री ह्यूम ने स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा - 'स्वामी दयानन्द इतना महान व्यक्ति है कि मैं उसके पैर के जूतों के तसमे खोलने की भी योग्यता नहीं रखता।'

अमेरिका में जब स्वामी दयानन्द के आविर्भाव, धर्म प्रचार और भारत की एकता पर लेख निकले तब वहां के पादरियों में बड़ी निराशा फैली। एंड्रो जैक्सन डेविड ने अमरीका के एक पत्र में इस सम्बंध में जो लेख लिखा उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'मुझे एक आग दिखलाई पड़ती है, जो सर्वत्र फैली हुई है। वह आग सनातन आर्य धर्म को स्वाभाविक पवित्र दशा में लाने के लिए आर्य समाज रूपी भट्टी में से निकली है और भारत के एक परम योगी दयानन्द सरस्वती के हृदय में प्रकाशित हुई है।

'हिन्दू और मुसलमान इस प्रचण्ड अग्नि को बुझाने के लिए दौड़े, ईसाइयों ने भी इसके बुझाने के लिए हिन्दू और मुसलमानों का साथ दिया परन्तु यह ईश्वरी आग और भी भड़क उठी और सर्वत्र फैल गई।'*

अमरीका से कर्नल अलकाट और रूसी मेडम ब्लेवेट्स्की भारत आये। ये दोनों वैज्ञानिक ढंग से ईसाई धर्म की सिद्धि किया करते थे। ये दोनों व्यक्ति भारत आये और इन्होंने आर्य समाज में प्रविष्ट होकर धर्म प्रचार करने का विचार प्रगट किया। इन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती से भेंट की और आर्य समाज का काम करने की इच्छा प्रगट की। परन्तु स्वामी दयानन्द ने इनके विचारों को वैदिक धर्म के अनुकूल नहीं पाया। परिणाम यह हुआ कि इन दोनों व्यक्तियों का आर्य

---

*वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ५३६

समाज के साथ सम्बंध स्थापित न हो पाया। निराश होकर इन्होंने भारत में ईसाई धर्म प्रचार के लिए थिओसोफिकल सोसाइटी की रचना की। इन्होंने अनेक धर्मों को मिलाकर ईसाई धर्म का प्रचार किया। भारत में सन् १८८८ ई० तक थिओसोफिकल सोसाइटी के १०० केन्द्र स्थापित हो चुके थे।

इधर आर्य समाजों की संख्या भी बढ़ती जा रही थी। पंजाब में आर्य समाजों ने विशेष रूप से वैदिक धर्म प्रचार के कार्य में सफलता प्राप्त की।

ऋषि दयानन्द ने राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत किया और अपने देश के प्रति प्रेम रखने पर जोर दिया। उन्होंने भारतीयों को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की प्रेरणा भी की।

आर्य समाज के काम अंग्रेजी शासकों की दृष्टि में बड़े खटकते रहे। ब्रिटिश अधिकारी आर्य समाज को राजद्रोह का केन्द्र समझते थे। पंजाब में आर्य समाज के आन्दोलन ने अंग्रेजों को भयभीत कर दिया था। वहां के लेफ्टिनेंट गवर्नर से जब आर्य समाज के शिष्टमंडल ने भेंट की और उनको बताया कि पंजाब के उपद्रवों में आर्य समाज का हाथ नहीं है तो उसने उत्तर दिया था—'जहां आर्य समाज है वह उपद्रव का केन्द्र है।'

इस प्रकार के विचार समय समय पर अन्य अंग्रेज शासकों ने भी व्यक्त किए हैं। वास्तविक बात यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ऋषि दयानन्द ने प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया और हिन्दू समाज का मार्ग दर्शन किया।

ईसाई धर्म कैसे फैला—

भारत में ईसाई धर्म फैलाने के लिये युरोप के पादरियों ने एक विशेष योजना बनाई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जब भारत पर अधिकार हो गया, तब उन्होंने भारत में युरोपियन पादरियों को भेजने और धर्म प्रचार करने की स्वीकृति मांगी परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने स्वीकृति न दी। उस समय कम्पनी की नीति यह थी कि वह भारतवासियों की सहानुभूति प्राप्त करके अपने राज्य को स्थिर करे। कम्पनी के अधिकारी भारत के धार्मिक समारोहों में भाग लेते थे। उनका ऐसा करना कट्टर ईसाई पादरियों की दृष्टि में अधार्मिक कृत्य था। उन्होंने कम्पनी के विरुद्ध आन्दोलन किया। अन्त में उन्हें सफलता मिली और १८१३ ई० में कम्पनी के चार्टर के अनुसार ईसाइयों को भारत में प्रचार करने की अनुमति प्राप्त हो गई।

ईसाई पादरियों ने हिन्दू धर्म की फैली बुराइयों को भारतवासियों के सम्मुख इस ढंग से रखा कि उन्हें हिन्दू धर्म से घृणा हो जाय। उन्होंने इस्लाम धर्म का भी कुछ विरोध किया परन्तु मुख्य रूप से उन्होंने हिन्दू देवी देवताओं और हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों का उपहास उड़ाया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन बदल जाने पर अंग्रेजी शासकों और युरोपीय देशों के ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारत में ईसाई धर्म का विस्तार करने के लिए अनेक साधन अपनाए। अंग्रेजी शासकों ने राजनीतिक दवाव डालकर और नौकरियों का प्रलोभन देकर भारत में ईसाई धर्म को बड़ी चतुराई से फैलाया।

ईसाइयों ने ईसाई धर्म फैलाने के लिए भारतीयों पर अनेक अत्याचार किये। पुर्तगाल ने जब गोवा पर अधिकार कर लिया, तब वहां के पादरी शान्ति का सन्देश लेकर गोवा आये। उन्होंने सबसे बड़ी चालाकी यह चली कि बिना माता पिता की संतानों को अपने अधिकार में ले लिया। इनमें लड़के और लड़कियां दोनों थे। उन्हें जालिमाना तरीके पर ईसाई बनाया गया। जो व्यक्ति उनके अभिभावक बनकर फरियाद करते थे, उनपर बड़ा जुल्म होता था। इन लोगों ने भारतीय शिल्पकारों और व्यवसाइयों पर भी अनेक अत्याचार किये।

भारत में आने वाले ईसाई पादरियों ने समय के अनुसार कुटिल नीति से भी काम लिया। उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार ब्राह्मण और साधु बनकर भी किया।

ईसाई पादरियों ने भारत के धार्मिक ग्रंथों में भी मिलावट कराई। इस सम्बंध में पंडित रघुनन्दन शर्मा लिखते हैं—

> 'सन् १७६१ में रावर्ट डी० नोयली पादरी ने एक द्रविड़ पंडित को रुपया देकर पुराण और बाइविल मिश्रित एक पुस्तक संस्कृत में लिखवाई जिसका नाम यजुर्वेद रक्खा। उस समय यह वेद के नाम से लोगों को सुनाया जाने लगा। इसका फ्रेंच भाषा में अनुवाद भी हुआ और बड़ी धूमधाम से पेरिस के पुस्तकालय में रक्खा गया। सन् १७७८ में इसपर बड़े बड़े लेख निकले, पर बात खुल गई और अंत में मैक्समूलर ने कह दिया कि 'In plain English the whole book is childishly derived.' अर्थात् यह समग्र पुस्तक लड़कों का खेल है। यह पुस्तक भी अगर अल्लोपनिषद की तरह आज तक प्रचलित रहती तो वह भी हिन्दुओं में मान्य ग्रंथ हो जाती, किन्तु ईसाइयों का यह प्रपञ्च न चला और इस साहित्य ध्वंस के तरीके का अन्त हो गया।'*

ईसाइयों ने हिन्दुओं के भजनों के आधार पर अपने भजन तैयार कराके भी हिन्दुओं के घरों में घुसने और ईसाई धर्म की बातें बताने का यत्न किया।

विदेशी पादरियों ने भारत में शिक्षा संस्थायें, अस्पताल और अन्य सामाजिक सेवा केन्द्र खोलकर ईसाई धर्म का बड़ा प्रचार किया। अमरीका से इनको काफी धन प्राप्त होता था और आज भी वहां से करोड़ों रुपया भारत के ईसाई मिशनों के संचालन के लिए आता है।

---

*वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ५३७

ईसाइयों ने भारत की गरीब जनता की आर्थिक कठिनाइयों से लाभ उठाकर उन्हें ईसाई बनाने में काफी सफलता प्राप्त की। अस्पृश्य जातियों में हिन्दू धर्म के विरुद्ध उत्तेजना उत्पन्न करके ईसाई पादरियों ने उन्हें ईसाई बनाने का विशेष प्रयत्न किया। भारत में गिरजाघरों के साथ २ अधिकांश स्थानों पर शिक्षा संस्थाएं खोली गईं। छात्रावासों का प्रबंध किया गया। लड़कियों के छात्रावासों को पादरियों ने विशेष प्रोत्साहन दिया। इनमें ऐसी लड़कियां भी रक्खी गईं जिनके पालन पोषण का कोई आधार न था। परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के नाम पर ईसाइयों ने हजारों हिन्दू लड़कियों को ईसाई बनाया और उनसे जो संतानें उत्पन्न हुईं उन्होंने ईसाई धर्म को और अधिक विस्तार दिया।

ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारत के सभी भागों में अपने मिशन स्थापित किये। वे हिमालय की ऊंची ऊंची चोटियों तक गए और वहां उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार किया। हिमालय के अनेक स्थान ऐसे हैं, जहां ईसाई मिशन अब भी चल रहे हैं। कितने ही विदेशी ऐसे भी थे जिन्होंने भारत में ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर दिया। उनमें से कुछ ने भारतीय स्त्रियों से विवाह भी किये। इनका परिणाम यह हुआ कि इनके द्वारा ईसाई धर्म को बड़ा बल मिला और ये लोग हिमालय में बसे क्षेत्रों में भी ईसाई धर्म फैलाने में सफल हुये।

इन्होंने हिमालय में अवस्थित अनेक स्थानों में बड़े बड़े गिरजाघर निर्माण कराये और उनके साथ मिशन के कार्यालय स्थापित किये। इन केन्द्रों पर बाइबिल वितरण की भी व्यवस्था की गई।

उत्तर प्रदेश में अंग्रेजों ने हिमालय में अवस्थित मसूरी को अपने मनोरंजन का केन्द्र चुना। १८२२ ई० में मि० एफ. जे. शोर ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट और देहरादून गैरीजन के कमाण्डर कैप्टिन यङ्ग ने शिकार के लिए मसूरी में एक मकान बनवाया जो 'शूटिंग बाक्स' कहलाता था। इनके यहां आने के कुछ वर्ष पश्चात् ही ईसाइयों ने यहां आना जाना प्रारम्भ कर दिया। १८३६ ईस्वी में कैप्टिन रेनी टेलर ने प्रथम गिरजाघर बनवाया जो 'क्राइस्ट चर्च' नाम से विख्यात हुआ। पादरी हेनरी स्मिथ इसके सर्व प्रथम पादरी नियुक्त हुये। उन्होंने समीपवर्ती गरीबों को ईसाई बनाने में काफी सफलता पाई। १८४० में मसूरी में एक दूसरा गिरजाघर बना जो 'सेंट्रल चर्च' नाम से विख्यात हुआ।

इस स्थान को अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन और ग्रीष्म ऋतु के विहार का केन्द्र तो बनाया ही, इसी के साथ साथ उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग शास-कीय कामों के लिये भी किया। उन्होंने १८४२ में प्रथम अफगान युद्ध की समाप्ति पर अफगान शासक दोस्त मोहम्मद को बंदी बनाकर मसूरी में रक्खा था। १८५३ में अंग्रेजी शासकों ने कुंवर दलीपसिंह को बंदी बनाकर यहां रक्खा।

विदेशी पादरियों ने मसूरी में अनेक शिक्षा संस्थायें भी प्रारम्भ कीं। १८४५ में मि० वैवर ने 'स्कूल आफ जीसस एण्ड मेरी' स्कूल की स्थापना की। इसके पश्चात १८५३ में सेंट जार्ज कालिज, १८५४ में वुड स्टाक स्कूल, १८६६ में सेंट फाइडिल्स स्कूल, १८७८ में हैम्पटन कोर्ट स्कूल, १८८६ में ब्रिज वर्ग होम तथा १८६० ई० में विन्सेंट स्कूल खुले। इन सब शिक्षा संस्थाओं का प्रवन्ध ईसाई पादरियों द्वारा होता था। इस तरह मसूरी को ईसाइयों ने अपनी धार्मिक गतिविधियों का एक बड़ा केन्द्र वना डाला।

इसी प्रकार हिमालय में वसे शिमला में ईसाइयों ने कई 'चर्च' वनवाए और कई शिक्षा संस्थायें खोलकर समीपवर्ती स्थानों के रहने वालों को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित किया।

इन दोनों स्थानों में ईसाइयों ने लड़कियों के छात्रावास भी वनवाए जिनमें जहां तहां से हिन्दू वालिकाओं को लाकर रक्खा गया और वाद में उन्हें ईसाई वना लिया।

इसी प्रकार मुस्लिम शासकों ने भी हिमालय को अछूता न छोड़ा। वे भी हिमालय के ऊंचे ऊंचे शिखरों पर पहुंचे और उन्होंने वहां के मंदिरों और मूर्तियों को खण्डित किया और वहां इस्लाम का झंडा फहराया। इन्होंने ईसाइयों के गिरजों के समान हिमालय में अनेक स्थानों पर मस्जिदें भी वनवाईं और उनमें मौलवी रखकर इस्लाम धर्म को फैलाने का यत्न किया।

मुझे हिमालय के ऐसे अनेक स्थानों में जाने का अवसर मिला है जहां मुसलमानों ने मस्जिदें और ईसाइयों ने गिरजे तैयार कराये। इनको देखने से यही पता चलता है कि मुसलमानों और ईसाइयों ने जहां तक उनकी पहुंच हो सकती थी, वहां तक अपना धर्म फैलाने का यत्न किया।

हिमालय की पुण्य भूमि

जहां देवताओं ने वास किया

जहां ऋषि, मुनियों ने तपस्या की

जहां योगियों ने योग साधना की

और

जहां धर्माचार्यों ने शास्त्रों का अध्ययन किया

हिमालय में देवताओं का वास—

हिमालय को देवताओं की स्थली माना गया है और इसी को ऋषियों की तपोभूमि कहा गया है। पुराणों में हिमालय में देवताओं के वास की अनेक कथायें अंकित हैं। पुराणों के आधार पर सबसे प्रथम हम शिव का वर्णन कर रहे हैं। शिव का वास कैलाश पर्वत पर माना गया है। कैलाश हिमालय का सर्वश्रेष्ठ शिखर है। उसी पर शिव निवास करते हैं।

पुराणों के अनुसार शिव, विष्णु, शक्ति, राम, कृष्ण, गणेश ये सब ब्रह्म के रूप हैं। वह एक ही अनादि काल से इन विविध रूपों में अभिव्यक्त है। ये सभी स्वरूप नित्य शाश्वत आनन्दमय ब्रह्म रूप हैं।

शिव पुराण की वायवीय संहिता के पूर्व खण्ड में भगवान वायुदेव ने महेश्वर श्री शिव का स्वरूप वर्णन करते हुये कहा है—

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य विश्वभुवनं गोप्तान्ते संचुकोच यः॥

विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः।
तथैव विश्वतोबाहुर्विश्वतः पादसंयुतः॥

द्यावाभूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा॥

हिरण्यगर्भं देवानां प्रथमं जनयेदयम्।
विश्वस्मादधिको रुद्रो महर्षिरिति हि श्रुतिः॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तममृतं ध्रुवम्।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् संस्थितं प्रभुम॥

अस्मान्नास्ति परं किंचिदपरं परमात्मनः।
नाणीयोऽस्ति न च ज्यायस्तेन पूर्णमिदं जगत्॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी च भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

सर्वतः पाणिपादोऽयं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः।
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः।
सर्वस्य प्रभुरीशानः सर्वस्य शरणं सुहृत्॥

अचक्षुरपि यः पश्येदकर्णोऽपि शृणोति यः ।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहुः पुरुषं परम् ॥
अणोरणीयान् महतो महीयानयमव्ययः ।
गुहायां निहितश्चापि जन्तोरस्य महेश्वरः ॥
तमक्रतुं क्रतुप्रायं महिमातिशयान्वितम् ।
धातुः प्रसादादीशानं वीतशोकः प्रपश्यति ॥
वेदाहमेनमजरं पुराणं सर्वगं विभुम् ।
निरोधं जन्मनो यस्य वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥

(शि० पु० वा० सं० पू० ख० ६ । १४—२६

'सृष्टि के आरम्भ में एक ही रुद्रदेव विद्यमान रहते हैं, दूसरा कोई नहीं होता। वे ही इस जगत् की सृष्टि करके इसकी रक्षा करते हैं और अन्त में सबका संहार कर डालते हैं। उनके सब ओर नेत्र हैं, सब ओर मुख हैं, सब ओर भुजायें हैं और सब ओर चरण हैं। स्वर्ग और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाले वे ही एक महेश्वर देव हैं। वे सब देवताओं को उत्पन्न तथा पालन करते हैं। वे ही सब देवताओं में सबसे पहले ब्रह्मा जी को उत्पन्न करते हैं। वे ही सबसे अधिक श्रेष्ठ रुद्रदेव महान् ऋषि हैं। मैं इन महान् अमृत स्वरूप अविनाशी पुरुष परमेश्वर को जानता हूं। इनकी अङ्गकान्ति सूर्य के समान है। ये प्रभु अज्ञानान्धकार से परे विराजमान हैं। इन परमात्मा से परे दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इनसे अत्यन्त सूक्ष्म और इनसे अधिक महान् भी कुछ नहीं है। इनसे यह समस्त जगत् परिपूर्ण है। ये भगवान् सब ओर मुख, सिर और कण्ठवाले हैं। सब प्राणियों के हृदय रूप गुफा में निवास करते हैं, सर्वव्यापी हैं; अतएव ये भगवान् शिव सर्वगत हैं। इनके सब ओर हाथ, पैर नेत्र, मस्तक, मुख और कान हैं। ये लोक में सबको व्याप्त करके स्थित हैं। ये सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाले हैं, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित हैं। ये सबके स्वामी, शासक, शरणदाता और सुहृद् हैं। ये नेत्रके विना भी देखते हैं और कान के विना भी सुनते हैं। ये सबको जानते हैं, किंतु इनको पूर्ण रूप से जानने वाला कोई नहीं है। इन्हें परम पुरुष कहते हैं। ये अणु से भी अत्यन्त अणु और महान् से भी परम महान् हैं। ये अविनाशी महेश्वर इस जीवकी हृदय-गुफा में निवास करते हैं। जो मनुष्य सबकी रचना करने वाले परमेश्वर की कृपा से इन यज्ञ स्वरूप संकल्प रहित अत्यन्त महिमा से युक्त परमेश्वर को देख लेता है, वह सब प्रकार के शोक से रहित हो जाता है। ब्रह्मवादी पुरुष जिनके जन्मका अभाव बतलाते हैं, उन सर्वव्यापी, सर्वत्र विद्यमान, जरा-मृत्यु आदि से रहित, पुराणपुरुष परमेश्वर को मैं जानता हूं।*

---

* कल्याण का शिव पुराणाङ्क पृष्ठ ३, ४

पुराणों के अनुसार-- 'शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और गणेश एक ही परमात्मा के पांच सगुण रूप हैं। महा प्रलय के समय वे एक मात्र ब्रह्म ही रह जाते हैं। फिर कल्प के प्रारम्भ में उन्हीं एक ब्रह्म की शक्ति के द्वारा उनके किसी रूप से शक्ति का तथा ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र त्रिदेवों का प्राकट्य होता है। यह कभी शिव रूप से होता है, कभी विष्णु, शक्ति या अन्य किसी रूप से। वैसे तत्वतः या वस्तुतः इनमें कोई भी भेद नहीं है।'*

शिव पुराण में परात्पर भगवान शिव के परात्पर निर्गुण स्वरूप को 'सदा शिव', सगुण स्वरूप को 'महेश्वर' विश्व का सृजन करने वाले स्वरूप को 'ब्रह्मा', पालन करने वाले स्वरूप को 'विष्णु' और संहार करने वाले स्वरूप को 'रुद्र' कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में दक्ष से स्वयं भगवान विष्णु कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृग विशेषणः॥

'जगत का परम कारण मैं ही ब्रह्म और शिव हूं। मैं ही सब का आत्मा, ईश्वर, उपद्रष्टा, स्वयम् प्रकाश और भेद रहित हूं।'†

शिवपुराणाङ्क में शिव के सम्बन्ध मे बड़े विस्तार से उनके स्वरूप का वर्णन किया गया है।

शिव पुराण में शिव और पार्वती के विवाह की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। पार्वती के पिता का नाम हिमवान और माता का नाम मेना था। हिमवान को हिमालय भी कहा गया है। शिव का कैलाश पर वास बताया गया है।

हिमवान की पुत्री पार्वती ने शिव को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या की। शिव की स्वीकृति मिलने पर विवाह का प्रबन्ध किया गया। निश्चित समय पर शिव बारात लेकर हिमालय के गृह पर आए। इसके पश्चात् उन्होंने पार्वती का विवाह शिव के साथ किया। शिव पुराण के अध्याय ४८ में शिव पार्वती के विवाह का जो वर्णन किया गया है उसमें एक स्थान पर आया है—"शैलराज हिमालय ने अत्यन्त प्रसन्न हो शिव के लिए कन्या दान की यथोचित साङ्गता प्रदान की। तत्पश्चात् उनके बन्धुओं ने भक्ति पूर्वक शिवा (पार्वती) का पूजन करके नाना-विधि विधान से भगवान शिव को उत्तम द्रव्य समर्पित किया। हिमालय ने दहेज में अनेक प्रकार के द्रव्य, रत्नपात्र, एक लाख सुसज्जित गौएं, एक लाख सजे सजाए घोड़े, करोड़ हाथी और उतने ही सुवर्णजटित रथ आदि वस्तुएं दी। इस प्रकार परमात्मा

* कल्याण का शिवपुराणाङ्क पृष्ठ ७
† कल्याण का शिवपुराणाङ्क पृष्ठ ९, १०

शिव को विधिपूर्वक अपनी पुत्री कल्याणमयी पार्वती का दान करके हिमालय कृतार्थ हो गये।"*

विवाह के प्रसग में आगे बताया गया है कि "शिव ने आचार्य को गोदान किया। मङ्गलदायक जो बड़े-बड़े दान बताये गये हैं, वे भी सहर्ष सम्पन्न किये। तत्पश्चात् उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों को पृथक-पृथक सौ-सौ सुवर्ण मुद्राएं दीं। करोड़ों रत्नदान किये और अनेक प्रकार के द्रव्य बांटे।"

शिव पार्वती के इस वर्णन से यह बात स्पष्ट है कि हिमालय जड़वत् नहीं किन्तु मानव प्राणी था। उसने अपनी पुत्री पार्वती का विवाह बड़ी धूमधाम से किया था। विवाह में सभी देवता उपस्थित हुए थे। वेदपाठी ब्राह्मणों ने भी विवाह में भाग लिया था। शिव पुराण में ब्रह्मा जी नारद से कहते हैं "नारद तदन्तर मेरी आज्ञा पाकर महेश्वर ने ब्राह्मणों द्वारा अग्नि की स्थापना करवायी और पार्वती को अपने आगे बिठाकर वहां ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के मंत्रों द्वारा अग्नि में आहुतियां दीं। तात! उस समय काली (पार्वती) के भाई मैनाक ने लावा की अञ्जलि दी और काली तथा शिव दोनों ने आहुति देकर लोकाचार का आश्रय ले प्रसन्नतापूर्वक अग्नि देव की परिक्रमा की।"‡

शिव पार्वती के विवाह के वर्णन में शिव के एक दूसरे रूप का वर्णन भी मिलता है जिसमें वे जटाजूट धारी मृगछाला ओढ़े और नादिये पर सवार दिखाए गए हैं। उनके इस स्वरूप को देखकर पार्वती की माता जी भयभीत हो गईं थीं। शिव पुराण के अनुसार शिव के गण भूतप्रेत के रूप में भी आए थे। मेना उन्हें देखकर व्याकुल और चकित हो गईं थीं और उनकी बुद्धि चकरा गई थी। वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ीं थीं। इसके पश्चात् वशिष्ठ आदि महर्षियों ने मेना को समझाकर सचेत किया। श्री विष्णु ने भी उनको समझाया। अन्त में मेना ने कहा 'यदि भगवान शिव सुन्दर शरीर धारण करलें, तब मैं उन्हें अपनी पुत्री दे सकती हूं; अन्यथा कोटि उपाय करने पर भी नहीं दूंगी। यह बात मैं सच्चाई और दृढ़ता के साथ कह रही हूं।"†

इसके पश्चात् भगवान् विष्णु ने नारद को प्रेरणा की कि वह शंकर के पास जाकर उन्हें सौम्य रूप धारण करने के लिए सहमत करें। नारद से प्रेरित होकर शिव ने परमानन्ददायक रूप में दर्शन दिए। मेना प्रसन्न हो गई और उसने पार्वती का विवाह बड़ी धूमधाम से 'शिव' के साथ किया।

---

* और ‡ शिव पुराणाङ्क पृष्ठ २२६

† शिव पुराणाङ्क पृष्ठ २२३

शिव के इस रूप का वर्णन अन्य स्थानों पर भी आता है। रामलीला के अवसर पर जब शिव की बारात निकलती है तब रामलीला के प्रबन्धक शिव और उनके बारातियों को नग्न और राख लगाए, भूतप्रेत आदि के रूप में दिखाते हैं।

वैदिक ग्रंथों में शिव परमात्मा के नाम में प्रयुक्त हुआ है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने परमेश्वर के अनेक नामों का वर्णन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शिव आदि नामों को परमेश्वर का ही वाचक माना है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में उन्होंने परमेश्वर के अनेक नामों का वर्णन करते हुए धर्म शास्त्रों के अनेक प्रमाण भी दिये हैं। यहां हम उनमें से कुछ उद्धृत कर रहे हैं—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥
मनु० अ० १२। श्लोक १२३

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः॥
—कैवल्य उपनिषत्

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः
ऋ० मं० १। अनु० २२। सू० १६४। मन्त्र ४६

इनका अर्थ करते हुए स्वामी जी लिखते हैं—

"स्वप्रकाश होने से "अग्नि" विज्ञान स्वरूप होने से "मनु" सबका पालन करने और परमैश्वर्य्यवान् होने से "इन्द्र" सबका जीवन मूल होने से "प्राण" और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम "ब्रह्म" है।

"सब जगत् के बनाने से "ब्रह्मा" सर्वत्र व्यापक होने से "विष्णु" दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से "रुद्र" मङ्गलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने से "शिव' 'यःसर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्' 'यः स्वयं राजते स स्वराट्' 'योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्त्ता स कालाग्निरीश्वरः' (अक्षर) जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी (स्वराट्) स्वयं प्रकाश स्वरूप और (कालाग्नि०) प्रलय में सबका काल और काल का भी काल है इसलिए परमेश्वर का नाम कालाग्नि है।

"(इन्द्रं मित्रं) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं।....जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त (सुपर्णः) जिसके उत्तम और पूर्ण कर्म हैं (गरुत्मान्) जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है। (मातरिश्वा) जो वायु के समान

अनन्त बलवान है इसीलिये परमात्मा के दिव्य, सुपर्ण गरुत्मान् और मातरिश्वा ये नाम हैं।"*

ऋषि दयानन्द ने परमात्मा के अनेक नामों की व्याख्या करते हुए 'गणेश' व 'गणपति' शब्दों को भी ईश्वर का बोधक माना है। देव शब्द के समान वे 'देवी' शब्द को ईश्वरपरक मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है—

"जितने देव शब्द के अर्थ लिखे हैं उतने ही "देवी" शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं, जैसे —"ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति" जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव' जब चिति का होगा तब "देवी" इससे ईश्वर का नाम "देवी" है। (शक्लृ शक्तौ) इस धातु से "शक्ति" शब्द बनता है "यः सर्वं जगत् कर्त्तुं शक्नोति स शक्तिः" जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "शक्ति" है। (श्रिञ् सेवायाम्) इस धातु से "श्री" शब्द सिद्ध होता है "यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः" जिसका सेवन सब जगत् विद्वान् और योगीजन करते हैं इससे उस परमात्मा का नाम 'श्री" है। (लक्ष दर्शनाङ्कनयोः) इस धातु से "लक्ष्मी" शब्द सिद्ध होता है "यो लक्षयति पश्यत्यङ्कते चिह्नयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः" जो सब चराचर जगत् को देखता चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता जैसे शरीर के नेत्र, नासिका और वृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल, पृथिवी, जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र, सूर्य्यादि चिह्न बनाता तथा सब को देखता सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादि शास्त्र वा धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम "लक्ष्मी" है। (सृ गतौ) इस धातु से "सरस्" उससे मतुप् और ङीप् प्रत्यय होने से "सरस्वती" शब्द सिद्ध होता है "सरोविविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती" जिसको विविध विज्ञान अर्थात् शब्द अर्थ सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे इससे उस परमेश्वर का नाम "सरस्वती" है। "सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः" जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरे करता है इसलिये उस परमात्मा का नाम "सर्वशक्तिमान्" है। (णीञ् प्रापणे) इस धातु से "न्याय" शब्द सिद्ध होता है "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" यह वचन न्याय-सूत्रों पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य का है "पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः" जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य २ सिद्ध हो तथा पक्षपात रहित धर्मरूप आचरण है वह न्याय कहाता है "न्यायं कर्त्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः"

---

*सत्यार्थ प्रकाश बारहवां संस्करण पृष्ठ ५

जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है इससे उस ईश्वर का नाम "न्यायकारी" है।*

नर नारायण—

पुराणों के अनुसार नर और नारायण ने हिमालय पर्वत पर तपस्या की। देवी पुराण के चौथे स्कन्ध में इस सम्बन्ध में निम्न कथा का वर्णन मिलता है—

"धर्म ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते हैं। ब्रह्मा के हृदय से उनकी उत्पत्ति हुई थी। सत्य धर्म का पालन करने वाले धर्म ब्राह्मण रूप से विराजमान थे। उनके द्वारा वैदिक धर्म का निरन्तर पालन होता रहा। उन महात्मा धर्म ने दक्ष प्रजापति की दस कन्याओं से अपना विवाह किया। विवाह संस्कार के समय जितने नियम ग्रहण किये जाते हैं, उन सबका पालन करते हुए उनका गार्हस्थ-जीवन व्यतीत होने लगा। फिर सत्य व्रतियों में श्रेष्ठ धर्म ने उन कन्याओं से बहुत से पुत्र उत्पन्न किये। उन पुत्रों के नाम हरि, कृष्ण, नर और नारायण रखे गये। हरि और कृष्ण के द्वारा निरन्तर योगाभ्यास चालू रहा। नर और नारायण हिमालय पर्वत पर गये और बदरिकाश्रम नामक पर्वत स्थान में उन्होंने उत्तम तपस्या आरम्भ कर दी। वे प्राचीन मुनिवर नर नारायण तपस्वियों में सब से प्रधान गिने जाने लगे।" ‡

पुराणों में नर नारायण की तपस्या की कथा बड़े विस्तार से दी गई है। उनकी तपस्या भंग करने के लिये अप्सराओं के भेजे जाने का भी देवी-भागवत में वर्णन आता है।

नर नारायण की माता का नाम मूर्ति आया है। उनकी स्मृति में बदरिकाश्रम से आगे माना गांव के समीप अलकनन्दा के तट के पास माता मूर्ति का एक बड़ा मेला लगता है। नर नारायण की तपस्या के सम्बन्ध में बदरीनाथ के पंडे तो यहां तक कह देते हैं कि वे अब भी तपस्या कर रहे हैं बदरिकाश्रम के समीप एक पर्वत का नाम नर और दूसरे पर्वत का नाम नारायण रक्खा हुआ है।

यहां इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि दक्ष प्रजापति की दस कन्याओं से धर्म के विवाह की कथा का क्या अभिप्राय है, इसे समझने की आवश्यकता है, वैदिक धर्मी इस कथा को सत्य नहीं मानते। कई युगों से नर नारायण का तपस्या करते रहना भी सम्भव नहीं।

बदरिकाश्रम के अनेक नामों में विशालापुरी भी एक नाम आता है। इसके सम्बन्ध में वाराह पुराण के ४९ वें अध्याय में एक कथा आती है। इसके अनुसार

---

* सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १७ व १८

‡ कल्याण का देवी भागवतांक पृष्ठ १२४

काशी के राजा विशाल शत्रुओं से पराजित होकर श्री बदरिकाश्रम गये। वहां उन्होंने तप किया। उन्होंने नर नारायण का भी साक्षात्कार किया। उनके नाम पर श्री बदरीनाथपुरी का नाम विशालापुरी पड़ा।

पुराणों में सूर्य पुत्र वैवस्वतमनु के श्री बदरिकाश्रम में कई हजार वर्ष तक उग्र तप करने का भी वर्णन आया है। इस वर्णन के अनुसार मनु ने मत्स्य रूपधारी प्रजापति के दर्शन किये। उनके साथ सप्तऋषि भी थे। इस प्रकार की कथाओं पर कोई विश्वास नहीं करेगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार की कथायें जो अलंकार रूप में वर्णन की गई हैं, विद्वान लोग उनके वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करें।

हिमालय और उसकी उन्नत शृंखलाओं के साथ पुराणों ने प्रायः सभी देवी देवताओं का सम्बन्ध स्थापित किया है। भगवान शिव के विवाह वर्णन में ऐसे सभी देवी देवताओं के नामों का उल्लेख मिलता है। इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहां आवश्यक प्रतीत नहीं होता। शिव पुराण में वर्णित देवताओं के अनेक नामों का जो वर्णन यहां किया गया है, उतना ही पर्याप्त समझकर हम उन ऋषियों मुनियों एवं राज पुरुषों का वर्णन करना चाहते हैं जिनका सम्बन्ध हिमालय से रहा।

पुराणों का अध्ययन करने से यह बात भी प्रगट होती है कि प्रत्येक पुराण में भगवान का रूप अलग अलग ढंग से प्रगट किया गया है। अलंकार रूप में लिखी गई इन पौराणिक कथाओं का क्या महत्व है विद्वानों को इसका सही सही विश्लेषण करना ही चाहिए जिससे प्रत्येक कथा का सत्य रूप सामने आ जाय।

इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में जो विभिन्न कथायें वर्णित की गई हैं, उनमें एकरूपता लाने की आवश्यकता है।

पुराणों और प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में देवी देवताओं से सम्बन्धित सैंकड़ों आख्यायिकाएं ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध हिमालय पर्वतमाला में अवस्थित अनेक तीर्थ स्थानों से जुड़ा है। अगस्त, वशिष्ठ, कपिल, गौतम, कश्यप, परशुराम, पाराशर, व्यास और शुकदेव आदि ऋषियों तथा मुनियों का हिमालय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा।

देवी पुराण में राजा सुद्युम्न के हिमालय में जाकर तपस्या करने का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस प्रकार की अन्य अनेक राजाओं से सम्बन्धित कथायें भी पुराण में मिलती हैं।

हिमालय में ऐसे अनेक स्थान अभी तक प्रसिद्ध हैं जहां ऋषियों और मुनियों ने तपस्या की। वशिष्ठ के नाम पर वशिष्ठ गुफा और व्यास के नाम पर व्यास गुफा अभी तक विद्यमान हैं। परशुराम के हिमालय में तपस्या करने का भी पुराणों में

उल्लेख किया गया है। गंगोत्तरी मार्ग में उत्तरकाशी में उनके नाम पर परशुराम मंदिर है। इसी तरह गढ़वाल जिले में कण्व ऋषि के नाम पर कण्वाश्रम भी है।

हिमालय में तप के लिए भगवान राम और लक्ष्मण के जाने का वर्णन मिलता है। कहा जाता है कि रावण का वध करने के पश्चात् राम ने कुछ वर्षों तक अयोध्या में राज किया परन्तु अन्त में वे अपने भाई लक्ष्मण के साथ हिमालय चले गए।

ऋषिकेश से आगे लछमन झूला उनके हिमालय जाने का स्मरण करा देता है। इस स्थान से ही उन्होंने गंगा को पार किया था। अलकनन्दा और भागीरथी के संगम देवप्रयाग में भगवान राम की स्मृति में राम मंदिर का निर्माण हुआ। इससे आगे श्रीनगर में राम और लक्ष्मण के जाने की कथा भी प्रचलित है।

हिमालय के साथ अनेक असुरों का भी सम्बन्ध रहा। बाणासुर की कन्या ऊषा के साथ श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का प्रेम सम्बन्ध होने की घटना भी हिमालय की उपत्यका में ही घटी। ऊखीमठ के एक मंदिर में अनिरुद्ध और ऊषा की मूर्तियां अब तक विद्यमान है।

महाभारत काल में पाण्डवों का हिमालय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। महाराज पाण्डु बदरीनाथ मार्ग में जिस स्थान पर रहते थे, वह पाण्डुकेश्वर नाम से विख्यात हुआ। हिमालय में पाण्डवों के स्वर्गारोहण के लिए जाने का भी प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् भगवान बुद्ध के हिमालय में जाने का भी कहीं २ उल्लेख किया गया है।

बुद्ध के पश्चात् आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य का भी हिमालय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। जोशीमठ में उन्होंने तपस्या की थी और यहीं पर उनको 'दिव्य ज्योति' का आभास मिला था।

उन्नीसवीं शती के वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द ने भी हिमालय के अनेक स्थानों का भ्रमण किया था और इस बात का प्रयास किया था कि उन्हें कोई ऐसा गुरु मिले जो उन्हें वैदिक ज्ञान प्राप्त कराये।

उनके पश्चात् भी अनेक महात्माजन हिमालय में साधना करते रहे। स्वामी रामतीर्थ वर्षों हिमालय में रहे और अन्त में टिहरी के समीप भिलंगना तट पर उन्होंने जल-समाधि लेकर अपने जीवन का अन्त कर दिया। इस प्रकार के अन्य अनेक महात्मा आज भी हिमालय की उपत्यकाओं में तपस्या और साधना कर रहे हैं।

हम हिमालय के स्थानों के विवरण के साथ ऐसे ऋषियों, महात्माओं, सन्तों और संन्यासियों के नामों का वर्णन करेंगे। जहां तक सम्भव होगा, उनके कार्य और विचारों पर भी प्रकाश डाला जायेगा। यह सम्भव है कि हम सभी ऋषियों,

महात्माओं एवं राजा आदि का विवरण न दे सकें परन्तु फिर भी मुख्य २ नामों का उल्लेख करने का यत्न किया जाएगा।

भगीरथ की तपस्या –

हिमालय में राजाओं के तपस्या करने की अनेक कथायें प्रचलित हैं। उनमें से हम यहां राजा भगीरथ की तपस्या का मुख्य रूप से वर्णन करना आवश्यक समझते हैं। इस धरती पर भगीरथ ही गंगा को लाने में सफल हुए। उन्होंने घोर तपस्या करके गंगा की खोज की थी और वे उसे मैदानी भागों में लाये थे।

इस धरती पर गंगा कैसे आई, इस सम्वन्ध में अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं। पुराणों में गङ्गावतरण का वड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।

भगीरथ राजा सगर के वंशज थे। राजा सगर और उनके पुत्रों ने गंगा लाने का वड़ा प्रयास किया परन्तु वे अपने ध्येय में सफल न हो सके।

भगीरथ बड़ा ही प्रतापी राजा था। उसने संकल्प किया कि वह गंगा को इस धरती पर लायेगा। अयोध्या का राज्य अपने मंत्री को सौंपकर भगीरथ उत्तर की ओर चले।

हिमालय की घाटी में पहुंचने पर भगीरथ ने अपने प्रजाजन को अयोध्या लौटा दिया। इसके पश्चात् वहुत समय तक वे पर्वतों में तपस्या करते रहे। वहुत सा समय बीतने पर उनका सम्पर्क पर्वतों में रहने वालों के साथ हुआ। भगीरथ उनको साथ लेकर हिमालय के दुर्गम एवं उन्नत शिखरों पर पहुंच गये। उन्होंने हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियों में पहुंचकर गंगा की खोज की। अन्त में वे गोमुख का पता लगाने में सफल हो गये। वहीं से वे गंगा को इस धरती पर लाये।

भगीरथ केवल राजा ही नहीं थे किन्तु वे एक कुशल इंजीनियर भी थे। पंदरह वीस हजार फिट ऊंचाई से गंगा को मैदानों में लाना सरल काम न था। ऊंचाई से गिरने वाली धारा को सार संभाल करना वड़ा कठिन काम था। भगीरथ इसमें पूर्ण-तया सफल हुये। उन्होंने गंगा को इस प्रकार से नीचे उतारा कि उससे किसी प्रकार की क्षति न पहुंचे। कहा जाता है कि गंगा को शिव ने अपनी जटाओं में धारण किया इसका अभिप्राय यही है कि गंगा ऊपर से आकर हिमालय के ऐसे निचले भागों में प्रवाहित होने लगी जो कठोर चट्टानों वाले थे। वहां से धीरे २ गंगा मैदानों की ओर वढ़ी।

भगीरथ के गंगा लाने से करोड़ों मानवों को शान्ति प्राप्त हुई। सहस्त्रों वर्षों से करोड़ों व्यक्ति उसके पवित्र जल से लाभ उठा रहे हैं और भगीरथ का यशोगान गाते हैं।

पौराणिक कथा के अनुसार भगीरथ ने घोर तप किया। वह अपने पूर्वजों के उद्धार के लिए हिमालय में तपस्या के लिए गये। उन्होंने अपनी तपस्या के बल पर गंगा को प्रसन्न किया। उन्होंने शिव की आराधना की और उनको प्रसन्न करके वरदान प्राप्त किया। शिव ने गंगा को अपनी जटाओं में संभाला और पुनः गंगा आगे बढ़ीं।

पुराणों में जन्हु ऋषि की कथा भी आती है जबकि उन्होंने गंगा को आगे बढ़ने से रोक दिया था। भगीरथ के आराधना करने पर वहां से गंगा फिर आगे बढ़ीं। उनका नाम जान्हवी भी पड़ा। इस प्रकार की और भी कथायें गंगा के साथ जुड़ी हैं। परन्तु इन सब का मुख्य प्रयोजन यही है कि भगीरथ घोर तपस्या करके गंगा को गोमुख से मैदानी भागों में लाए और उन्होंने अपने देशवासियों का बड़ा भारी कल्याण किया।

परशुराम का शिवलोक जाना—

ब्रह्मवैवर्त पुराण में परशुराम के शिवलोक जाने का वर्णन किया गया है। शिवलोक में पहुंचकर वे शिवजी के समीप पहुंचे। उन्होंने शिवजी को अपना परिचय देते हुये कहा 'दयानिधान मैं भृगुवंशी जमदग्नि का पुत्र परशुराम हूं। आपका दास हूं। आपके शरणागत हूं। आप मेरी रक्षा करें।'

'इसके बाद सारी घटना विस्तार से सुनाकर परशुराम ने कहा कि मैंने पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय शून्य करने तथा मेरे पिता के वध करने वाले कार्तवीर्य के मारने की प्रतिज्ञा की है। आप मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करें।

'इस बात को सुनकर भगवती पार्वती और भद्रकाली ने क्रुद्ध होकर परशुराम की भर्त्सना की। शिव ने उनका क्रोध शान्त किया।

'भगवान शंकर ने परशुराम को परम दुर्लभ मंत्र और 'त्रैलोक्य विजय' नामक परम अद्भुत कवच प्रदान किया।'*

परशुराम "त्रैलोक्य विजय" कवच पाकर प्रसन्न मन शिव से आज्ञा लेकर अपने स्थान को लौट आए। इस कथा से हमें केवल इतना ही बताना है कि परशुराम भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिये हिमालय के उन्नत शिखरों तक गये थे। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने हिमालय में तपस्या भी की।

महाराज पाण्डु का हिमालय में वास—

महाराज पाण्डु के हिमालय में वास की अनेक कथायें मिलती हैं। पुराणों के अनुसार महाराज पाण्डु के पांचों पुत्र हिमालय में ही उत्पन्न हुये।

---

*कल्याण ब्रह्मवैवर्त पुराणाङ्क पृष्ठ २६३, २६४

पाण्डु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे अपनी दोनों पत्नियों— कुन्ती और माद्री सहित पाण्डुकेश्वर में रहते थे। यह स्थान वदरीनाथ मार्ग में जोशीमठ से लगभग आठ मील आगे है। यहां से वदरीनाथ पुरी साढ़े दस मील दूरी पर है।

महाराज पाण्डु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने स्वास्थ लाभ के लिए इस स्थान को अपना निवास स्थान बनाया था। यहीं पर उनकी मृत्यु हुई।

उनकी स्मृति में यहां 'पाण्डुकेश्वर' मंदिर भी बना है। यहां मुझे बताया गया कि यहां के एक पर्वत पर एक विशाल शिला से कुछ शब्द निकलता है। इस शिला को पाण्डु शिला कहते हैं।

हिमालय में जन्म पाकर पांचों पांडव अपनी माता कुन्ती के साथ हस्तिनापुर चले आये थे। पाण्डु के बड़े भाई धृतराष्ट्र के संरक्षण में वे बड़े हुये। बाद में उनका धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन से झगड़ा हुआ। झगड़े ने इतना उग्र रूप धारण किया कि उन्हें भगवान कृष्ण की सहायता से कौरवों के साथ युद्ध लड़ना पड़ा। युद्ध में पाण्डव विजयी हुये। कौरवों का सर्वनाश हो गया।

युद्ध की समाप्ति पर पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया। उसके उपरान्त पाण्डवों के हिमालय में जाने की कथा आती है। इस कथा के अनुसार पांचों पाण्डव द्रोपदी सहित हिमालय में प्रायश्चित करने के लिए गए। उनके हिमालय में जाने को 'पांडवों का स्वर्गारोहण' कहा जाता है।

पाण्डवों के वदरीनाथ से आगे की ओर जाने के सम्बन्ध में अनेक कथायें प्रचलित हैं। बदरीनाथ से आगे अलखनन्दा पार करने पर भारत का अन्तिम सीमा-वर्ती गांव माना है। इससे आगे सरस्वती नदी है जो अलखनन्दा में मिलकर संगम बनाती है।

सरस्वती नदी को पार करते समय हमें एक शिला पर होकर जाना पड़ा। यहां के एक व्यक्ति ने इस शिला की कथा का वर्णन करते हुये कहा कि जब द्रोपदी सरस्वती नदी को पार न कर पाईं तब भीम ने इस शिला को नदी पर इस प्रकार रखा कि जिससे द्रोपदी को नदी की धारा पार करने में कोई कठिनाई न पड़े।

यहां से पाण्डव द्रोपदी सहित हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियों की ओर चले गये। यही पाण्डवों का 'स्वर्गारोहण' कहलाता है।

महाभारत कालीन इस कथा में कितना सत्य है, इसका कोई प्रमाण नहीं। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि पुराणों के अनुसार पांचों पाण्डवों ने द्रोपदी सहित हिमालय की ओर प्रस्थान किया था।

महाभारत काल के पश्चात् हम इस युग के उन संन्यासियों और महात्माओं का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं जिनका हिमालय के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा।

शंकराचार्य-

वैदिक धर्म के अतीत गौरव की रक्षा करने के लिए भारत को स्वामी शंकराचार्य जैसे आचार्य की अत्यन्त आवश्यकता थी। बौद्ध धर्म के प्रचार के फलस्वरूप वैदिक कर्मकाण्ड प्रायः लुप्त हो चला था। वेदों के नाम पर जो अन्याय और अनर्थ हुये, उनसे वैदिक संस्कृति को भारी आघात पहुंचा। ऐसे संकट काल में शंकराचार्य ने जन्म लेकर वैदिक धर्म को पुनर्जीवित करने का यत्न किया।

स्वामी शंकराचार्य के जन्मकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वानों ने उनका जन्मकाल विक्रमपूर्व सप्तम शताब्दी से लेकर विक्रमोत्तर नवम शताब्दी तक माना है। शंकराचार्य द्वारा स्थापित 'कामकोटि पीठ' के अनुसार उनका जन्म कलि-वर्ष २५९३ में हुआ। शारदापीठ (द्वारका) की वंशानुमालिका के अनुसार उनका जन्म कलि वर्ष २६३१ में और निर्वाण २६६३ में हुआ। एक अन्य मत के अनुसार उनका जन्म ई० सन् ७८८ में हुआ और निधन ८२० ई० में हुआ।

आचार्य शंकर का जन्म दक्षिण के केरल प्रदेश के 'कालटी' ग्राम में हुआ। इनके वंशज नम्बूदरी ब्राह्मण थे जो धार्मिक विचारों में बड़े उच्च माने जाते थे। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम सती था। महर्षि आनन्द गिरि ने इनकी माता का नाम 'विशिष्टा' लिखा है।

इनके जन्म के सम्बन्ध में कहा जाता है कि भगवान शंकर की आराधना करके सर्व-गुण सम्पन्न पुत्र प्राप्त किया।

प्रतिभा सम्पन्न शंकर ने तीन वर्ष की आयु से ही विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। उनके पिता जी अपने पुत्र को पूर्ण विद्वान बना देना चाहते थे परन्तु उनकी यह इच्छा पूर्ण न हुई और वे इस लोक से चल बसे। इसके उपरान्त उनकी माता ने उनकी शिक्षा व्यवस्था की।

उनकी माता ने ज्योतिषियों को अपने पुत्र की जन्म कुण्डली दिखाई। उन्होंने उनको बताया कि उनके पुत्र की मृत्यु आठवें अथवा सोलहवें वर्ष में होने का योग है। माता उनकी भीष्म वाणी सुनकर व्याकुल हो गई। उन्होंने अपने पुत्र को प्रवृत्ति मार्ग में लाने का प्रयत्न किया परन्तु शंकर का मन संन्यास-धर्म की ओर जा रहा था। माता का कुछ वश न चला और उनके पुत्र शंकर ने आठवें वर्ष में ही संन्यास ग्रहण कर लिया। माता का हृदय द्रवी-भूत हो गया। पुत्र को संन्यासी देखकर वे रोने लगीं। परन्तु कर ही क्या सकती थी?

शंकर ने माता से विदा लेते समय यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारे अन्त समय में अवश्य तुम्हारे पास रहूंगा और अपने हाथों से तुम्हारा दाह संस्कार करूंगा। इससे उनकी माता को कुछ शान्ति प्राप्त हुई।

घर छोड़ कर शंकर नर्मदा तट पर स्थित ओंकारनाथ पहुंचे। वहां उन्होंने गौड़-पाद के शिष्य गोविन्दाचार्य से विद्या प्राप्त की। यहां वे तीन वर्ष तक रहे। उन्होंने अद्वैत तत्व को जानने का यत्न किया और उपनिषदों का विशेष अध्ययन किया।

यहां से शंकर काशी आये। यहां आकर उन्होंने अद्वैतवाद पर अपने विचार प्रगट किये। कहा जाता है कि यहां के विद्वानों ने उनके विचारों पर बड़ा आश्चर्य प्रगट किया क्योंकि इतनी थोड़ी आयु के संन्यासी द्वारा अद्वैत तत्व का विवेचन किया जाना, सचमुच आश्चर्यजनक वात थी।

काशी से शंकराचार्य हिमालय की ओर गये। बदरीनाथ मार्ग में स्थित जोशीमठ में उन्होंने एक गुफा में साधना आरम्भ की। कहा जाता है कि यहीं उनको दिव्य ज्योति के दर्शन प्राप्त हुये। गुफा के समीप शहतूत का एक वृक्ष है जिसे 'कीमू' भी कहते हैं। कहा जाता है कि इस वृक्ष को शंकराचार्य ने ही आरोपित किया था। इसके तने की मोटाई पचास फिट से अधिक है। इस वृक्ष की देहरादून के 'फारेस्ट कालेज' के एक अंग्रेज प्रोफेसर ने जांच की थी जो काष्ट-विद्या के विशेषज्ञ माने जाते थे। उन्होंने इस वृक्ष की आयु लगभग २ हजार वर्ष वताई थी।

जोशीमठ से शंकराचार्य श्री वदरिकाश्रम गये। पौराणिक कथा के अनुसार वहां उन्होंने भगवान की प्रेरणा पाकर भगवान वद्रीश की मूर्ति का उद्धार किया जिसे वौद्धों ने नारद कुण्ड में डाल दिया था। यहां उन्होंने इस मूर्ति को एक मंदिर में प्रस्थापित किया।

शंकराचार्य वदरीनाथ से हिमालय के अन्य अनेक स्थानों में भी गये। उनके नाम पर हिमालय में अनेक मंदिर भी बने हैं।

हिमालय की साधना और यात्रा के उपरान्त शंकराचार्य ने सारे भारत का भ्रमण किया और बौद्ध धर्म के स्थान में वैदिक धर्म को पुनः प्रस्थापित किया।

जोशीमठ के सम्वन्ध में यह वात उल्लेखनीय है कि यहां ज्योतिष्पीठ की स्थापना की गई। आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य के नाम पर जिन चार धर्मपीठों की स्थापना हुई उनमें ज्योतिष्पीठ प्रथम धर्मपीठ है। दक्षिण में शृंगेरीपीठ, पश्चिम में द्वारका के समीप शारदापीठ और पूर्व में जगन्नाथपुरी में गोवर्धनपीठ स्थापित की गईं। इन चारों पीठों के आचार्य, 'शंकराचार्य' के उत्तराधिकारी हैं और चारों 'जगद गुरु स्वामी शंकराचार्य कहलाते हैं।'

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शंकराचार्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—

"बाईस सौ वर्ष हुए एक शङ्कराचार्य द्रविड़देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य ने व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि अहह ! सत्य आस्तिक वेद मत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है इसको किसी प्रकार हटाना चाहिये शङ्कराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे परन्तु जैनमत के भी पुस्तक पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी उन्होंने विचारा कि इनको किस प्रकार हटावें निश्चय हुआ कि उपदेश और शास्त्रार्थ करने से ये लोग हटेंगे ऐसा विचार कर उज्जैन नगरी में आये वहां उस समय सुधन्वा राजा था जो जैनियों के ग्रंथ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था वहां जाकर वेद का उपदेश करने लगे और राजा से मिलकर कहा कि आप संस्कृत और जैनियों के भी ग्रन्थों को पढ़े हो और जैनमत को मानते हो इसलिये आपको मैं कहता हूं कि जैनियों के पण्डितों के साथ मेरा शास्त्रार्थ कराइये इस प्रतिज्ञा पर जो हारे सो जीतने वाले का मत स्वीकार करले और आप भी जीतने वाले का मत स्वीकार कीजियेगा। यद्यपि सुधन्वा राजा जैनमत में थे तथापि संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने से उनकी बुद्धि में कुछ विद्या का प्रकाश था इससे उनके मन में अत्यन्त पशुता नहीं छाई थी क्योंकि जो विद्वान् होता है वह सत्याऽसत्य की परीक्षा करके सत्य का ग्रहण और असत्य को छोड़ देता है। जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था तब तक सन्देह में थे कि इनमें कौनसा सत्य और असत्य है जब शङ्कराचार्य की यह बात सुनी और बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ कराके सत्याऽसत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे। जैनियों के पण्डितों को दूर २ से बुलाकर सभा कराई उसमें शङ्कराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था अर्थात् शङ्कराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन और जैनियों का खण्डन और जैनियों का पक्ष अपने मत का स्थापन और वेद का खण्डन था। शास्त्रार्थ कई दिनों तक हुआ जैनियों का मत यह था कि सृष्टि का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं यह जगत् और जीव अनादि हैं इन दोनों की उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होता इससे विरुद्ध शङ्कराचार्य का मत था कि अनादि सिद्ध परमात्मा ही जगत् का कर्त्ता है यह जगत् और जीव झूठा है क्योंकि उस परमेश्वर ने अपनी माया से जगत् बनाया वही धारण और प्रलय करता है और यह जीव और प्रपंच स्वप्नवत् है परमेश्वर आप ही सब जगद्रूप होकर लीला कर रहा है बहुत दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा परन्तु अन्त में युक्ति और प्रमाण से जैनियों का मत खण्डित और शङ्कराचार्य का मत अखंडित रहा तब उन जैनियों के पण्डित और सुधन्वा राजा ने वेदमत को स्वीकार कर लिया जैनमत को छोड़ दिया पुनः बड़ा हल्ला

गुल्ला हुआ और सुधन्वा राजा ने अन्य अपने इष्ट मित्र राजाओं को लिखकर शङ्कराचार्य से शस्त्रार्थ कराया परन्तु जैनियों का पराजय होने से पराजित होते गये पश्चात् शङ्कराचार्य के सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में घूमने का प्रवन्ध सुधन्वादि राजाओं ने कर दिया और उनकी रक्षा के लिए साथ में नौकर चाकर भी रख दिये उसी समय से सबके यज्ञोपवीत होने लगे और वेदों का पठन पाठन भी चला। दश वर्ष के भीतर सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में घूम २ कर जैनियों का खण्डन और वेदों का मण्डन किया परन्तु शङ्कराचार्य के समय में जैन विध्वंस अर्थात् जितनी मूर्त्तियां जैनियों की निकलती हैं वे शङ्कराचार्य के समय में टूटी थीं और जो विना टूटी निकलती हैं वे जैनियों ने भूमि में गाड़ दी थीं कि तोड़ी न जायें वे अब तक कहीं २ भूमि में से निकलती हैं शङ्कराचार्य के पूर्व शैवमत भी थोड़ा सा प्रचलित था उसका भी खण्डन किया वाम मार्ग का खण्डन किया।"*

ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी ने शंकराचार्य जी महाराज के महत्वपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुये लिखा है—

"जब भारतवर्ष में धार्मिक अन्तर्द्वन्द्व हो रहा था, बौद्ध तथा अन्य अवैदिक मतावलम्बियों ने वैदिक कर्म और उपासना पर प्रहार किया। चारों ओर देहात्म-वाद का ही प्रचण्ड वातावरण फैल गया। 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यादि शास्त्रीय अबाध्य सिद्धान्तों को भी जनता के सामने अनाचार और आडम्बर का पुट देकर लाया गया। वेद के सिद्धांतों को हेय समझा जाने लगा। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सुस्पष्ट वेदान्त वाक्यों को शून्यवाद की ओर लगाया जाने लगा। जब सौत्रान्तिक, योगाचार एवं वैभाषिक मत अपने-अपने सिद्धान्तों का चारों ओर बहुत सफलतापूर्वक प्रचार कर रहे थे, वैदिक सिद्धान्त इनकी घनघोर घटाओं में आच्छादित हो रहा था, ठीक उसी समय श्री शंकराचार्य जी का प्रादुर्भाव हुआ। आप भगवान् शंकर के अवतार थे। एकमात्र वैदिक-धर्म का प्रतिष्ठापन करना आपके अवतार का प्रयोजन था। वैसा ही हुआ भी। सात वर्ष की आयु में आपने घर का परित्याग करके बौद्धों के तर्कों को खोखलाकर धराशायी कर दिया और सनातन वैदिक धर्म के प्रतिष्ठापन के साथ-साथ भक्ति ज्ञान-वैराग्य का विजयस्तम्भ पृथ्वी पर स्थापित कर दिया।"

"भगवान् शंकराचार्य ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा भारतीय दर्शनशास्त्र के चरम सिद्धान्त वेदान्त के अद्वैतवाद का विजयस्तम्भ आरोपण किया तथा 'तत्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्मेति'—इन चार महा-

*सत्यार्थ प्रकाश ३०२, ३०३, ३०४

वाक्यों का अर्थ प्रदर्शित कर दिखाया । अन्तःकरण के मलापकर्षण के लिये कर्मकाण्ड की और उसकी स्थिरता के लिये उपासनाकाण्ड को भी आपने उतना ही आवश्यक और उपादेय बताया जितना कि वेदान्त वाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ।"*

सच बात तो यह है कि शंकराचार्य की विद्वत्ता का अनुमान लगाना ही कठिन है । उन्होंने दर्शन शास्त्रों का मथन करके जो अमूल्य रत्न प्रदान किये, वे उनकी प्रतिभा, दार्शनिकता एवं बुद्धिमत्ता के द्योतक हैं ।

शंकराचार्य जी ने हिमालय में चार वर्षों तक निवास किया और वहीं पर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की ।

उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाओं का यहां हम और उल्लेख कर देना आवश्यक समझते है । हिमालय की यात्रा से लौटकर शंकराचार्य प्रयाग पहुंचे । यहां वे कुमारिल भट्ट से भाष्य सम्बन्धी वार्ता करना चाहते थे । आचार्य शंकर उनसे ब्रह्म सूत्र के सम्बन्ध मे कुछ जानना चाहते थे । परन्तु उनकी इच्छा पूर्ण न हो सकी । जिस समय आचार्य शंकर त्रिवेणी तट पर कुमारिल भट्ट के समीप पहुंचे, उस समय वे अपने पापों का प्रायश्चित करते हुये अग्नि मे जल रहे थे ।

कुमारिल स्वयं भी आचार्य शंकर से वार्तालाप करना चाहते थे क्योंकि उन्होंने उनकी विद्वत्ता की चर्चा सुन ली थी । इस अवसर पर कुमारिल ने आचार्य शंकर से इतना ही कहा कि जीवन के इस अंतिम समय में अब मैं कुछ नहीं कर सकता । अब आप मेरे शिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ कीजिये और उनको अपना शिष्य बना लीजिये ।

कुमारिल के आदेशानुसार आचार्य शंकर मंडन मिश्र से भेंट करने के लिये उनके स्थान 'माहिष्मती' गये । मंडन मिश्र की विद्वत्ता के सम्बन्ध मे यह बात प्रसिद्ध है कि उनके घर के तोता, मैना पक्षी तक संस्कृत बोलते थे और शास्त्र चर्चा करते थे । 'शंकर दिग्विजय' मे इस किम्वदन्ति का इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थ नीडान्तर सन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डन पंडितौकः ॥

शंकर ने ग्राम में पहुंचने पर जब वहां के व्यक्तियों से पंडित मंडन मिश्र के घर का पता पूछा तब उनको यह उत्तर मिला ।

आचार्य शंकर इस उत्तर से बड़े प्रभावित हुये । उन्होंने इसी से अनुमान लगा लिया कि मंडन मिश्र निश्चय ही एक विद्वान व्यक्ति है । उन्होंने मंडन मिश्र के साथ अनेक दार्शनिक विषयों पर शास्त्रार्थ किया । शास्त्रार्थ की सम्पन्नता मंडन मिश्र की

* कल्याण का भक्ति अङ्क पृष्ठ ४

पत्नी ने की। जब मंडन मिश्र शास्त्रार्थ में पराजित हो गये तब उनकी पत्नी ने आचार्य शंकर के साथ शास्त्रार्थ किया। अन्त में मंडन मिश्र एवं उनकी पत्नी दोनों ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। शास्त्रार्थ के नियमों के अनुसार मंडन मिश्र आचार्य शंकर के शिष्य बने और उनसे संन्यास ग्रहण किया। संन्यास लेने पर वे स्वामी सुरेश्वराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुये।

आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद के प्रचार का संकल्प करके देश का भ्रमण किया। अपने मत के प्रतिपादन में उन्होंने जिन प्रवल युक्तियों का आश्रय लिया, दार्शनिक विद्वान उनका बड़ा आदर करते हैं। आचार्य शंकर ने सम्पूर्ण भारत में अपनी विजय पताका फहराई। अपनी विद्वत्ता के बल पर वे शंकर भगवान नाम से विख्यात हुए।

महर्षि दयानन्द की हिमालय यात्रा—

उन्नीसवीं शती के महान धर्म प्रचारक महर्षि दयानंद ने हिमालय के अनेक तीर्थ स्थानों, शिखरों एवं बीहड़ क्षेत्रों की यात्रा की। दक्षिण से वे इधर उत्तरी भारत में विद्वानों, साधु-महात्माओं और योगियों से ज्ञानोपार्जन के निमित्त आये। हमारे देश में ऐसा समझा जाता रहा है कि हिमगिरि की उन्नत-उपत्यकाओं में अनेक योगी और महात्मा योगाभ्यास एवं आत्मचिन्तन करते हैं। इसी भावना को लेकर महर्षि दयानंद ने भी हिमालय में योगियों की खोज की।

महर्षि दयानंद ११ अप्रेल १८५५ को हरिद्वार आये। इसके पश्चात् वे वापिस लौट गये और उन्होंने गुरू विरजानंद से विद्या प्राप्त की।

महर्षि १२ मार्च १८६६ को पुनः हरिद्वार गये। वहां से वे ऋषिकेश गये। यहां उन्होंने कुछ दिन तक योगाभ्यास किया। इसके सम्बन्ध में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'यहां बड़े महात्मा, संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा।'

स्वामी दयानंद को जब इस बात का पता चला कि टिहरी में कुछ ऐसे विद्वान हैं जिनके पास संस्कृत भाषा में लिखे कुछ ग्रंथ हैं तब उन ग्रंथों की खोज के लिये वे ऋषिकेश से टिहरी गये। वहां उन्होंने ग्रंथों का पता लगाने का प्रयत्न किया परन्तु उनको जो सामग्री मिली वह वेदानुकूल न थी। केवल कुछ तंत्र ग्रथ ही उनको मिल पाये। उन ग्रंथों में स्वामी जी का विश्वास न था।

टिहरी से स्वामी जी श्रीनगर गये। यहां भी उनको कुछ तांत्रिक महात्मा ही मिले। श्रीनगर में वे अलकनन्दा के तट पर बने एक मंदिर में कई मास तक रहे। यहां उन्होंने गङ्गागिरि नाम के एक महात्मा से बहुत समय तक अनेक विषयों पर वार्तालाप किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"यहां पर एक गङ्गा गिरि नामक साधु से (जो कभी दिन के समय अपने पहाड़ से, जो एक जंगल में था, यहीं उतरता था) भेंट हुई और विदित हो गया कि यह एक अच्छा विद्वान है। थोड़े दिन पश्चात् मेरी उसकी मैत्री भी हो गई। सारांश यह है कि जब तक मेरा उसका साथ रहा, योग विद्या और अन्य उत्तम उत्तम विषयों पर परस्पर बातचीत होती रही और प्रतिदिन के तर्क वितर्कों से यह बात सिद्ध हो गई कि हम दोनों साथ रहने योग्य हैं। मुझे तो उसकी संगति ऐसी अच्छी लगी कि दो मास से अधिक उसके साथ रहा।"

श्रीनगर से स्वामी जी रुद्रप्रयाग गये। वहां से वे शिवपुरी नाम के एक स्थान पर गये। शीतकाल में वे वही पर रहे। शीतकाल बीतने पर स्वामी जी गौरीकुण्ड भीमगुफा और त्रिजुगीनारायण गये। यहां से तुङ्गनाथ गये। तुङ्गनाथ की चढ़ाई बड़ी विकट थी। अब से सौ वर्ष पूर्व तुङ्गनाथ जाने के लिये यात्रियों को स्वयं अपना मार्ग खोजना पडता था।

स्वामी जी ने इस बीहड़ वन के विकट मार्ग का वर्णन करते हुए लिखा है—

'नीचे उतरते समय मैंने अपने सामने दो मार्ग देखे, एक मार्ग पश्चिम की ओर, दूसरा दक्षिण-पश्चिम की ओर जाता था। मैं यह स्थिर न कर सका कि उन मार्गों में से मुझे किस मार्ग से जाना चाहिए। अन्त में मैं उस मार्ग की ओर से चल दिया जो जंगल की ओर जाता था। कुछ दूर ही चला था कि मैं एक घने जंगल में घुस गया। जंगल में कहीं बड़े-बड़े ऊंचे-नीचे पाषाण-खण्ड थे और कहीं जलहीन छोटी-छोटी नदियां थीं। थोड़ी दूर और आगे बढ़ने पर मैंने देखा कि वह मार्ग रुका हुआ है। वहां किसी ओर भी कोई मार्ग न पाकर मैं सोचने लगा कि ऊपर चढ़ूं या नीचे उतरूं। यदि ऊपर चढ़ता हूं तो अनेक विघ्न बाधाओं का अतिक्रमण करना होगा और सम्भव है ऊपर चढ़ते चढ़ते ही रात्रि हो जाए। अत: मैंने नीचे उतरना ही युक्तियुक्त समझा और कुछ घास के गुच्छों को पकड़कर मैं धीरे धीरे नीचे उतरने लगा। थोड़ी देर पीछे मैं एक सूखी नदी के तट पर जा पहुंचा। उसके पीछे मैं ऊंची चट्टान पर खड़ा होकर चारों ओर देखने लगा। मैंने देखा कि चारों ही ओर ऊंची-ऊंची भूमि छोटे-छोटे पर्वत और मनुष्य के लिए अगम्य और मार्गहीन वनस्थली थी। उस समय दिवाकर भी अस्ताचल की चोटी का अवलम्बन कर रहा था। उस समय यह विचार कर मेरा चित्त बहुत आन्दोलित हो रहा था कि शीघ्र ही अन्धकार फैल जायगा और उस अंधकार में मुझे इस भीषण वन में, जहां न मनुष्य है, न अग्नि जलाने का कोई उपाय है अकेले रहना होगा। उस समय उत्कट पुरुषार्थ से सहायता लेने के और कोई उपाय न था। इसलिये यद्यपि उस दुर्गम वन के मार्ग में मेरे वस्त्रादि फट गए थे, शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, पैर कांटों से छिद गए थे और इस

कारण मैं लुञ्जों के समान चलता था तथापि मैं केवल प्रवल पुरुषार्थ के प्रभाव से ही उसे पार कर सका। अन्त में एक पर्वत के पादमूल में आकर मैंने एक मार्ग भी देखा। यद्यपि चारों ओर सब कुछ अन्धकाराच्छन्न था तथापि मैंने विशेष सोच-विचार न करके वही मार्ग पकड़ लिया और किसी प्रकार भी उसे न छोड़कर मैं धीरे धीरे आगे बढ़ने लगा, कुछ दूर आगे बढ़कर मैंने कुछ कुटियों की एक श्रेणी देखी। कुटी वासियों से पूछने पर उन्होंने कहा कि यह मार्ग ओखीमठ को गया है। मैं भी ओखीमठ की ओर चल दिया और थोड़ी देर पीछे ही वहां पहुंच गया।"

इस विस्तृत वर्णन से पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बीहड़ वन-मार्ग की यात्रा अत्यन्त कठिन होती है और उस यात्रा को वे ही व्यक्ति सफलतापूर्वक पूर्ण कर सकते हैं जिनमें अपूर्व साहस हो और जिनका शरीर सर्वप्रकार के कष्टों को सहन करने में समर्थ हो।

ओखीमठ में उन दिनों अनेक साधु महात्मा रहते थे। ओखीमठ उत्तराखण्ड का एक प्रसिद्ध मठ है। यहां एक प्राचीन मंदिर है। इस मंदिर में श्री केदारनाथ की छः मास तक पूजा होती है। जब केदारनाथ मंदिर के पट बन्द हो जाते हैं तब पुजारी जी यहीं आकर पूजा करते हैं। छः मास पश्चात् जब मंदिर के पट खुलते हैं तब वे फिर केदारनाथ चले जाते हैं।

ओखीमठ का महन्त स्वामी दयानंद के व्यवहार से बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने इनको अपने साथ रखने का भरसक प्रयत्न किया। यहां तक कि उसने अपने मरने के पश्चात् इनको ही गद्दी पर बैठने का प्रलोभन दिया। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानंद ने एक स्थान पर लिखा है—

"यहां के बड़े महन्त ने मुझे अपना चेला करने का मनोगत किया। उसने इस बात की दृढ़ता के लिए भी मुझे प्रलोभन दिखाया कि हमारी गद्दी के तुम स्वामी होगे और लाखों रुपयों की पूंजी होगी। मैंने उनको निस्पृह यह उत्तर दिया कि यदि मुझे धन की लालसा होती तो मैं अपने पिता की सम्पत्ति को जो तुम्हारे इस स्थल, धनधान्य से कहीं बढ़कर थी, न छोड़ता।"

उन दिनों ओखीमठ में धार्मिक ग्रंथों का एक अच्छा संग्रह था। स्वामी जी ने उन ग्रंथों का काफी दिन रहकर अध्ययन किया। महन्त ने स्वामी जी को सर्वप्रकार की सुविधायें भी दीं और इस बात पर प्रसन्नता प्रगट की कि स्वामी जी धर्म के प्रचार में अपना जीवन लगा देना चाहते हैं।

ओखीमठ से स्वामी जी जोशीमठ गए। यह स्थान बदरीनाथ के मार्ग में है। यहां जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य का मठ है। इस स्थान पर भी स्वामी जी काफी समय तक रहे और उन्होंने प्राचीन ग्रंथों की खोज की।

यहां उनको कई योगी भी मिले। उन योगियों से स्वामी जी ने योग की कई क्रियायें भी सीखीं। परन्तु उनके मन की संतुष्टि न हुई। यहां उनको पता चला कि कुछ योगी एवं विद्वान समीपवर्ती स्थानों में कुटी बनाकर रहते हैं। वे इस प्रकार के योगियों एवं विद्वानों का सत्संग करना चाहते थे। अतः उन्होंने जोशीमठ के समीपवर्ती सभी स्थलों की खोज की। इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने लिखा है—

"यहां कुछ दिनों दक्षिणी महाराष्ट्रों और संन्यासियों के साथ जो संन्यासाश्रम की चतुर्थ श्रेणी के सच्चे साधु थे, रहा और बहुत से योगियो और विद्वानों, महन्तों और साधुओं से भेंट हुई और उनसे वार्तालाप में मुझको योग विद्या सम्बन्धी और नई बातें ज्ञात हुईं।"

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जोशीमठ में अनेक योगी रहते थे। शान्त और एकान्त स्थान पर योगियों के अतिरिक्त संन्यासी भी वास करते थे। संन्यासियों के लिए ज्योतिष्पीठ मुख्य आकर्षण था। जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य के नाम पर स्थापित ज्योतिष्पीठ में संन्यासियों के एकान्तवास की समुचित व्यवस्था थी। स्वामी दयानंद ने इस प्रकार के संन्यासियों एवं योगियों के सत्संग का पूरा लाभ उठाया। योग विद्या के कुछ तत्वों की शिक्षा लेकर स्वामी जी यहां से बदरीनाथ चले गए।

बदरीनाथ पहुंचकर स्वामी जी ने वहां के रावल से भेंट की। स्वामी जी ने रावल से वेदादिशास्त्रों के सम्बन्ध में वार्तालाप किया परन्तु उनके मन की संतुष्टि न हुई। अतः उन्होंने रावल से यह जानने का यत्न किया कि बदरीनाथ के हिमशिखरों पर अन्य कोई ऐसे योगी या महात्मा भी हैं या नहीं जो योग और धर्मशास्त्रों का अच्छा ज्ञान रखते हों। उन्होंने स्वामी जी को इस बात का संकेत दिया कि कभी २ ऐसे महात्मा मंदिर दर्शन के लिए आ जाते हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने लिखा है—

"मैं बदरीनाथ को गया। विद्वान रावल जी उस समय उस मंदिर का मुख्य महन्त था और मैं उसके साथ कई दिन तक रहा। हम दोनों का परस्पर वेदों और दर्शनों पर बहुत वाद-विवाद रहा। जब उससे मैंने पूछा कि इस परिस्थिति में कोई विद्वान और सच्चा योगी भी है या नहीं तो उसने यह बताने में बड़ा शोक प्रगट किया कि इस समय इस परिस्थिति में कोई ऐसा योगी नहीं है। परन्तु उसने बताया कि मैंने सुना है कि प्रायः ऐसे योगी इसी मंदिर के देखने के लिए आया करते हैं। उस समय मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि समस्त देश में और विशेषतः पर्वतीय स्थलों में अवश्य ऐसे पुरुषों का अन्वेषण करूंगा।"

स्वामी जी बदरीनाथ से सीधे अलकनन्दा के उद्गम की तरफ चल दिए। उन दिनों मार्ग अत्यन्त भयंकर था। उस क्षेत्र के रहने वाले ही उन मार्गों पर चल

सकते थे। अतः स्वामी जी को मार्ग खोजना कठिन हो गया। योगियों और महात्माओं की खोज में वे काफी ऊंचाई तक चढ़ गए परन्तु फिर भी उन्हें किसी योगी महात्मा के दर्शन न हुए।

लौटते समय उनको मार्ग खोजने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। एक स्थान पर उन्हें अलकनन्दा नदी को पार करना पड़ा। हिम के नुकीले टुकड़ों ने उनके पैरों को क्षत-विक्षत कर दिया। नदी पार करना उन्हें कठिन हो गया। इस सम्बन्ध में हम स्वामीजी द्वारा लिखित विवरण देना आवश्यक समझते हैं। इससे पाठक अनुमान लगा सकेंगे कि स्वामी जी ने योगियों की खोज में किस प्रकार अपने जीवन को भी खतरे में डाल दिया था। स्वामी जी लिखते हैं --

"एक दिन सूर्योदय के होते ही मैं अपनी यात्रा पर चल पड़ा और पर्वत की उपत्यका में होता हुआ अलकनन्दा के तटपर जा पहुंचा। मेरे मन में उस नदी के पार करने की किञ्चित इच्छा न थी क्योंकि मैंने उस नदी के दूसरी ओर एक बड़ा गांव 'मांस' नामक देखा, अतः अभी उस पर्वत की उपत्यका में ही अपनी गति रखकर नदी के वेग के साथ-साथ मैं जंगल की ओर हो लिया। पर्वत, मार्ग और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुए थे और बहुत घनी हिम उनके ऊपर थी। अतः अलकनन्दा नदी के स्रोत तक पहुंचने में मुझे अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े। परन्तु जब मैं वहां पहुंच गया तो अपने आपको सर्वथा अपरिचित और अजान जाना और अपने चारों ओर ऊंची-ऊंची पहाड़ियां देखीं तो मुझे आगे जाने का मार्ग बन्द दिखाई दिया। कुछ ही काल पश्चात् मार्ग सर्वथा लुप्त हो गया और उस मार्ग का मुझको कोई पता न मिला। उस समय मैं सोच-चिन्ता में था कि क्या करना चाहिए। अन्ततः अपना मार्ग अन्वेषण करने के अर्थ मैंने नदी को पार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मेरे पहने हुए वस्त्र बहुत हल्के और थोड़े थे और शीत अत्यधिक था। कुछ ही काल पश्चात् शीत ऐसा अधिक हुवा कि उसको सहन करना असम्भव था। क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया तो मैंने एक हिम का टुकड़ा खाकर उसको बुझाने का विचार किया परन्तु उससे किञ्चित आराम वा सन्तुष्टि नहीं हुई। पुनः मैं नदी में उतर उसे पार करने लगा। कतिपय स्थानों पर नदी बहुत गम्भीर थी और कहीं पानी बहुत कम था। परन्तु एक हाथ वा आध गज से कम गहरा कहीं कम न था किन्तु विस्तार अर्थात् पाट में दस हाथ तक था अर्थात् कहीं से चार गज और कहीं से पांच गज। नदी हिम के छोटे और तिरछे टुकड़ों से भरी हुई थी। उन्होंने मेरे पांव को अति घावयुक्त कर दिया सो मेरे नग्न पांव से रक्त बहने लगा मेरे पांव शीत के कारण नितान्त सन्न हो गये थे जिस कारण मैं बड़े-बड़े घावों से भी कुछ काल तक अचेत रहा। इस स्थान पर अतिशीत के

कुछ ही मुझ पर अचेतनता सी आने लगी। यहां तक कि मैं अचेतन अवस्था में होकर हिलने डुलने को था। तब मुझे विदित हुआ कि यदि मैं यहां पर इसी प्रकार गिर गया तो मुश्किलों से उठना मेरे लिये अत्यन्त असम्भव और कठिन होगा। एवम् दौड़ धूप करके जैसे हुवा मैं प्रवल प्रयत्न करके वहां से कुशल मंगल पूर्वक निकला और नदी के दूसरी ओर जा पहुंचा। वहां जाकर यद्यपि कुछ काल तक मेरी अवस्था ऐसी रही जो जीवित की अपेक्षा मृतवत् थी तथापि मैंने अपने शरीर के ऊपरी भाग को सर्वथा नगा कर दिया और अपने समस्त वस्त्रों से जो मैंने पहने हुए थे जानू वा पांव तक जंघा को लपेट लिया और वहां पर मैं सर्वथा शक्तिहीन और घवड़ाया हुआ, आगे को हिल सकने और चल सकने में अशक्त खड़ा हो गया। इस प्रकार प्रतीक्षा में था कि कोई सहायता मिले जिससे मैं आगे को चलूं परन्तु इस वात की कोई आशा न थी कि वह आयेगी कहां से। सहायता की आशा में था। परन्तु सर्वथा विवश था और जानता था कि कोई सहायता का स्थान दिखाई नही देता। अन्त को पुनः एक वार मैंने अपने चारों ओर दृष्टि की और अपने सम्मुख दो पहाड़ी पुरुषों को आते हुए देखा जो मेरे समीप आए और मुझको प्रणाम करके उन्होंने अपने साथ घर जाने के लिए मुझे बुलाया और कहा, 'आओ हम तुमको वहां खाने को भी देवेंगे।' जब उन्होंने मेरे क्लेशों को सुना और मेरे वृत्त को श्रवण किया तो कहने लगे, 'हम तुमको सिद्धपत पर भी पहुंचा देवेंगे'। परन्तु उनका यह सब कहना मुझे अच्छा प्रतीत न हुआ। मैंने अस्वीकार किया और कहा, 'महाराज शोक! मैं आपकी यह सब कृपा स्वीकार नही कर सकता क्योंकि मुझमें चलने की किञ्चित शक्ति नहीं है।'

"यद्यपि उन्होंने मुझको वहुत आग्रहपूर्वक बुलाया और आने के लिए अत्यधिक अनुरोध किया तथापि मैं वहां अपने पांव जमाये खड़ा रहा और उनकी आज्ञा वा इच्छानुकूल मैं उनके पीछे चलने का साहस न कर सका। मैंने उनसे कह दिया कि यहां से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूं। ऐसा कहकर मैंने उनकी बातों की ओर ध्यान करना भी बंद कर दिया अर्थात् पुनः उन्हें न सुना। उस समय मेरे मन में विचार आता था कि उत्तम होता यदि मैं लौट जाता और अपने पाठ को स्थिर रखता। इतने में वे दोनों सज्जन वहां से चले गये और कुछ ही काल में पर्वतों में लुप्त हो गए। वहां जब मुझे शान्ति प्राप्त हुई तो मैं भी आगे को चला और कुछ काल वसुधा पर विश्राम करके 'मंग्रम' के निकटवर्ती प्रदेश से होता हुआ उसी सायं लगभग आठ वजे बदरीनाथ जा पहुंचा।"*

---

*ऋषि दयानंद स्वरचित लिखित व कथित जीवन चरित्र से उपरोक्त सामग्री ली गई। यह पुस्तक १९१७ में लाहौर से प्रकाशित हुई थी। इसका सम्पादन पंडित भगवद्दत्त ने किया है।

यहां 'मांस' एवं 'मंग्रम' शब्द का प्रयोग 'माणा' गांव के लिये किया गया है। यह भारत और तिब्बत सीमा पर भारत का अन्तिम ग्राम है।

यहां स्वामी जी ने बदरीनाथ से अलकनन्दा के स्रोत तक का सारा विवरण दे दिया है। उन्होंने यह भी प्रगट कर दिया है कि उद्‌गम तक पहुंचना कितना कठिन काम है। अब तक अधिकांश यात्री वसुधारा तक ही गये हैं। वहां से आगे के भयंकर मार्ग में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

स्वामी जी ने बदरीनाथ मंदिर के मुख्य पुजारी रावल से फिर भेंट की। 'रावल' उनकी इस भयंकर यात्रा को सुनकर चकित रह गये।

बदरीनाथ और उससे आगे अलकनन्दा स्रोत तक जाने पर भी स्वामी जी को कोई ऐसा महात्मा, योगी अथवा विद्वान व्यक्ति नहीं मिला जो उनकी आत्म-तुष्टि के लिये ज्ञान का मार्ग आलोकित करता।

स्वामी जी 'रावल' के पास दो चार दिन रहकर पुनः नीचे की ओर लौट आये। स्वामी जी के उत्तराखंड के भ्रमण से ऐसा विदित होता है कि उनको वेद और धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने वाले योगी और महात्मा कहीं भी न मिल पाये। उनको अधिकांश ऐसे ही साधु मिले जो हठ-योगियों की श्रेणी में आते थे या जिन्होंने तांत्रिक ग्रंथों का अध्ययन किया था। उनको हिमालय की यात्रा में कई स्थानों पर जो ग्रन्थ मिले उनमें अधिकांश तंत्र-ग्रन्थ ही थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तांत्रिकों ने हिमालय की ऊंची २ उपत्यकाओं में पहुंचकर तांत्रिक मत का प्रचार किया।

स्वामी दयानन्द की हिमालय यात्रा के सम्बन्ध में बंगाला लेखक श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का कहना है—

> "इस मनोहर और विस्मयकारक भ्रमण वृत्तान्त से सिद्ध होता है कि "प्रकृत योगियों के अन्वेषण में दयानन्द ने उत्तराखण्ड में दो वर्ष से कुछ कम समय लगाया। पहाड़ी मार्गों के क्लेश, बर्फ से ढके हुये पहाड़ों की दुर्गमता, हिमाच्छादित पर्वत शिखरों की दुरारोहता, पर्वतीय वनों की भीषणता, अलखनन्दा की हिमावृत तटभूमि की शीतातिशयता, कोई वस्तु भी उन्हें विचलित न कर सकी। श्रान्ति, क्लान्ति, क्षुधा, पिपासा, प्रलोभन कोई वस्तु भी उन्हें अवलम्बित मार्ग से पीछे न हटा सकी। वन के कण्टक वृक्षों ने समय-समय पर उनकी पृष्ठ, हस्ततल, पादतल को क्षत-विक्षत किया, शरीर के अनेक स्थानों से रुधिर की धारा बहा दी, परन्तु वह अपनी अनुसन्धित्सा में एक दिन के लिये भी निरस्त नहीं हुये। हमने बहुत प्रकार की मानव प्रकृति की आलोचना की है, परन्तु थोड़े से अस्थि-पञ्जर के भीतर इस प्रकार का अपरिमित मानसिक बल छिपा रह सकता है, यह हमने कभी नहीं सुना, कभी नहीं देखा।"*

* महर्षि दयानन्द जीवन चरित्र पृष्ठ ४७

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हिमालय यात्रा से लौटकर आर्ष ग्रंथों की खोज की ओर उनका अध्ययन किया। उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। स्वामी दयानन्द ने प्राचीन वैदिक संस्कृति का प्रचार व विस्तार करने का भरसक यत्न किया।

स्वामी रामतीर्थ हिमालय में-

आचार्य शंकर एव महर्षि दयानन्द सरस्वती दो महान आचार्यों के पश्चात् और भी अनेक संन्यासियों एवं महात्माओं ने हिमालय की यात्रा की। इन दो आचार्यों के पश्चात् हम स्वामी रामतीर्थ के हिमालय वास का कुछ उल्लेख करना आवश्यक समझते है। उन्होने हिमालय के अनेक स्थानों का भ्रमण किया और टिहरी के समीप रहकर उन्होंने वर्षो योग साधना की।

लाहौर से वे १८९९ में अपनी पत्नी और बच्चे को लेकर हरिद्वार आये। उनके कुछ सहयोगी भी उनके साथ आये। उस समय उनका मन गृहस्थ से ऊब चुका था और वे सन्यास लेना चाहते थे। उन्होंने अपनी पत्नी से स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि अब तुमको यह कहना होगा कि मैं विधवा हूं। तीर्थराम से मेरा कोई दुनियावी सम्बन्ध नहीं। संन्यास लेने से पूर्व उनका नाम तीर्थराम था।

अपने पति की प्रसन्नता और उनके मन की शान्ति के लिये स्वामी रामतीर्थ की पत्नी ने मौन रूप से सब कुछ स्वीकार किया।

तीर्थराम योगो संन्यासियों से मिलते रहे। अन्त मे उन्होंने सन् १९०१ में संन्यास ग्रहण किया और उस समय से वे स्वामी रामतीर्थ नाम से विख्यात हुये।

हरिद्वार से स्वामी रामतीर्थ ऋषिकेश चले गये। यहा कुछ दिन निवास करने के पश्चात् वे व्यासी गये। व्यासी से वे टिहरी गये। टिहरी गढ़वाल के महाराज ने उनको विशेष निमन्त्रण देकर बुलाया था।

टिहरी से स्वामी रामतीर्थ यमुनोत्तरी गये। यमुनोत्तरी का मार्ग उस समय बड़ा ही दुस्साध्य मार्ग था। कहीं २ तो मार्ग का पता तक न चलता था। यमुनोत्तरी पहुंचने के लिये बहुत चढ़ाई करनी पड़ती थी। स्वामी जी अपने साथियो सहित यमुनोत्तरी पहुंच गये। वहां से वे गंगोत्तरी गये। उन दिनों यमुनोत्तरी से गंगोत्तरी जाने मे साधारणतया दस दिन लगते थे परन्तु स्वामी जी एक छोटे मार्ग से तीन दिन में ही गंगोत्तरी पहुंच गये। कहा जाता है कि इस मार्ग से उस समय तक किसी अन्य व्यक्ति ने यात्रा नहीं की थी। पर्वतीय भाई इस मार्ग को 'छाया मार्ग' कहते थे।

मार्ग में उन्होंने पर्वतीय गुफाओं में विश्राम किया। मार्ग में उनको कोई झोंपड़ी तक न मिली। परन्तु वे साहस के साथ गंगोत्तरी पहुंच गये।

उन्होंने गंगोत्तरी से भेजे एक पत्र में वहां की प्राकृतिक छवि का वर्णन करते हुये लिखा है—

"गंगोत्तरी पर प्यारी गंगा की लहरों और प्राकृतिक नजारों को कौन वयान कर सकता है ? बर्फ से ढके हुए पहाड़ और निर्दोष देवदार के ऊंचे और पतले पेड़ उनकी सहेलियां हैं। उनकी पवित्र हवा शक्ति प्रदान करती है। वह दिल को खुश और आत्मा को ऊंचा करती है। वहां इस सत्य को महसूस करना आसान है कि भगवान पत्थर में है और पौदे में भी। वह सब जगह और सब में है।"

एक अन्य पत्र में वे लिखते हैं -

"आजकल स्वामी राम एक अच्छी झोंपड़ी में रहता है। यहां रामवूटी वड़ी कसरत (अधिक मात्रा में) से होती है। चिड़ियां और दूसरे पक्षी सारा दिन चहचहाते रहते हैं। जलवायु स्वास्थप्रद है। गगा के गीत और पक्षियों की चह-चहाहट से हर वक्त स्वर्गीय त्यौहार लगा रहना है। केदारनाथ और वदरी नारा-यण के तीर्थों ने राम बादशाह को अनेक बार बुलावा दिया है लेकिन प्यारी गंगा जुदाई का ख्याल आते ही उदास हो जाती है—इसलिये राम उसे नाराज नहीं करना चाहता।"

एक और पत्र में स्वामी जी ने लिखा है—

"आज वर्षा हुई। वादलों ने अजीव अजीव रूप धारण किये। ऐसी शान को देख कर मस्ती और आंखों में आंसू आते हैं। वादल उड़ जाते हैं पर अपना स्थाई सन्देश दे जाते हैं। वह भगवान् से अमृत का सन्देश लाये और फिर उसके पास वापस चले गये। सचमुच सब मन-मोहनी चीजें ऐसी ही हैं। वे सामने आती हैं। पल के लिए भगवान् की महानता की झलक दिखाती हैं और फिर ओझल हो जाती हैं। पागल हैं वह आदमी जो इन अस्थाई वादलों से प्यार करने लगते हैं। फिर भी ऐसे लोग हैं, जो दुनियावी चीजों के वादलों से चिपटे रहते हैं और उनके चले जाने पर बच्चों की तरह रोते हैं। यह कैसी अजीव वात है। यह देख कर मैं हंसे बिना नहीं रह सकता। इनके अलावा ऐसे लोग भी हैं, जो वादलों में हर छोटी-छोटी बात का ध्यान रखते हैं लेकिन उनकी शान को नहीं देखते। यह ज्ञानी लोग वाल की खाल उतारने में इतने मग्न हो जाते हैं कि उस प्रेमिका का सिर नहीं देखते जिसके यह वाल हैं। चित्त को प्रसन्न करने वाले रिश्तेदार जरूर चले जायेंगे। वह सिर्फ डाकिये हैं जो हमारे लिए भगवान् का प्रेम-पत्र लाते हैं।"

स्वामी रामतीर्थ जीवन भर प्रकृति का आनन्द लेते रहे। वन पर्वतों, नदी और नालों को वे अपना सखा मानते थे। प्रकृति की अनुपम छटा देखकर वे मस्ती में

झूमने लगते थे। यमुनोत्तरी से गंगोत्तरी जाने के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—
"यमुनोत्तरी से गंगोत्तरी तक लगभग सारे मार्ग पर कई प्रकार के फूल ऐसी बहुतायत में पाये जाते हैं कि मानो सोने की चादर बिछी हो। यह पहाड़ निशात बाग से कम सुन्दर नहीं।' यहां निशात बाग से उनका आशय लाहौर के निशात बाग से है।

यमुनोत्तरी यात्रा के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि स्वामीजी वहां बीमार पड़ गये थे। पर्वतीय अनाज मारचा खाने से उनको अपच रोग हो गया था। परन्तु तीन चार दिन विश्राम करने के पश्चात् व वहां से सुमेरु को देखने के लिये चल दिये।

सुमेरु की चढ़ाई काफी कठिन थी। कहीं चढ़ाई थी और कहीं उतार। कभी २ मार्ग तक मिलना कठिन हो जाता था। साहस के साथ उन्होंने चढ़ाई की। चलते २ वे एक ऐसे स्थान में पहुंचे जहां बर्फ ही बर्फ थी। वहां पहुंचकर उन्होंने प्रकृति के इस मनोरम दृश्य का पूर्ण आनन्द उठाया। उनके साथियों ने उनकी पूरी तरह देखभाल की।

सुमेरु पर्वत को सुनहरी पहाड़ भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में स्वामी रामतीर्थ लिखते हैं—

"ए संसार के लोगों, किसी भी दुनिया की चीज का ऐसा सौन्दर्य नहीं जो कि सुमेरु का जरा भी मुकाबला कर सके। परन्तु जब अपने अन्दर असली और परम आत्मा को देखोगे तब प्रकृति तुम्हें नमस्कार करेगी और किसी देवता की भी क्या मजाल कि तुम्हारी आज्ञा मानने से इंकार करे।"

यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी की यात्रा करने के पश्चात् स्वामी रामतीर्थ टिहरी लौट आये। टिहरी नगर से कुछ दूरी पर वे एक कुटी में रहते थे। टिहरी-महाराज उनका बड़ा आदर करते थे। वे स्वामी जी के गुणों पर मुग्ध थे और उनके टिहरी में रहने को वे अपने राज्य के लिये 'वरदान' मानते थे।

स्वामी रामतीर्थ अपनी कुटी में रहकर योग साधना करते रहते थे। उनको न खाने की चिन्ता थी और न किसी अन्य सांसारिक वस्तु की। भगीरथी और भिलंगना की लहरों का वे नित्य आनन्द लेते रहते थे।

उन्हीं दिनों सन् १९०२ में जापान के टोक्यो नगर में 'सर्वधर्म सम्मेलन' होने की सूचना मिली। इस सम्मेलन में संसार भर के विद्वानों के सम्मिलित होने की चर्चा थी।

टिहरी नरेश को भी इस सम्मेलन का समाचार मिला। वे स्वामी रामतीर्थ के प्रति अगाध श्रद्धा और प्रेम रखते थे। उन्होंने स्वामी जी से जापान जाने के लिये आग्रह किया। समय बहुत कम रह गया था। स्वामी जी ने उस समय तक जापान

जाने के सम्बन्ध में सोचा भी नहीं था। परन्तु महाराज ने कहा 'अगर आप अभी चल पड़ें और कलकत्ता से पहले जहाज पर रवाना हो जायं तो समय पर टोक्यो पहुंच सकते हैं।'

स्वामी जी के जापान आने जाने का समस्त व्यय उठाने की भी महाराज ने स्वीकृति दे दी। इतना ही नहीं, उन्होंने एक व्यक्ति का और व्यय उठाना भी स्वीकार किया।

इस तरह से स्वामी रामतीर्थ अपने भक्त नारायण को साथ लेकर जापान के लिए चल दिये। मार्ग में जहां भी जहाज ठहरा, वहीं पर भारतीय व्यापारी उनसे मिलने आये। टोक्यो पहुंचने पर उनकी भेंट सरदार पूर्णसिंह से हुई। उन्होंने ही स्वामी जी के निवास आदि की व्यवस्था की।

जापान में सर्व धर्म सम्मेलन होने की बात सही न निकली। परन्तु फिर भी स्वामी जी ने जापान में कई भाषण दिये और वहां के विद्वानों को भारतीय दर्शन शास्त्र की ओर आकर्षित किया।

जापान से स्वामी रामतीर्थ अमरीका चले गये। वहां वे १६०२ से १६०४ तक रहे। अमरीका के कई स्थानों में उन्होंने वेदान्त के सम्बन्ध में अनेक भाषण दिये। अमरीकी जनता उनके भाषणों एवं उनके व्यक्तित्व से बड़ी प्रभावित हुई। अमरीका में दो वर्ष प्रचार करके स्वामी जी मिश्र गये। वहां के रहने वालों ने भी आपका हार्दिक अभिनन्दन किया। वहां से वे ८ दिसम्बर १६०४ को बम्बई लौट आये। बम्बई से वे हरिद्वार आये। यहां से वे ऋषिकेश चले गये।

उन दिनों स्वामी जी को दर्शन शास्त्रों का अध्ययन करना था। अतः वे ऋषिकेश से व्यासी चले गये। व्यासी भगीरथी (गंगा) के तट पर एक छोटी सी पहाड़ी बस्ती है। यहां की एक गुफा व्यास गुफा के नाम से विख्यात है। इसके निकट पहाड़ों में रहने वालों ने उनके लिये एक झोंपड़ी तैयार कर दी। उनके लिये दूध और फलों का भी उन्होंने प्रबन्ध कर दिया। वे लोग स्वामी रामतीर्थ को 'देवता' मानते थे।

स्वामी रामतीर्थ इस स्थान पर बहुत समय तक रहे। उन्होंने अपने शिष्य नारायण को एक दूसरे स्थान पर रहने का आदेश दिया क्योंकि वे एकान्त में रहकर साधना करना चाहते थे।

कुछ समय पश्चात् स्वामी जी इस स्थान को छोड़कर और ऊपर टिहरी के समीप चले गये। उनका स्वास्थ काफी खराब रहता था। अतः आपका थोड़ी आयु में ही १७ अक्तूबर सन् १६०६ को शरीरान्त हो गया। कहा जाता है कि आपने भिलङ्गना नदी के तट पर जल समाधि ली थी और उसी के फलस्वरूप वे इस लोक से विदा हो गये।

यहां हमने स्वामी रामतीर्थ के जीवन का संक्षिप्त शब्दों में उल्लेख किया है। दूसरे हमने उनके जापान एवं अमरीका के भ्रमण का भी केवल उल्लेख ही किया है। उनके भाषणों और जापान एवं अमरीका वासियों पर उनके प्रभाव का विस्तृत विवरण भी नहीं दिया है। क्योंकि हमें यहां केवल इतना बताना है कि स्वामी रामतीर्थ का हिमालय से गहरा सम्बन्ध रहा। अमरीका के समाचार पत्रों ने स्वामी रामतीर्थ को 'हिमालय पहाड़ का ऋषि' माना था। स्वामी रामतीर्थ जब अमरीका में प्रचार को पहुंचे तब वहां के एक पत्र ने उनके बारे में लिखा था—

"पुरानी नीति बदलने वाली है। उत्तरीय भारत के जंगलों से एक ऐसा आदमी आया है जिसकी तेज बुद्धि देखकर हम चकित होते हैं। वह एक ऋषि, तत्वज्ञानी और धर्मोपदेशक है। वह अमरीका में धर्म प्रचार करने की इच्छा रखता है। वह सांसारिक धन के पुजारियों के सम्मुख निःस्वार्थता और आत्मिक शक्ति का एक नया आदर्श उपस्थित करता है।"

"हिमालय पर्वत का यह असाधारण ऋषि, देवता, एक पतला शरीर एवं तीव्र बुद्धि रखने वाला युवक है। उसका मस्तक चौड़ा और मस्तिष्क बड़ा उज्ज्वल है। उसके मस्तक पर ऐसी मुस्कराहट है कि उसका प्रभाव निश्चय ही उस व्यक्ति पर पड़ता है जो उनके समीप जाता है।"

स्वामी रामतीर्थ जीवन भर प्रकृति का आनन्द लेते रहे। आप चन्द्रमा की किरणों, पर्वतीय झरनों, नदियों की लहरों और वृक्षों की पत्तियों तक को अपने मनोरंजन का एक बड़ा साधन मानते थे। मृत्यु से वे कभी भयभीत नहीं हुये। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है—

'ए मौत : अगर चाहे तो इस शरीर को ले जाओ। मुझे जरा परवाह नहीं' मेरे पास व्यवहार करने को अनेक शरीर हैं। मैं चांदी की तारों जैसी चाद की किरणों को पहन सकता हूं। मैं समुद्र की लहरों पर नाच सकता हूं। मैं सुबह को चलने वाली हवा हूं जो नखरे से कदम उठाती है। जो इधर गई और उधर लेकिन उसे कोई पकड़ न सका।"*

स्वामी रामतीर्थ की मृत्यु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे गंगा स्नान के लिये गये। टिहरी में गगा को भगीरथी कहते हैं। टिहरी के एक तरफ भगीरथी बहती है और उससे कुछ दूरी पर भिलंगना। इन दोनों को ही बड़ा पवित्र माना जाता है।

स्वामी जी कई दिन से अस्वस्थ थे। वे अपनी कुटी पर ही गंगा जल मंगाकर स्नान कर लेते थे परन्तु इस दिन वे गंगा और भिलंगना के संगम के समीप स्नान के

---

*स्वामी रामतीर्थ के जीवन चरित्रों से उपरोक्त सामग्री ली गई है।

लिये गये। उन्होंने वहां पहुंच कर कुछ देर व्यायाम किया। फिर स्नान के लिये किनारे पर पहुंचे। उन्होंने ज्यों ही जल में डुबकी लगाई, त्यों ही वे नदी के जोरदार बहाव में बह गये। उन्होंने तैर कर बाहर निकलने का भी प्रयत्न किया परन्तु अस्वस्थ होने के कारण वे जल के प्रबल वेग से मुकाबला न कर सके। अन्त में दीपमालिका के दिन १७ अक्तूबर १९०६ को उनकी जीवन लीला समाप्त हो गई।

उनके शव की खोज की गई और वह प्राप्त कर लिया गया। उनके शिष्य नारायण ने उनका अंतिम संस्कार किया।

स्वामी रामतीर्थ की मृत्यु के सम्बन्ध में उनके कुछ भक्तों का यह भी विश्वास है कि उन्होंने गंगा के तट पर जाकर जल समाधि ली थी।

उन्होंने मृत्यु से पूर्व अपने शिष्य नारायण से कह दिया था—'बेटा! राम बहुत जल्द अपना शरीर छोड़ने वाला है। उसकी तबियत संसार से ऊब गई है। तुम गुफा में बैठकर अपने स्वरूप का चिन्तन करना और राम की तरह ही प्रसन्न रहना।'

हिमालय में उन्होंने संन्यास लिया। हिमालय की उपत्यकाओं में उन्होंने दर्शन शास्त्रों का अध्ययन किया और अन्त में हिमालय की गोद में ही वे चिर-निद्रा में लीन हो गये।

स्वामी रामतीर्थ वेदान्ती संन्यासी थे। उन्होंने वेदान्त का प्रचार किया। जापान, अमरीका और मिश्र में उन्होंने जो भाषण दिये, उनमें वेदान्त का भाग अधिक रहता था। उनका कहना था कि वेदान्त दुनिया के काम-काज में भाग लेने और कर्तव्य पालन की शिक्षा देता है। वेदान्त संसार छोड़कर जंगलों में जाकर आलसियों की तरह पड़े रहने को निन्दनीय मानता है।

स्वामी रामतीर्थ निष्काम भाव से कार्य करने में विश्वास रखते थे। जगत-प्रेम प्रसन्नता और निर्भयता उनके जीवन के मुख्य आधार थे और वे समस्त संसार के प्राणियों में इन गुणों को लाने के लिये प्रयत्नशील रहे।

स्वामी रामतीर्थ का कहना था कि वेदान्त हमें केवल मनुष्यों से ही प्रेम करना नहीं सिखाता किन्तु पशुओं और प्रकृति का भी प्रेमी बनाता है। उनका यह भी कहना था कि मनुष्यों के दिलों को जीतने का एकमात्र उपाय यह है कि हम उनको प्यार करें और उनके साथ आत्मीयता बरतें। 'प्रेम की व्याख्या करते हुए तो स्वामी रामतीर्थ ने एक स्थान पर लिखा है—'भगवान का सबसे प्यारा नाम प्रेम है'।

वे कहते थे—संसार में हमारा कोई पराया नहीं बल्कि सब हमारे भाई बहिन हैं। हमें चाहिये कि किसी का बुरा न चाहें। बल्कि सबका भला चाहें और उनकी सेवा के लिये तैयार रहें। वे अपने पास रहने वालों को यही कहते थे कि मनुष्य और प्रकृति से प्यार करने का अभ्यास करो।

वेदान्त के अनुसार स्वामी जी आत्म निर्भरता पर बहुत बल देते थे। उनका कहना था—'आत्मा के मुकाबले में यह जमीन कुछ नहीं।' सांसारिक वस्तुओं की दासता को वह मनुष्य का पतन समझते थे। उनका कहना था—'निडर होकर कठिनाइयों का सामना करो। कठिनाइयों के मुकाबले पर डट जाओ तो सफल होगे। लेकिन सावधान रहो कि दुनियावी चीजो या आदमियों का मोह तुम्हें फंसा न ले।'

स्वामी रामतीर्थ कहते थे—'अन्दर की रोशनी में रहो। दुनिया इधर की उधर हो जाय, मौत सामने आए, पर निडर होकर विवेक की आवाज पर वफ़ादार रहो।'

उनके ये विचार वेदान्त का ही प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना था—'हम आप किसी चीज के भी मालिक नहीं, ऐसा समझना वेदान्त है'।'

हिमालय के सन्त—

गत बारह तेरह वर्षों से मैं हिमालय के तीर्थों एवं रमणीक स्थानों के भ्रमण के लिये जाता रहा हूं। मैंने बदरीनाथ की तीन बार यात्रा की। गंगोत्तरी एवं यमुनोत्तरी भी गया। जिस समय भी मैं यात्रा के लिये गया मेरे मन में बराबर यह विचार आया कि मैं उन साधु महात्माओं का साक्षात्कार करूं जो ऊंचे ऊंचे पर्वत शिखरों की गुफाओं में निवास करते हुये ब्रह्म-चिन्तन में लीन हैं।

इधर जब अपनी यात्रा से वापिस आता था तो मेरे मित्र पूछते थे—'तुमने कोई पहुंचा हुआ योगी, महात्मा या सिद्ध पुरुष भी देखा ?'

एक बार मेरे एक मित्र ने प्रश्न किया 'किसी महात्मा ने तुम्हें यह भी बताया कि भारत और पाकिस्तान का युद्ध होगा या नहीं ?' उनकी इस बात के सम्बन्ध में इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मुझ से यह बात उस समय पूछी गई थी, जब मैं १९५६ मे गंगोत्तरी की यात्रा से वापिस आया था। संयोगवश उस यात्रा के समय मैंने एक महात्मा से प्रश्न किया था और उन्होंने उस समय कहा था—'युद्ध होने में अभी देर है।' मैंने अपने मित्र के इस प्रश्न की चर्चा अपने एक लेख में भी की थी।

मेरे एक अन्य मित्र ने पूछा था—'तुमने कोई ऐसा महात्मा भी देखा जिसने ईश्वर का साक्षात्कार किया हो ?' इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है क्योंकि हिमालय में घूमते फिरते ऐसे अनेक साधु मिल जाते हैं जो कहते हैं—'हमने तो भगवान से ही नाता जोड़ लिया है।' भविष्य की बात बताने वाले भगवा वस्त्र धारण किये मुझे हरिद्वार में ही ऐसे अनेक साधु महात्मा मिलते रहे हैं। मैं इनको ज्योतिष विद्या का पेशा करने वाला मानता हूं।

हिमालय की उन्नत शिखरों की गुफाओं में साधना करने वाले महात्मा इन सब बातों के झगड़े में नहीं पड़ते। इन महात्माओं में कई प्रकार के योगी हैं। कुछ

योगी ऐसे हैं जो केवल शास्त्र-चिन्तन के लिये अपनी कुटियों में निवास करते हैं। कुछ ऐसे हैं जो संसार से विरक्त होकर हिमालय में रहने लगे हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो योग साधना के लिये गुफाओं और कुटियों में निवास कर रहे हैं। इनमें से अधिकांश हठ-योगी महात्मा हैं।

मैं जब १९५२ ई० में बदरीनाथ यात्रा के लिये गया था, उस समय जोशीमठ की शंकर गुफा में मुझे एक महात्मा के दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ था। यह धूनी रमाते थे। आग के सहारे नग्न रहते थे। इनका शरीर बड़ा पतला दुबला था और सिर के बाल पैरों से भी नीचे पहुंचते थे। उनकी आयु सवा सौ वर्ष बताई गई। इनकी गुफा में दर्शनार्थी बराबर आते जाते रहते थ। उनके बारे में हमें बताया गया कि यह महात्मा किसी से कुछ नहीं कहते। मन में आता है तो किसी किसी को अपना आशीर्वाद दे देते हैं। खेद है कि अब इनका निधन हो गया।

बदरीनाथ में हमें कई महात्माओं के दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ। अलकनन्दा के तट से कुछ ऊंचाई पर हमें परमानन्द अवधूत नाम के योगी के दर्शन करने का अवसर मिला। वे केवल एक श्वेत-कोपीन धारण करते हैं। इनकी गुफा को भी हमने देखा। उसमें एक प्रकार की पहाड़ी घास बिछी थी जिसके सम्बन्ध में बताया गया कि यह शरीर को गर्म रखती है। वे बिना किसी वस्त्र के उसी घास पर सोते थे। मुझे इनके सम्बन्ध में ऐसा जान पड़ा कि इन्होंने साधना करके अपने शरीर को ऐसा बना लिया है जिसपर शीत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बारहों मास वे बदरीनाथ में ही रहते हैं। मंदिर के पट बन्द हो जाने पर भी वे नीचे नहीं आते। दूध, फल या अनाज जो भी मिल जाता है, खा लेते हैं। यात्रा की समाप्ति पर बहुत से श्रद्धालु भक्त इनके पास खाने पीने की सामग्री छोड़ आते हैं।

इनकी तरह एक और महात्मा भी बदरीनाथ में ही रहते थे। अब उनका निधन हो गया है। उन्होंने भी हठ योग द्वारा अपने शरीर को ऐसा बना लिया था जिसपर शीत का कोई प्रभाव न पड़ता था।

गंगोत्तरी यात्रा के समय मुझे मार्ग में उत्तरकाशी ठहरने का अवसर मिला। यहां मैंने अनेक ऐसे महात्माओं से भेंट की जो शरीर साधना में लगे थे। गंगा के दूसरी ओर स्वामी विष्णुदत्त एक ऐसे महात्मा हैं जो शरीर साधना करते हैं। इनके सम्पूर्ण शरीर की त्वचा बड़ी मोटी दिखाई देती है। प्रातःकाल के समय यह महात्मा गंगा के बर्फ जैसे शीतल जल में खड़े होकर सूर्य की उपासना करते हैं। इनको किसी से कुछ मतलब नहीं। नग्न रहते हैं। जो व्यक्ति सबसे पहले इनके पास भोजन की कोई वस्तु लेकर पहुंचता है, उसी से वे लेते हैं। कम होने पर भी उसी में संतुष्ट रहते हैं। मैं उनको हठ योगी मानता हूं।

उत्तरकाशी में मुझे स्वामी तपोवन महाराज से भी भेंट करने का अवसर मिला था। उन्होंने सरकारी पद से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् संन्यास लिया था। अंग्रेजी और संस्कृत के वे बड़े विद्वान थे। इन्होंने 'श्री गंगोत्तरी क्षेत्र माहात्म्यम्', 'श्री सोम्यकाशीशस्तोत्र' तथा 'श्री बदरीशस्तोत्र' आदि भक्ति व ज्ञानमय पुस्तकों की रचना की। वे संस्कृत के सुयोग्य कवि माने जाते थे। साधु महात्मा उनका बड़ा आदर करते थे। साधारण चटाई बिछाकर वे एक कम्बल में ही अपना शीतकाल बिताते थे। १६ जनवरी सन् १९५७ में इनका निधन हो गया था। स्वामी शंकराचार्य की जन्मभूमि कालडी में उनका जन्म हुआ था। उन्होंने तीस वर्ष तक हिमालय में निवास किया।

गंगोत्तरी में मुझे स्वामी कृष्णाश्रम जी महाराज के दर्शन करने का अवसर मिला। यह बारहों मास गंगोत्तरी में नग्नावस्था में रहते हैं। इन्होंने मौन धारण किया हुआ है। भक्तजन के प्रश्नों का उत्तर लिखकर देते हैं। इनकी आयु सवा सौ वर्ष से अधिक बताई गई। हमें बताया गया कि जिस समय महामना पंडित मदन मोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी की आधारशिला रखाई थी, उस समय वे इनको आग्रहपूर्वक काशी ले गये थे। यात्रा के काल में इनके यहां सत्संग सा लगा रहता है।

इनकी कुटी से कुछ दूर ऊपर की तरफ एक गुफा में स्वामी रामानन्द नाम के योगी रहते हैं। यह भी नग्न रहते हैं। अग्नि तापते हैं। इनसे मुझे देर तक वार्तालाप करने का अवसर मिला। सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में इन्होंने कहा — 'यह ब्रह्माण्ड तो उसी भगवान का बनाया हुआ है और हम सब मानव प्राणी अपने कर्मों के अनुसार इसमें विचरण कर रहे है।' मेरे विचार से इन्होंने शास्त्रों का अच्छा अध्ययन किया है।

यह महात्मा बारहों मास गंगोत्तरी में ही रहते है। जब हमने पूछा—आप शीत ऋतु में यहां किस प्रकार जीवन व्यतीत करते है तो उन्होंने उत्तर दिया कि बहुत से भक्तजन फल, मेवा, आटा और चीनी दे जाते हैं। उन्हीं से हम अपना चार पांच मास तक निर्वाह करते है। वह कहने लगे—'हमने अपने शरीर को ऐसा बना लिया है कि यदि कई कई दिन कुछ खाने को नहीं मिले तो हमें भूख नहीं सताती।'

उन्होंने अपने वहां रहने के सम्बन्ध में भी कई बाते बताईं। वे कहने लगे जब बर्फ पड़ती है तब हम अपनी गुफा में पड़े रहते है। धूप निकलने पर हम गुफा से बाहर आ जाते है। बर्फ को लकड़ी के एक टुकड़े से हटाकर मार्ग बना लेते है।

स्वामी रामानन्द से जब हमने पूछा कि आपकी आयु कितनी होगी तो वे कहने लगे—'साधु की आयु पूछकर तुम क्या लोगे ?'

इनके सिर की लम्बी लम्बी श्वेत जटाओं को देखकर ऐसा लगता था कि इनकी आयु सौ सवा सौ वर्ष से अधिक है।

गंगोत्तरी में हमें बताया गया कि गोमुख के समीप भुजवासा में एक और साधु रहते हैं। उनके दर्शनों के लिये हम वहां जा न सके। अब विदित हुआ है कि शीत लहर में फंसकर उनका देहावसान हो गया।

गोमुख के समीप भुजवासा में कुछ वर्षों से स्वामी सदाशिवाश्रम जी भी रहते हैं। यह अभी युवा हैं। योग साधना में लगे हैं। मुझे इनसे कई बार भेंट करने का अवसर मिला। संस्कृत के विद्वान हैं। इनके बारे में पता चला कि दो वर्ष पूर्व यह भी बर्फ की शीत लहर में फंसकर चेतनाशून्य हो गये थे। कुछ पर्वतीय भाइयों ने इनको गंगोत्तरी लाकर चेतनावान किया था।

हिमालय के अनेक स्थानों में और भी योगी एवं संन्यासी रहते हैं। मैं उन सबसे भेंट नहीं कर पाया।

यहां स्व० स्वामी शिवानंद सरस्वती के शुभ नाम का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। उन्होंने ऋषिकेश में योग साधना के लिए शिवानन्द आश्रम बनाकर न केवल अपने देशवासियों का किन्तु विदेशियों का भी योग की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने योग वेदान्त फ़ारेस्ट एकेडमी की स्थापना करके योग और दर्शन शास्त्रों पर बहुत सा साहित्य प्रकाशित किया। युरोप के अनेक देशों में उनके शिष्य हैं और वहां वे उनके विचारों का प्रचार कर रहे हैं।

उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वामी चिदानन्द जी महाराज ने इस महत्वपूर्ण कार्य को संभाला है।

ऋषिकेश के समीप बालयोगी प्रेमवर्णी जी भी योग साधना में लगे हैं। इस तरह से और भी अनेक योगी और महात्मा हिमालय के नाम को उज्ज्वल कर रहे हैं।

हिमालय में

कैलाश मानसरोवर

अमरनाथ

बदरीनाथ

केदारनाथ

यमुनोत्तरी

गंगोत्तरी और गोमुख

कश्मीर

वैष्णवी देवी (कश्मीर)

मसूरी और शिमला

हिमालय के तीर्थ

तीर्थ और उनका फल—

हिमालय में हमारे अनेक तीर्थ अवस्थित हैं। हिमालय में देवताओं का वास रहा और ऋषियों ने तपस्या की। इस कारण हिमालय के तीर्थों की यात्रा एक विशेष महत्व रखती है।

पौराणिक विचारानुसार तीर्थों में जाने से मुक्ति मिलती है। पुराणों में प्रत्येक तीर्थ का अलग अलग महत्व वर्णन किया गया है। हिमालय से प्रवाहित गंगा की महिमा का जो वर्णन पुराणों में आया है, उसे पढ़कर तो ऐसा प्रतीत होता है कि गंगा सब पापों का विनाश करने वाली है। नारद पुराण में आया है—

सप्तवारान् सप्तपरान सप्ताप्य परतः परान् ।
गङ्गा तारयते पुंसां प्रसंगेनापि कीर्तिताः ॥

इसका भावार्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति पारस्परिक वार्तालाप में गंगा का नाम लेता है तो उसकी निचली सात पीढ़ियां और ऊपर की चौदह पीढ़ियां तर जाती हैं। तीर्थों के सम्बन्ध में स्कन्द पुराण में आया है—

तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्धधानः समाहितः ।
कृतपापो विशुद्धचेत किं पुनः शुद्धकर्मकृत ॥

जो तीर्थों का सेवन करने वाला धैर्यवान श्रद्धायुक्त और एकाग्रचित्त है, वह यदि पहले का पापाचारी हो तो भी शुद्ध हो जाता है, फिर जो शुद्ध कर्म करने वाला है, उसकी तो बात ही क्या है।

अश्रद्धधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः ।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ॥

जो अश्रद्धालु है, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्क में ही डूबा रहता है—ये पांच प्रकार के मनुष्य तीर्थ के फल को प्राप्त नहीं करते।

नारद पुराण में तीर्थ यात्रा के सम्बन्ध में यहां तक कह दिया गया है—

तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना संचरन्ति ये ।
सर्वद्वन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो यथोक्तविधि से तीर्थ यात्रा करते हैं, सम्पूर्ण द्वन्दों को सहन करने वाले वे धीर पुरुष स्वर्ग में जाते हैं ।

पुराणों में भक्तों, गुरुओं, माता पिता, पति और पत्नी को भी तीर्थों में गिना है । भक्त के सम्बन्ध में युधिष्ठिर भक्तश्रेष्ठ विदुर जी से कहते हैं ।

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ।।

—श्रीमद्भागवत १ । १३ । १०

'आप जैसे भागवत–भगवान् के प्रिय भक्त स्वयं ही तीर्थ रूप होते हैं । आप लोग अपने हृदय में विराजित भगवान् के द्वारा तीर्थों को महातीर्थ वनाते हुए विचरण करते हैं ।'

पद्मपुराण में गुरु के सम्बन्ध में लिखा है—

दिवा प्रकाशकः सूर्यः शशी रात्रौ प्रकाशकः ।
गृहप्रकाशको दीपस्तमोनाशकरः सदा ।।
रात्रौ दिवा गृहस्यान्ते गुरुः शिष्यं सदैव हि ।
अज्ञानाख्यं तमस्तस्य गुरुः सर्वं प्रणाशयेत ।।
तस्माद् गुरुः परं तीर्थं शिष्याणामवनीपते ।

—पद्मपुराण, भूमिखण्ड ८५ । १२–१४

सूर्य दिन में प्रकाश करते हैं, चन्द्रमा रात्रि में प्रकाशित होते हैं और दीपक घर में उजाला करता है तथा सदा घर के अंधेरे का नाश करता है; परन्तु गुरु अपने शिष्य के हृदय में रात-दिन सदा ही प्रकाश फैलाते रहते हैं । वे शिष्य के सम्पूर्ण अज्ञानमय अन्धकार का नाश कर देते हैं । अतएव राजन् ! शिष्यों के लिये गुरु ही परम तीर्थ हैं ।

माता और पिता के सम्बन्ध में कहा गया है—

नास्ति मातृसमं तीर्थं पुत्राणां च पितुः समम् ।
तारणाय हितायैव इहैव च परत्र च ।।
वेदैरपि च किं विप्र पिता येन न पूजितः ।
माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः ।।
एष पुत्रस्य वै धर्मस्तथा तीर्थं नरेष्विह ।
एष पुत्रस्य वै मोक्षस्तथा जन्मफलं शुभम् ।।

—पद्मपुराण, भूमिखण्ड ६३ । १४, १६, २१

पुत्रों के इस लोक और परलोक के कल्याण के लिये माता-पिता के समान कोई तीर्थ नहीं है । माता-पिता का जिसने पूजन नहीं किया, उसे वेदों से क्या

प्रयोजन है ? (उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है।) पुत्र के लिये माता-पिता का पूजन ही धर्म है, वही तीर्थ है, वही मोक्ष है और वही जन्म का शुभ फल है।

पति को तीर्थ मानते हुये पद्मपुराण में आया है—

सव्यं पादं स्वभर्तुश्च प्रयागं विद्धि सत्तम ।
वामं च पुष्करं तस्य या नारी परिकल्पयेत् ॥
तस्य पादोदकस्नानात् तत्पुण्यं परिजायते ।
प्रयागपुष्करसमं स्नानं स्त्रीणां न संशयः ॥
सर्वतीर्थमयो भर्ता सर्वपुण्यमयः पतिः ॥

—पद्मपुराण ४१ । १२–१४

जो स्त्री अपने पति के दाहिने चरण को प्रयाग और बायें चरण को पुष्कर समझकर पति के चरणोदक से स्नान करती है, उसे उन तीर्थों के स्नान का पुण्य होता है। ऐसा स्नान प्रयाग तथा पुष्कर में स्नान करने के सदृश है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पति सर्वतीर्थमय और सर्वपुण्यमय है।

पत्नी का तीर्थ रूप में वर्णन करते हुये पद्मपुराण में कहा गया है—

सदाचारपरा भव्या धर्मसाधनतत्परा ।
पतिव्रतरता नित्यं सर्वदा ज्ञानवत्सला ॥
एवंगुणा भवेद् भार्या यस्य पुण्या महासती ।
तस्य गेहे सदा देवास्तिष्ठन्ति च महौजसः ॥
पितरो गेहमध्यस्थाः श्रेयो वाञ्छन्ति तस्य च ।
गङ्गाद्याः सरितः पुण्याः सागरास्तत्र नान्यथा ॥
पुण्या सती यस्य गेहे वर्तते सत्यतत्परा ।
तत्र यज्ञाश्च गावश्च ऋषयस्तत्र नान्यथा ॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यानि विविधानि च ।
नास्ति भार्यासमं तीर्थं नास्ति भार्यासमं सुखम् ।
नास्ति भार्यासमं पुण्यं तारणाय हिताय च ॥

—पद्मपुराण, भूमिखण्ड ५९ । ११–१५, २८

जो सब प्रकार से सदाचार का पालन करने वाली, प्रशंसा के योग्य आचरण वाली, धर्म-साधन में लगी हुई, सदा पातिव्रत्य का पालन करने वाली तथा ज्ञान की नित्य अनुरागिणी है, ऐसी गुणवती पुण्यमयी महासती जिसके घर में पत्नी हो, उसके घर में सदा देवता निवास करते है, पितर भी उसके घर में रहकर सदा उसके कल्याण की कामना करते हैं। जिसके घर में ऐसी सत्यपरायणा पवित्रहृदया सती रहती है, उस घर में गंगा आदि पवित्र नदियां, समुद्र, यज्ञ, गौएं, ऋषिगण तथा सम्पूर्ण विविध

अनन्त तीर्थ रहते हैं। कल्याण तथा उद्धार के लिये भार्या के समान कोई तीर्थ नहीं है, भार्या के समान सुख नहीं है और भार्या के समान पुण्य नहीं है।*

महर्षि दयानन्द स्वामी ने तीर्थ के सम्बन्ध में लिखा है—

"तीर्थ जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं, उन्हीं को तीर्थ मानता हूं इतर जलस्थलादि को नहीं।"†

वैदिक धर्मानुसार केवल किसी विशेष नदी के जल में स्नान कर लेने से मनुष्य पाप से मुक्त नहीं हो सकता। ऐसे ही किसी धर्म विशेष स्थान या तीर्थ स्थान के दर्शन कर लेने मात्र से मनुष्य मुक्ति नहीं पा सकता। इन सबके लिए तो मनुष्य को पवित्र जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता है।

पुराणों में भी जहां मानस तीर्थ का विवेचन किया गया है वहां आया है—

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥

सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियों पर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है।

दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥

दान तीर्थ है, मन का संयम तीर्थ है, संतोष भी तीर्थ कहा जाता है। ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है और प्रिय वचन बोलना भी तीर्थ है।

ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥

ज्ञान तीर्थ है, धैर्य तीर्थ है, तप को भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थों में भी सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है अन्तःकरण की आत्यन्तिक विशुद्धि।

न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥

जल में शरीर को डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने दमरूपी तीर्थ में स्नान किया है—मन इन्द्रियों को वश में कर रक्खा है, उसी ने वास्तव में स्नान किया है। जिसने मन का मल धो डाला है, वही शुद्ध है।

---

*कल्याण का तीर्थाङ्क पृष्ठ ३२

†सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ६२७.

यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः ।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः ॥

जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्बल है, दम्भी है और विषयासक्त है, वह सब तीर्थों में स्नान करके भी पापी और मलिन ही रह जाता है।

न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः ।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः ॥

केवल शरीर के मैल को उतार देने से ही मनुष्य निर्मल नहीं हो जाता। मानसिक मल का परित्याग करने पर ही वह भीतर से अत्यन्त निर्मल होता है।

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥

ध्यान के द्वारा पवित्र तथा ज्ञानरूपी जलसे भरे हुए, राग-द्वेष रूप मल को दूर करने वाले मानस-तीर्थ में जो पुरुष स्नान करता है, वह परम गति—मोक्ष को प्राप्त होता है।*

——स्कन्दपुराण, काशीखण्ड; अध्याय ६

हिमालय की सम्पूर्ण भूमि तीर्थ स्वरूपा मानी गई है। सम्पूर्ण भारत के नर-नारी हिमालय में अवस्थित तीर्थों की यात्रा करते आये है। भारतीय हिन्दू श्रद्धा के बल पर ही तीर्थ-यात्रा की परम्परा अब तक अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है।

हिमालय से सम्बन्धित मानसरोवर और कैलास ऐसे तीर्थ है जो अब चीन के अधिकार में है। पहले कभी ये भारत के साथ ही सम्बन्धित थे। उसके उपरान्त इन पर तिब्बत का स्वामित्व हुआ और अब जब से चीन ने तिब्बत को अपने अधिकार में लिया है, तब से ये तीर्थ चीन के अन्तर्गत है।

इन तीर्थो के प्रति करोड़ों भारतीय नर-नारियों की आस्था रही है। इन कारण इनका संक्षिप्त रूपमें वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

हिमालय में अवस्थित तीर्थो की यात्राओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—मानसरोवर कैलास यात्रा (तिब्बत क्षेत्र)

२—अमरनाथ (कश्मीर क्षेत्र)

३ यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ (उत्तराखंड)

४—मुक्तिनाथ और पशुपतिनाथ (नेपाल)

*कल्याण का तीर्थाङ्क पृष्ठ ३०

मानसरोवर-कैलास—

हिमालय की यात्राओं में मानसरोवर कैलास की यात्रा सबसे कठिन मानी गई है। इस यात्रा में यात्री को लगभग तीन सप्ताह तक तिब्बत प्रदेश में चलना पड़ता था।

मानसरोवर कैलास पहुंचने के अनेक मार्ग हैं। कश्मीर से लद्दाख होकर जाने वाला मार्ग, नैपाल से मुक्तिनाथ होकर जाने वाला मार्ग, डरमा घाटी से जाने वाला मार्ग और गंगोत्तरी से जाने वाला मार्ग साधारण यात्रियों के लिये दुष्कर मार्ग है। इन क्षेत्रों में भेड़ बकरी चराने वाले या साधु महात्मा ही मानसरोवर कैलास जा सकते हैं।

साधारण यात्रियों के लिये नीचे लिखे मार्ग सुविधाजनक हैं—

१. पूर्वोत्तर रेलवे के टनकपुर रेलवे स्टेशन से मोटर बस द्वारा पिथौरागढ़ जाकर 'लीपू' नाम की घाटी से पैदल यात्रा करनी होती है।

२. काठगोदाम रेलवे स्टेशन से मोटर बस द्वारा कपकोट (अलमोड़ा) जाकर ऊटा, जयन्ती और कुंगरी-बिंगरी घाटियों की पैदल यात्रा करके आगे जाना होता है।

३. ऋषिकेश से मोटर बस द्वारा जोशीमठ जाकर नीति घाटी से पैदल जाना होता है।

भारत और चीन में युद्ध होने पर अब ये सब मार्ग बन्द कर दिये गये हैं।

पुराणों में मानसरोवर माहात्म्य का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। महाभारत में आया है—

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानसं तीर्थमुत्तमम्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् रुद्रलोके महीयते॥
महा० वन० ८२

इसका अभिप्राय यह है कि पितामह और सावित्री तीर्थ के पश्चात् मानसरोवर को जाय। यहां स्नान करके मनुष्य रुद्र लोक में प्रतिष्ठित होता है।
वाल्मीकि रामायण में कैलास का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

कैलास पर्वते राम मनसा निर्मितं परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः॥
वाल्मीकि बाल० २४/८

विश्वामित्र राम से कहते हैं—राम! कैलास पर्वत पर ब्रह्मा की इच्छा से निर्मित एक सरोवर है। मन से निर्मित होने के कारण इसका नाम मानस सर या मानसरोवर है।

पुराणों में कैलास को देवता, सिद्ध और महात्माओं का निवास स्थल बताया गया है। 'स्कन्द पुराण' में कैलास की उत्पत्ति विष्णु के नाभिपद्म से वर्णित की गई है। परन्तु ऐसा होना मानव प्रकृति-नियम के विरुद्ध समझा जाता है। महाकवि कालिदास ने कैलास की हिमाच्छादित चोटियों को आकाश का कमल बताया है।

प्राचीन साहित्य में हिमालय के अनेक उन्नत शिखरों के नाम आये हैं। इनमें मेरू, सुमेरू, चौखम्भा, बन्दरपूंछ, भरतखूंट, नदागिरि, धौलागिरि, द्रोणगिरि, आदित्यगिरि और गौरीशंकर विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कैलास को विशेष महत्व दिया जाता है।

मानसरोवर–कैलास यात्रा के मार्गों का विवरण देना अब उचित नहीं क्योंकि ये तीर्थ अब सैनिक महत्व के ऐसे स्थान समझे जाते हैं, जिनका विवरण नहीं दिया जाना चाहिये। केवल इनका संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है।

मानसरोवर–कैलास यात्रा में लगभग डेढ़ दो मास का समय लगता था। लगभग साढ़े चार सौ मील पैदल या घोड़े, याक आदि की पीठ पर चलना होता था। यात्री अपनी भोजन सामग्री साथ ले जाते थे। रात्रि-विश्राम के लिये तम्बू साथ में रखने पड़ते थे।

यात्री का सहायक कुली और टट्टू

हिमालय को पार करके तिब्बत क्षेत्र में तीस मील जाने पर पर्वतों से घिरे दो बड़े सरोवर मिलते हैं। इनमें से एक का नाम राक्षसताल है और दूसरे का मानसरोवर। राक्षसताल का विस्तार अधिक है। पुराणों की कथा के अनुसार यहां रावण ने देवाधिदेव भगवान् शंकर की आराधना की थी।

मानसरोवर का आकार गोल या अण्डाकार है। उसका घेरा बाईस मील का बताया जाता है। इसका जल अत्यन्त स्वच्छ है। मानसरोवर में हंस बहुत हैं। राज-हंस भी हैं। कहा जाता है कि ये पर्याप्त ऊंचाई तक उड़ सकते हैं।

मानसरोवर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें मोती होते हैं जिन्हें हंस चुगते हैं। परन्तु यात्रा करने वालों का कहना है कि उन्हें वहां मोती दिखाई नहीं दिये। उसके तट पर रंग बिरंगे पत्थर के टुकड़े और कभी २ स्फटिक के छोटे टुकडे मिलते हैं। मानसरोवर का जल अधिक शीतल नहीं। यात्री उसमें सुविधापूर्वक स्नान करते हैं।

कैलास मानसरोवर से लगभग बीस मील दूर है। उसके दर्शन मानसरोवर पहुंचने से पहले ही होने लगते हैं। कुंगरी बिंगरी की चोटी पर पहुंचते ही कैलास के दर्शन हो जाते हैं।

कैलास के शिखर की ऊंचाई समुद्रतल से १६००० फुट मानी जाती है। पूरे कैलास की यात्रा ३२ मील की मानी गई है। पुराणों के अनुसार कैलास की आकृति एक विराट शिव लिङ्ग जैसी है जो पर्वतों से बने एक षोडशदल कमल के मध्य स्थित है। शिव लिङ्गाकार कैलास पर्वत कसौटी के ठोस काले पत्थर का है। तिब्बती लोग कैलास और मानसरोवर की यात्रा को बड़ा महत्व देते हैं। वे इनकी परिक्रमा भी करते हैं।

मानसरोवर-कैलास यात्रा के सम्बन्ध में स्वामी प्रणवानन्द जी ने अंग्रेजी में एक उत्तम ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रंथ का प्रकाशन १६४६ ई० में हुआ। इस ग्रंथ के सम्बन्ध में स्व० पं० जवाहर लाल नेहरू ने कुछ शब्द लिखे हैं। इसमें उन्होंने प्रगट किया है कि मैंने अनेक बार तिब्बत के इस आश्चर्यजनक सरोवर और हिमाच्छादित कैलास के दर्शन करने का विचार बनाया परन्तु अन्य यात्राओं में व्यस्त रहने के कारण मैं उसे अमल में न ला सका।

नेहरू जी ने स्वामी प्रणवानन्द जी की पुस्तक का स्वागत करते हुए लिखा है— 'मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूं जो हमें उन पर्वतों का ज्ञान कराती है जिन्हें मैंने प्यार किया है और उस सरोवर (मानसरोवर) का जिसका मैं स्वप्न देखता रहा हूं।' नेहरू जी ने हिमालय को परम प्रिय हिमालय बताया है।

स्वामी प्रणवानन्द जी महाराज मानसरोवर-कैलास यात्रा के कुशल पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं। इन तीर्थों की सबसे पहले उन्होंने १६२८ में यात्रा की।

श्रीनगर (कश्मीर) की ओर से लद्दाख होते हुये वे मानसरोवर-कैलास गये थे। १६३५ में उन्होंने गंगोत्तरी के समीपवर्ती मुखवा से नेलंग घाटी मार्ग से यात्रा की। १६३७ और १६३८ ई० में वे अल्मोड़ा की ओर से गये। इसके उपरान्त प्रायः प्रतिवर्ष वे इन पवित्र तीर्थ स्थानों की यात्रा करते रहे।

स्वामी जी ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि मानसरोवर-कैलाश को तिब्बत निवासी पवित्रतम मानते हैं। उन्होंने तिब्बत भाषा में इस पर बहुत-सा साहित्य भी लिखा है।

तिब्बती कैलास और मानसरोवर की साष्टाङ्ग दण्ड-प्रदक्षिणा करते हैं। इनमें से कुछ अन्धविश्वासी भक्त तो तेरहबार तक यात्रा करते हैं। कुछ तिब्बती कैलास की परिक्रमा एक ही दिन में पूर्ण कर लेते हैं। धनी वर्ग के बारे में स्वामी जी का कहना है कि वे दूसरे गरीब व्यक्तियों, भिखारियों या कुलियों से अपने नाम पर परिक्रमा कराके कैलास-परिक्रमा का फल प्राप्त करते हैं।

स्वामी जी ने अपने कैलास-मानसरोवर ग्रन्थ में उन सभी बातों का बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन किया है जो इनसे सम्बन्ध रखती है। उन्होंने अपने ग्रंथ में अनेक मूल्यवान फोटो चित्र एवं रेखाचित्र आदि भी दिए हैं। उन रेखाचित्रों में से कुछ का प्रकाशन सरकार द्वारा अब सामरिक दृष्टि से वर्जित कर दिया गया है। ऐसे उपयोगी ग्रंथ की रचना में स्वामी जी ने जो परिश्रम किया, वह निस्सन्देह सराहनीय है।

अमरनाथ यात्रा—

हिमालय में अवस्थित अमरनाथ हिन्दुओं का परम पावन तीर्थ माना गया है। यह तीर्थ कश्मीर राज्य के अन्तर्गत है। श्रावणी पर्व (रक्षाबंधन) पर यहां पूर्णिमा को एक बड़ा मेला लगता है। उस समय ही अमरनाथ के दर्शन करने का माहात्म्य माना जाता है।

अमरनाथ यात्रा कश्मीर के श्रीनगर से प्रारम्भ होती है। यह स्थान श्रीनगर से ८७ मील दूर है। यात्री यहां शिवलिङ्ग दर्शन के लिये जाते हैं।

श्रीनगर से पहलगांव तक मोटर बसें जाती हैं। पहलगाव से २८ मील पैदल या घोड़े, टट्टुओं पर यात्रा करनी होती है। पहलगाव से ८ मील पर चन्दनवाड़ी नाम की चट्टी पड़ती है। यात्री प्रथम दिन यहां विश्राम करते हैं। इससे आगे सात मील दूरी पर शेषनाग चट्टी है। इससे आगे का मार्ग चढ़ाई का है १४७०० फुट की ऊंचाई तक ऊपर चढ़ना होता है। इसे महागुनस की चढ़ाई कहते हैं। यहां अनेक ग्लेशियर मिलते हैं। यहां की पर्वत श्रेणियां हिमाच्छादित दृष्टि पड़ती हैं। यहां से पचतरणी तक पांच मील उतराई में चलना पड़ता है। यहां गंगा की पांच धाराएं मानी गई हैं। यात्री इनमें स्नान करते हैं।

गंगा की धाराओं के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि गंगा गोमुख से निकलकर गंगोत्तरी की ओर से मैदान में आई है। परन्तु गंगा का नाम इतना पवित्र और प्रसिद्ध है कि हिमालय के अनेक शिखरों से निकलने वाली अनेक धाराएं भी गंगा नाम से पुकारी जाती हैं।

पंचतरणी की पांच धारायें जब आपस में मिल जाती हैं तब वे रामगंगा कहलाती हैं। यहां की रामगगा सिन्धु नदी में मिली है। पंचतरणी से तीन मील की चढ़ाई करनी पड़ती है। यह चढ़ाई काफी कठिन है। मार्ग बहुत दुर्गम है। इस मार्ग पर बहुत सावधानी से यात्रा करनी होती है। यहां से अंतिम यात्रा अमरनाथ गुफा की है। यह गुफा समुद्रतल से १६००० फुट ऊंचाई पर स्थित है। इस गुफा में जल की बूंदें शिवलिङ्ग पर पड़ती रहती हैं और उनसे शिवलिङ्ग बनता रहता है। यहां की अमरगङ्गा में स्नान करके यात्री शिवलिङ्ग दर्शन के लिये जाते हैं।

बूढ़ा अमरनाथ—

बूढ़ा अमरनाथ मंदिर कश्मीर के पूंछ नगर से १४ मील दूरी पर है। यह मंदिर श्वेत पत्थर से बना है। मंदिर के चारों ओर बावलियां बनी हैं। यहां अमरनाथ की मूर्ति के नीचे से जल निकला करता है और वह जल इन बावलियों में चला जाता है। यह स्थान पुलस्ता नदी के तट पर माना जाता है। कहा जाता है कि इस नदी के तट पर महर्षि पुलस्त्य का आश्रम था।

कश्मीर के अन्य मन्दिर—

श्रीनगर के समीप की एक पहाड़ी पर श्री आद्यशङ्कराचार्य द्वारा स्थापित शिवलिङ्ग है। इस पर्वत को शङ्कराचार्य कहते हैं। इस मंदिर तक पहुंचने में दो मील की कड़ी चढ़ाई करनी पड़ती है। यह मंदिर दो सहस्र वर्ष प्राचीन माना जाता है।

शङ्कराचार्य पर्वत के नीचे शङ्करमठ है। इस स्थान को दुर्गानाग मंदिर भी कहते हैं।

वैष्णवी देवी का मंदिर एक गुफा में बना है। यह स्थान जम्मू से ४६ मील उत्तर पश्चिम की ओर है। यहां कोई मंदिर नहीं बना है किन्तु गुफा को ही मंदिर मान लिया गया है। गुफा से जल बराबर बहता रहता है। इसे वाण गङ्गा कहते हैं। आश्विन नवरात्र में यहां मेला लगता है।

कश्मीर भारतीय सभ्यता का एक केन्द्र रहा है। यहां की केसर की क्यारियां, वन पर्वतों की सुषमा एवं प्राणप्रद जलवायु सदा से मानव हृदय को मोहित करती रही है।

कश्मीर की घाटियों में कवियों और महात्माओं ने सहस्रों वर्षों तक मनन, चिन्तन और धर्म शास्त्रों का सृजन किया। अब इस प्रदेश का कुछ भाग भारत और पाकिस्तान दो देशों के संघर्ष का रण-स्थल बना हुआ है। इस संघर्ष ने संसार के सभी देशों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया हुआ है। भारतीय जवान अपने इस पावन प्रदेश की रक्षा में पूर्णतया सतर्क हैं।

अब हम हिमालय में अवस्थित यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ एवं बदरीनाथ तीर्थों का वर्णन करेंगे। इन चारों तीर्थों की यात्रा का क्रम इसी प्रकार माना जाता है। इन तीर्थों के वर्णन में मार्ग में पड़ने वाले मुख्य २ स्थानों का परिचय भी दिया जा रहा है।

इन तीर्थों की यात्रा का प्रारम्भ हरिद्वार से होता है। यहीं से हजारों यात्री प्रति वर्ष इन तीर्थों की यात्रा के लिये जाते हैं। अतः हम पहले हरिद्वार का कुछ विवरण दे रहे हैं।

हरिद्वार—

हरिद्वार को पौराणिक भाई स्वर्ग द्वार या गंगा द्वार मानते हैं। हिमालय की उपत्यका में अवस्थित हरिद्वार हिन्दुओं का पावन तीर्थ माना जाता है। इतिहासकारों का कहना है कि भगीरथ के गंगा लाने से पूर्व भी यह स्थान योगी और महात्माओं की रम्य स्थली था। पुराणों के अनुसार यहां कपिल का आश्रम भी रहा।

पुराणों की कथा के अनुसार भगीरथ के गंगा लाने के पश्चात् यहां राजा श्वेत ने ब्रह्मा की आराधना की थी। ब्रह्मा ने उनको वरदान दिया था। तभी से 'हर की पैड़ी' कुण्ड का नाम 'ब्रह्म कुण्ड' हुआ। कहते हैं राजा विक्रमादित्य के भाई भर्तृहरि ने यहां तपस्या की थी। पुराणों में यहां दत्तात्रेय जी के तप करने की भी कथा आती है। कनखल के दक्षेश्वर महादेव मंदिर के साथ दक्ष प्रजापति की कथा जुड़ी है। हरिद्वार के भीमगोडे के समीप 'भीम' के तप करने की कथा का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार की और अनेक कथायें इस तीर्थ के साथ सम्बन्धित है।

चौदहवीं शताब्दी तक हरिद्वार महात्माओं का ही निवास स्थान बना रहा। इसके पश्चात् धीरे २ यह एक नगर के रूप में विकसित हुआ। इतिहास के अनुसार तैमूर लंग ने यहां १३९८ में 'कत्ले आम' (नागरिकों का वध) कराया था। सन् १७९६ में यहां 'हार्डविक' नाम का अंग्रेज आया था। उसने इसे हिमालय पर्वत की घाटी में स्थित एक छोटा सा स्थान बताया था। १८०१ ई० में एक दूसरे अंग्रेज 'रेपर' ने इसे डेढ़ फर्लाङ्ग लम्बी गली के रूप में बसा माना था। ४ जनवरी १८३३ को आर० एन० चावला ने हरिद्वार से बदरीनाथ तक की यात्रा हवाई जहाज द्वारा की थी।

यहां अनेक राजा महाराजा आते रहे। महारानी अहिल्याबाई ने भी इस तीर्थ की यात्रा की थी।

'काटले' नाम के एक अंग्रेज इंजीनियर ने यहां से गंगा की नहर निकाली है।

यहां दो सौ से अधिक मंदिर हैं। चण्डी देवी और मनसा देवी के मंदिर ऊंचाई पर बने हैं।
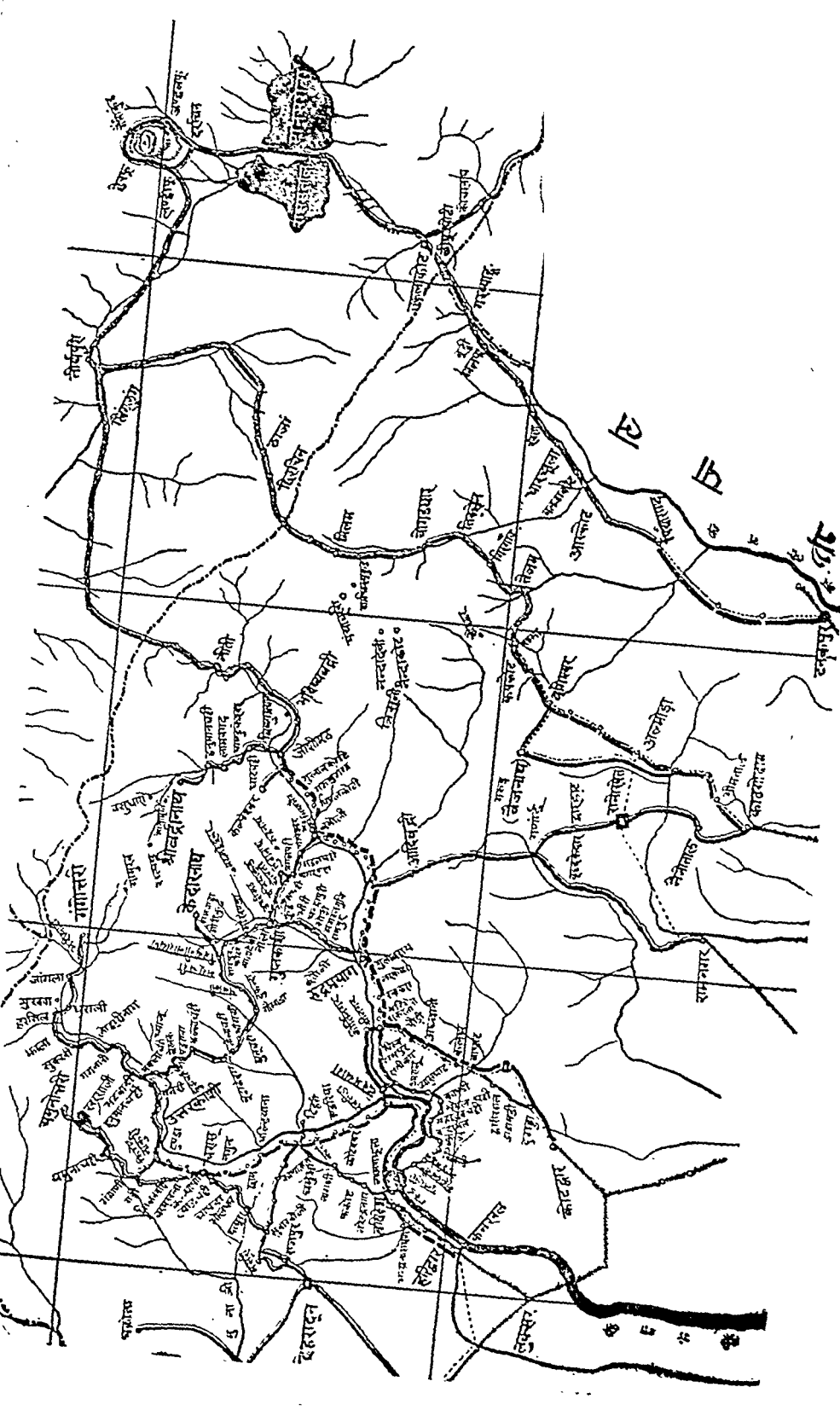
हरिद्वार में अनेक मंदिर, मठ और महन्तों के अखाड़े हैं। बारहवें वर्ष यहां कुम्भ का बड़ा भारी मेला लगता है। ब्रह्म कुण्ड में स्नान करने का पौराणिक बड़ा माहात्म्य मानते हैं। लाखों यात्री यहां स्नान के लिए आते हैं। यहां गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र है।

ऋषिकेश—

ऋषिकेश हरिद्वार से चौदह मील की दूरी पर बसा है। पहले यहां साधु, महात्मा योग साधना के लिए रहते थे। आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य ने भी अपने आगमन से इस स्थान को पवित्र किया। इसके साथ भी भारत का प्राचीन इतिहास जुड़ा हुआ है। कहा जाता है कि भगीरथ ने गंगा लाने के लिये यहीं से सघन वनों में प्रवेश किया था। वैसे यह स्थान भी किसी समय सघन वन ही था।

ऋषिकेश का विस्तार स्वर्गाश्रम और लछमन झूला तक माना जाता है। गंगा के इस ओर स्वामी शिवानन्द महाराज का योग निकेतन आश्रम है। दूसरी ओर स्वर्गाश्रम, गीता भवन एवं परमार्थ निकेतन संस्थाओं के अनेक भवन हैं। ग्रीष्म में यहां हजारों यात्री आते हैं।

लछमन झूला का इतिहास रामायण काल के साथ जुड़ा है। भगवान राम और लछमन इस मार्ग से हिमालय की ओर गये थे। लछमन ने यहीं कुछ समय तप भी किया था। उनकी स्मृति में गंगा को पार करने के लिए जो झूले का पुल बना, वह 'लछमन झूला' नाम से विख्यात हुआ। यहां पर लक्ष्मण मंदिर भी बना है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक मंदिर गंगा के दोनों ओर बन गये हैं।

मोटर सड़क बनने से पूर्व यहीं से केदारनाथ और बदरीनाथ की पैदल यात्रा की जाती थी।

रेखाचित्र—

हिमालय से सम्बन्धित इस रेखाचित्र में उत्तराखंड के प्रायः सभी प्रमुख तीर्थों की यथा स्थिति दिखाई गई है। इसमें राक्षसताल और तिब्बत क्षेत्र में स्थित मान सरोवर को भी दिखाया गया है। इस चित्र से हिमालय के तीर्थों की दिशा का पर्याप्त ज्ञान होता है। हरिद्वार से यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ मार्ग में पड़ने वाले मुख्य २ स्थान भी इस चित्र में दिखाये गये हैं। इसी प्रकार अलमोड़ा और पिथौरागढ़ जिलों से मानसरोवर को जाने वाला मार्ग भी दिखाया गया है। इससे पाठक यह जान सकेंगे कि हिमालय में मानसरोवर किस दिशा में अवस्थित है। इन दोनों मार्गों में पड़ने वाले कुछ प्रमुख स्थानों को भी इस चित्र में दिखाने का यत्न किया गया है।

चारों तीर्थों की यात्रा विवरण में हम सब से पहले यमुनोत्तरी यात्रा का वर्णन कर रहे हैं। इसके लिये ऋषिकेश से मोटर बसों द्वारा धरासू जाना पड़ता है। यह स्थान ऋषिकेश से ६२ मील दूरी पर है। धरासू से डंडियाल गांव तक मोटर बसें जाने लगी हैं। वहां से पैदल जाना होता है।

नरेन्द्र नगर—

नरेन्द्रनगर ऋषिकेश से १० मील दूरी पर है। इसका निर्माण टिहरी गढ़वाल के महाराज नरेन्द्र शाह ने १९२५ में कराया था। विलीनीकरण के पश्चात् यह स्थान टिहरी गढ़वाल का मुख्यालय (जिला हैड क्वार्टर) बना। समुद्रतल से इसकी ऊंचाई ३८५० फुट है। यह अब एक छोटा सा पर्वतीय नगर बन गया है।

इससे आगे १८ मील दूरी पर टिपली झरना है। उससे आगे नागनी होकर चम्मा पहुंचते हैं। यह स्थान समुद्र तल से ५५०० फुट ऊंचाई पर है। पहले यह एक साधारण चट्टी थी परन्तु अब इसका बहुत विस्तार हो गया है।

यहां किसी समय गांधी जी की शिष्या मीरा बेन भी रहती थीं। उन्होंने यहां से कुछ दूरी पर पक्षी कुंज बनाया था। अब वे आश्रम छोड़कर आयरलैण्ड चली गई हैं।

चम्मा से एक मार्ग काणाताल होकर मसूरी जाता है। काणाताल सेब के बगीचों के लिये प्रसिद्ध है।

टिहरी—

यमुनोत्तरी एवं गंगोत्तरी यात्रा मार्ग पर भागीरथी के तट पर अवस्थित टिहरी भी एक प्राचीन नगर है। इसे टिहरी गढ़वाल के महाराजा सुदर्शन शाह ने १८२० ई० में बसाया था। महाराजा प्रताप शाह ने टिहरी से ९ मील दूरी पर प्रताप नगर बसाया था और उसे टिहरी गढ़वाल राज्य की ग्रीष्म कालीन राजधानी बनाया था। अब यह महल उनके परिवार की व्यक्तिगत सम्पत्ति मात्र रह गया है।

टिहरी में वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द सरस्वती एवं वेदान्त धर्म के प्रचारक स्वामी रामतीर्थ ने बहुत समय तक निवास किया। इस नगर का बराबर विस्तार हो रहा है। यहां लड़के लड़कियों की अनेक शिक्षा संस्थायें कार्य कर रही हैं।

टिहरी किसी समय तांत्रिकों और पौराणिकों का विख्यात केन्द्र रहा। परन्तु समय के परिवर्तन से तंत्रवाद अधिक समय तक अपना प्रभाव स्थिर न रख सका। टिहरी के साथ अनेक युद्धों का इतिहास भी जुड़ा हुआ है। १८०३ ई० में जो गोरखा युद्ध हुआ, उसने इस क्षेत्र को भारी क्षति पहुंचाई और महाराजा टिहरी को अंग्रेजों से सहायता लेनी पड़ी।

नागराज की गद्दी—

प्रतापनगर से १६ मील दूरी पर मुखेम नाम का स्थान है। यहां नागराज की गद्दी है। यहां के मंदिर में नागराज की भगवान के रूप में पूजा की जाती है। यहां नागों के सम्बन्ध में अनेक कथायें प्रचलित हैं। मि० ई० एम० ओकले नाम के एक अंग्रेज ने अपनी 'होली हिमालयाज' (Holy Himalayas) पुस्तक में लिखा है 'सांपों की पूजा सम्पूर्ण हिमालय में प्रचलित रही। उनका कहना है 'यहां शिव और विष्णु के मंदिरों में भी नाग की पूजा का प्रचलन रहा।'

यमुनोत्तरी जाते समय डंडियाल गांव से आगे गंगानी चट्टी आती है। यह यमुना तट पर स्थित है। कहा जाता है कि यहां यामुन नाम के ऋषि निवास करते थे।

गंगानी से आगे यमुना चट्टी है। यहां इससे आगे सैण चट्टी आती है। इससे आगे की चढ़ाई बहुत कठिन है। हनुमान गंगा का पुल पार करने पर हनुमान चट्टी आती है। समुद्रतल से इसकी ऊंचाई ७१०० फुट है। इस चट्टी के समीप हनुमान गंगा और यमुना का संगम है। हनुमान चट्टी से आगे फूल चट्टी है। यह चट्टी बड़े सुन्दर ढंग से कुछ वर्षों में ही बनी है। इस से आगे जानकी चट्टी है। इस चट्टी से यमुनोत्तरी की कठिन चढ़ाई प्रारम्भ हो जाती है।

अपने तीर्थों के दर्शन करने वाले श्रद्धालु यात्री पतली से पतली पगडंडी पर चलकर यमुनोत्तरी पहुंचने का यत्न करते हैं। धार्मिक विश्वासों के साथ वृद्ध पुरुष और महिलायें बड़े साहस के साथ इन दुर्गम पर्वत मार्गों पर 'जय यमुनोत्तरी' बोलते हुये यात्रा करते हैं।

यमुनोत्तरी—

यमुनोत्तरी समुद्र तल से १०८०० फुट ऊंचाई पर स्थित है। यमुनोत्तरी में ही यमुना के सर्व प्रथम दर्शन होते है। वैसे यमुना का उद्गम यहां से चार मील ऊपर की ओर है। उद्गम तक जाने के लिये मार्ग सुलभ नहीं। यमुनोत्तरी के समीप की पहाड़ी बन्दरपूछ नाम से विख्यात है। इस पर्वत का नाम 'कालिन्दगिरि' भी आया है। कहा जाता है कि इससे निकलने के कारण यमुना का नाम कालिन्दी हुआ। बन्दरपूछ शिखर के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती चली आ रही है कि लंका विजय के पश्चात् हनुमान अयोध्या गये और जब वे भगवान राम से आज्ञा प्राप्त करके लौटे तब वे इस शिखर पर रहे थे। इसकी ऊंचाई समुद्र तल से २०८०० फुट है।

यमुनोत्तरी से दूरबीन से देखने पर पर्वत-शिखरों के बीच से यमुना एक पतली सी धारा दिखाई देती है। उसके साथ ही एक और धारा भी दीखती है।

कहा जाता है कि फ्रेशर नाम के एक अंग्रेज ने उद्गम तक पहुंचने में सफलता पाई थी। स्वामी रामतीर्थ भी यमुना के उद्गम तक पहुंचे थे।

यमुनोत्तरी पहुंचने पर यात्री यमुनोत्तरी स्नान एवं मंदिर दर्शन के लिये यमुना के दूसरी ओर जाते हैं। यमुना पार करने के लिए शिलाओं पर लकड़ी के मोटे २ तख्तों को डालकर पुल बना लेते हैं।

यमुना के दूसरे तट पर दिव्य शिला और तीन तप्त कुण्ड हैं। सबसे पहले कुण्ड का नाम सूर्य कुंड है। इसके गर्म जल में यात्री आलू और चावल पका लेते हैं। दूसरे कुंड का नाम ऋषि कुण्ड है। इसमें यात्री स्नान कर सकते हैं। पंडों ने यहां और भी कुण्ड और जल की धारायें बना रखी हैं जिनके नाम वसुधारा, सहस्त्रधारा, गौतम ऋषि धारा, गुप्त मुनि धारा और द्रोपदी कुण्ड आदि हैं। इसी ओर यमुनोत्तरी मंदिर है। इसमें यमुना और गंगा दोनों की मूर्तियां बनी हैं। यहां का दृश्य बड़ा ही मनमोहक है।

यहां हमने भारत के सभी भागों के नर-नारियों को श्रद्धापूर्वक मस्तक नवाते देखा। यह तीर्थ हमारे देश की एकता का प्रतीक बना हुआ है।

गंगोत्तरी जाने के लिए सिंगोट आना होता है और यहां से नाकुरी पहुंचकर उत्तरकाशी की ओर जाते हैं।

नाकुरी में एक छोटा सा मंदिर है जो 'रेणुका-देवी मंदिर' के नाम मे विख्यात है। इसके साथ पुराणों की एक कथा जुड़ी है कि परशुराम ने अपनी माता रेणुका देवी का सिर काट दिया था। परन्तु वह पुनः जीवित हो गई थीं। मेरे विचार से इस कथा में कोई सत्यता नहीं।

गंगोत्तरी जाने का सीधा मार्ग धरासू से भी है। जो व्यक्ति सीधे गंगोत्तरी जाते हैं वे धरासू से उत्तरकाशी जाकर अपनी आगे की यात्रा प्रारम्भ करते हैं।

पर्वतीय गुज्जर—

यमुनोत्तरी मार्ग में हमें फूल चट्टी पर पर्वतीय गुज्जरों से भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ। ये लोग किसी समय कश्मीर से आये थे। वहां से आकर ये अब हिमालय की अनेक घाटियों में बस गये हैं। ये लोग अब मुसलमान हैं परन्तु इनके रीति रिवाज हिन्दुओं से मिलते जुलते हैं। अनेक संस्कृतियों का प्रभाव पड़ने पर भी इनमें हिन्दुत्व के प्रति सम्मान है। ये लोग भैंस पालक हैं। ग्रीष्म में ये हिमालय की ऊंची २ पहाड़ियों पर रहते हैं और शीत में ये लोग नीचे आ जाते हैं। उनके अपने २ कबीले हैं। वन विभाग की ओर से इन कबीलों को पशु चराने के लिये भूमि भी दी हुई है। ये लोग बड़े बलिष्ठ और परिश्रमी हैं। जंगली जानवरों से बचाव के लिये ये लोग अच्छी नस्ल के कुत्ते पालते हैं। इनकी पोशाक कश्मीरियों जैसी है।

धरासू से गंगोतरी जाते समय मार्ग में एक स्थान डुंडा आता है। शीतकाल में यहां जाड़ लोग रहते हैं। ये लोग किसी समय तिब्बत से आये थे और अब वे भारत के वासी हो गये हैं। इनके भी अनेक कबीले हैं। गंगोत्तरी की अनेक घाटियों में ये लोग बसे हैं। ये लोग भेड़ पालक हैं। ऊन की कताई और बुनाई में निपुण है। स्त्रियां सारे दिन काम में व्यस्त रहती हैं। वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक चतुर हैं। पांच छः वर्ष तक के बच्चों को हमने ऊन कताई में मदद देते देखा है। शीतकाल में ये लोग ऋषिकेश के जंगल में भी आ जाते हैं। इनमें शिक्षा नहीं परन्तु अब धीरे २ ये लोग पढ़ना लिखना सीख रहे हैं।

उत्तरकाशी—

उत्तराखंड का यह एक प्रधान तीर्थ स्थान माना गया है। उत्तरकाशी को योगियों की तपःस्थली कहा गया है। यह नगर भागीरथी के तट पर बसा है। इसके पूर्व दक्षिण मे भागीरथी बहती है। उत्तर में असि गगा और पश्चिम में वरुणा नदी बहती है। असि गंगा का उद्गम डोडीताल माना जाता है।

पौराणिक कथा के अनुसार यहां 'किरातार्जुन' युद्ध हुआ था। इसका पुराना नाम 'वाड़ाहाट' है।

यहां विश्वनाथ, शक्ति, गोपेश्वर, काल भैरव, परशुराम, दत्तात्रेय, जड़भरत और भगवती दुर्गा के प्राचीन मंदिर है।

उत्तरकाशी के विश्वनाथ मदिर का जीर्णोद्धार टिहरी गढ़वाल के महाराज सुदर्शन शाह ने १८५७ ई० में कराया था। इसके समीप शक्ति मंदिर है। इसे त्रिशूल मंदिर भी कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इसे 'ध्वज-स्तम्भ मंदिर' भी बताया है। पर्वतीय जनता इस मन्दिर को विशेष महत्व देती है।

स्तम्भ के नीचे का भाग लगभग एक हाथ लम्बाई में तांबे के पत्तर से प्रतिबद्ध किया हुआ है। यहां के रहने वालों का विश्वास है कि तांबे से मंडित इसका कुछ भाग भूमि के अन्दर भी दबा है। ऊपर की ओर सत्तरह फुट ऊंचाई में पीतल का भाग है। सबसे ऊपर की ओर जहां त्रिशूल और फरसा बना है, तीन फिट ऊंचाई में लोहे का मालूम पड़ता है इसकी कुल ऊचाई इक्कीस फुट है। स्तम्भ की मोटाई दो फुट है। इसकी बनावट अष्टकोण है। इसके दो पहलुओं पर दो फुट की ऊंचाई में एक लेख अंकित है।

इस लेख के सम्बन्ध में पं० वीरभद्र शर्मा तैलंग, वेदकाव्यतीर्थ का 'गंगा' मासिक पत्रिका में एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसे हम यहां उद्धृत कर देना

आवश्यक समझते हैं। उनके इस लेख में स्तम्भ पर अंकित लेख का पूरा विवरण दिया गया है। लेख इस प्रकार है—

"हमने पहले से सुन रखा था कि रास्ते में पुरातत्व की कुछ सामग्री मिलेगी, इसलिये शिला-ताम्र-लेखों की छाया उतारने के साधन साथ रख लिये थे। हम अपने साधनों से स्तम्भ लेख को साफ कर ही रहे थे कि बीच में पुजारी जी का आगमन हुआ। वे मारे गुस्से से बोलने लगे – "आप लोगों ने इन चीजों से शक्ति की पवित्रता को नष्ट कर दिया है। इसे शुद्ध करने के लिये भारी खर्च देना होगा, अन्यथा आप लोगों के ऊपर मुकदमा चलेगा।" बहुत कहा-सुनी के बाद, महाराज को दक्षिणा दे, हमने अपने कार्य की पवित्रता को सिद्ध कर दिया। लेख की छाया बहुत उत्तम आयी। लेख तीन पंक्तियों में है। पहली पंक्ति कुछ छोटे अक्षरों से लिखी गयी है, इसमें शार्दूलविक्रीड़ित छन्द का एक श्लोक है। दूसरी में बड़े अक्षरों से उसी छन्द का एक और श्लोक है। तीसरी में बहुत बड़े-बड़े अक्षरों से एक 'स्रग्धरा' लिखी गयी है। पूरा लेख शुद्ध संस्कृत में साफ और सुन्दर है, केवल एक अक्षर ठीक नहीं मालूम पड़ा। इस लेख के एक-एक श्लोक को, सुविधा के वास्ते, चार पादों में काटकर मैंने ब्लाक बनवाया है, नहीं तो वह पंक्ति बहुत लम्बी हो जाती। पाठ इस प्रकार है—

पहला श्लोक

"ॐ आसीद्यः द्वितियो गणेश्वर इति प्रख्यात कीर्त्तिर्वरैः
चक्रे येन भवस्य वेश्म हिमवच्छृंगोच्छ्रतं दीप्तिमत्
कृतवाणु* र्व्वनजाधिप [:] स्वकृपणैः सामात्यभाग्यश्रियं
स्मृत्वा शक्रसुहृत्त्वमुत्वसुकमना यातः सुमेर्व्वालयं ॥

---

* 'कृतवाणु' पढ़ सकते हैं।

"मतलव कि "प्रजानुरागी 'गणेश्वर' नामक राजा अत्यन्त उन्नत श्री विश्वनाथ का मंदिर वनवाकर, मन्त्रियों सहित अपनी राज्य लक्ष्मी को अणु समझकर और उसे प्रियजनों के वश में देकर इन्द्र की मित्रता की याद में उत्सुक हो, सुमेरु-मन्दिर (स्वर्ग या कैलाश) को चला गया ॥१॥"

('इस श्लोक में जो "हिमवच्छृङ्गोच्छृतं" है, इससे यह स्पष्ट नहीं प्रतीत हो रहा है कि उसने सम्पूर्ण मन्दिर को वनवाया था या शिखरों का ही संस्कार करवाया था। "वनजाधिप' यह जंगली राजा मालूम पड़ता है। "शक्रसुहृत्" राजा को अत्यन्त वलशाली सिद्ध करता है)

दूसरा श्लोक

पुत्रस्तस्य महाभुजो विपुलदृक्पीनोन्नतोरस्थलः
रूपत्यागनयेर नंगधनदव्यासानतीत्योद्गतः
नाम्ना श्रीगुह इत्युदारचरितः सद्धर्म्मधुर्य्यस्सतां
शक्तिं ‡ शत्रुमनोरथप्रमथनां शम्भोश्चकाराग्रतः ॥

"राजा गणेश्वर के वाद उसके पुत्र श्री गुह के हाथ में राज्य आया, जो अत्यन्त बलशाली, विशाल नेत्र और दृढ़ वक्षःस्थल वाला था। उसने सौन्दर्य में मन्मथ को, दान में कुबेर को, नीति या शास्त्रों में वेद व्यास को जीत लिया था। वह धार्मिकों का अगुआ और वड़ा उदार था। उसने ही भगवान् के सामने इस शक्ति स्तम्भ की स्थापना की थी। उसे देखते ही शत्रु लोग डर जाते थे, क्योंकि वह प्रतापी और सुन्दर गुण वाला था ॥२॥"

---

‡ विसर्ग ज्यादा है

तीसरा श्लोक

प्रातः प्रातर्म्मयूखैरुरुभिरविरलं शार्वरं ध्मान्तसघन-
न्नालुं चंश्चारुतारानि* करपरिकरोदाशारोदरत्वं
स्वं विम्बं चित्रविम्बाम्बरतलतिलकं यावदर्को विधत्ते
तावत्कीर्त्तिः सुकीर्तेश्चिरमरिमथनस्यास्तुराज्ञः स्थिरेयं: (ठ

"जब तक भगवान् सूर्य अपनी तरुण किरणों से गाढान्धकार को नष्ट करके नक्षत्रों की चित्र-चर्या को मिटाकर गगन फलक में अपने विश्व रूपी तिलक को लगाते रहें; तब तक प्रतापी राजा गुह की यह कीर्ति सुस्थिर रहे ॥३॥"

इस लेख की लिपि के सम्बन्ध में श्री वीरभद्र शर्मा तैलंग लिखते हैं—

'लिपि के विचार से हम कह सकते हैं कि यह राजा विक्रमिय सम्बत् की ५वीं या छटी शताब्दी में हुआ होगा। इस स्तम्भ लेख की लिपि गुप्त कालीन लिपि के आसपास की हो सकती है। कविता प्रसाद गुण-पूर्ण और यमक-भूषित है। लेख के पहले "ॐ" और अन्त में "ठ" लिखा गया है। प्राचीन पद्धति के अनुसार यह चिन्ह आद्यान्त-द्योतक है।' §

शक्ति मंदिर में स्थित स्तम्भ को कुछ पौराणिक देवासुर संग्राम के समय छुटी शक्ति मानते हैं।

"महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने शक्ति स्तम्भ के सम्बन्ध में लिखा है यहां का विशाल त्रिशूल सारे गढ़वाल कुमायूं में सब से पुरानी पुरातात्विक कृति तथा उसका अभिलेख, प्रायः सबसे पुराना अभिलेख है।"

* नि अक्षर श्लोक में छूट गया है।

§ गंगा का पुरातत्व विशेषाङ्क जनवरी १९३३ पृष्ठ १८३

यहां के दत्तात्रेय के मंदिर में जो मूर्ति है, वह बुद्ध की प्रतीत होती है। इस मूर्ति के सम्बन्ध में राहुलजी का कहना है— 'ग्यारहवीं सदी के शुरू में थोलिंग गुम्मा के बनाने वाले यशेप्रोद (ज्ञानप्रभ) के पुत्र देव भट्टारक नागराज ने यहां बड़ा सा बुद्ध का मंदिर बनवाया था, जिसकी अति सुन्दर बुद्ध प्रतिमा आज भी दत्तात्रेय के नाम से पुज रही है। मूर्ति के पाद-पीठ पर तिब्बती भाषा और अक्षरों में लिखा है 'ल्ह ब्चन्–नगरजई थुनूपा' (देव भट्टारक नागराज के मुनि)"

बौद्धधर्म के सम्बन्ध में यह बात सर्व विदित है कि यह धर्म हिमालय की पर्वतमाला में भी फैला और उन्हीं पर्वत श्रेणियों के मध्य से बौद्धधर्म के प्रचारक तिब्बत आदि देशों की ओर गये। आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य जी के समय में इन क्षेत्रों में पुनः हिन्दू धर्म प्रस्थापित हुआ।

मुझे टिहरी गढ़वाल, पौड़ी गढ़वाल, अलमोड़ा जिलों के कई स्थानों में ऐसी मूर्तियां देखने का अवसर मिला है जो बुद्ध-कालीन मानी जाती हैं।

विदेशी लेखक मि० एटकिन्सन ने अपनी पुस्तक 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स' में गढ़वाल क्षेत्र के देवी देवताओं के सम्बन्ध में लिखा है—

"इस प्रदेश में शिव और विष्णु और उनकी पत्नियां आराधना के मुख्य केन्द्र थे किन्तु उनके साथ २ चाहे तो उन देवताओं से उत्पन्न मानकर या पृथक देवता के रूपमें प्राचीन कबीलों के बहु-देवतावाद के प्रतिनिधि देवताओं की पूजा मंदिरों और मठों में होने वाले समारोहों में की जाती है।"*

शक्ति पूजा का क्या फल प्राप्त होता है इसके सम्बन्ध में मि० एटकिन्सन का कहना है—

"शक्ति की पूजा के सम्बन्ध में अथवा 'देवी' पूजा के सम्बन्ध मे यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक बड़े देवता की एक अर्द्धांगिनी है, जिसमें प्रार्थना को स्वीकार करने और उपासकों को वरदान देने की शक्ति निहित है।'.

एक दूसरे अंग्रेज विद्वान मि० बोकले ने शक्ति पूजा के सम्बन्ध मे लिखा है—
"शक्ति की पूजा के इस विचार के साथ एक प्राचीन और कबायली पूजा का यौन सिद्धान्त भी मिश्रित मालूम होता है। इसी सिद्धान्त से वाममार्गियों के कुख्यात सिद्धान्तों और धार्मिक कृत्यों को जीवन और शक्ति मिलती है। ये वाम-मार्गी भी अपने इन तरीकों से आत्मा को पार्थिव बन्धनों से मुक्ति दिलाने का दावा करते है।"*

* 'दी वैली आफ गौड्स' पृष्ठ ४१ व ४२

यहां के वन विभाग के बंगले के सम्बन्ध में मुझे बताया गया कि १८५७ ई० के स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम के पश्चात् अंग्रेजों ने यहां नाना फ़रनवीस को बंदी बनाकर रखा था।

उत्तरकाशी में माघ मास में मकर संक्रान्ति के अवसर पर एक बड़ा मेला लगता है। समीपवर्ती पर्वतों के निवासी इस मेले में देवी देवताओं के डोले सजाकर लाते हैं। भागीरथी के तट पर जाकर अपने २ देवता को स्नान कराते हैं।

उत्तरकाशी में अनेक साधु-महात्मा निवास करते हैं। कुछ इनमें ऐसे हैं जो एकान्त में रहकर साधना करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो क्षेत्र से अन्न या रोटी प्राप्त करके अपना समय व्यतीत करते हैं। इस स्थान को जब से राज्य सरकार ने जिला बनाया है, तब से इसका बराबर विस्तार हो रहा है।

उत्तरकाशी से गंगोत्तरी जाते समय तीन मील दूरी पर एक स्थान गंगेरी आता है। इस स्थान पर असि गंगा और भागीरथी का संगम हुआ है। गंगेरी से आगे मनेरी चट्टी आती है। इससे ६ मील दूरी पर भटवाड़ी चट्टी आती है।

भटवाड़ी—

पुराणों में इसका नाम भास्करपुरी आया है। कहा जाता है कि यहां सूर्य ने शिव की उपासना की थी और उनसे वरदान प्राप्त किया था। इस कथा के सम्बन्ध में यहां 'भास्करेश्वर महादेव' का एक छोटा सा मंदिर भी बना है। यह मंदिर आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य द्वारा स्थापित माना जाता है। मुख्य मंदिर का भीतरी भाग पांच छः फुट चौड़ा है। मंदिर के मुख्य द्वार के सामने की ओर दीवार के सहारे कुछ प्राचीन मूर्तियां रक्खी हैं। इनमें से एक मूर्ति शिव की और दूसरी गणेश की है। उनके मध्य में एक मूर्ति विष्णु और लक्ष्मी की रक्खी मिली। इन दोनों को गरुड़ पर सवार दिखाया गया है।

यहां की एक मूर्ति के सम्बन्ध में जब मैंने पुजारी से कुछ जानकारी प्राप्त की तो वह कहने लगा—'यह भगवान सुरजू की मूर्ति है' मैंने उससे फिर पूछा—'पुजारी जी ! सुरजू कौन सा देवता है।' उसने उत्तर में यही कहा कि भगवान सुरजू हमारे एक बड़े देवता हैं। सुरजू से उसका आशय सूर्य से था।

इधर पर्वतों में मैंने भगवान सूर्य की मूर्तियां अन्य मंदिरों में भी देखी हैं। धरासू के एक टूटे फूटे मदिर में भी सूर्य भगवान की एक मूर्ति मुझे देखने को मिली थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वतों में भगवान सूर्य की पूजा को विशेष महत्व दिया गया था।

गणेश जी की यहां दो मूर्तियां दो भिन्न मुद्राओं में देखने को मिलीं। मंदिर के एक दूसरे भाग में भी कुछ और मूर्तियां रक्खी हुई हैं। इनमें दानवमर्दिनी काली

की भी एक मूर्ति है। पर्वतों में जहां विष्णु, ब्रह्मा, शिव एवं सूर्य भगवान की पूजा का प्रचलन रहा, वहां शक्ति की पूजा को भी विशेष महत्व दिया जाता रहा। पर्वतों में अनेक देवी-मंदिर भी बने हैं जिनका अपना अपना महत्व है।

मुझे यहां बताया गया कि इस तपोभूमि में कपिल, कश्यप और गौतम आदि ने दर्शन शास्त्रों का विवेचन किया था। परशुराम जिस प्रकार से उत्तरकाशी रहे थे, उसी प्रकार उन्होंने यहां भी विश्राम किया था।

गंगनानी—

गगनानी बस्ती से पहले मार्ग से कुछ ऊंचाई पर गर्म जल के कुण्ड हैं। कहा जाता है कि इस स्थान पर पाराशर ऋषि ने तप किया था। गर्म जल के कुण्डों के नाम ऋषि कुण्ड, व्यास कुण्ड, और नारद कुण्ड बताये गये। पंडे का कहना था कि यहां किसी समय पाराशर ऋषि, व्यास और नारद मुनि रहे थे।

इन तीनों कुण्डों में गर्म जल ऊंचे पर्वत शिखर से आता है। इनमें से केवल एक कुण्ड का जल ऐसा है जिसमें स्नान किया जा सकता है।

गंगनानी के साथ महाभारत की एक कथा का सम्बन्ध बताया गया। कहा जाता है कि यहां एक मल्लाह की पुत्री मत्स्यगंधा से पाराशर ऋषि का प्रेम हो गया था। पाराशर जब नौका द्वारा गंगा पार कर रहे थे, तभी उन्होंने मत्स्यगंधा से गंधर्व विवाह किया और उनसे वेद व्यास की उत्पत्ति हुई। इस पौराणिक कथा का और भी विस्तार है जिसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमें यहां केवल इतना बताना है कि गंगनानी का सम्बन्ध महाभारत-काल से जुड़ा माना जाता है।

गगनानी से आगे लुहारी नाग होकर सुक्खी चट्टी पहुंचते हैं। यहां की चढ़ाई बड़ी दुस्साध्य है।

हर्सिल—

यह एक रमणीक स्थान है। यहां जल की अनेक धाराएं बहती हैं। ये सभी धाराएं भागीरथी में मिलती हैं। प्राकृतिक दृश्यों के कारण यह स्थान बड़ा ही सौन्दर्य-पूर्ण प्रतीत होता है। इसका प्राचीन नाम हरिप्रयाग आता है। दो धाराओं के मिलने वाले स्थान के साथ प्रयाग शब्द जुड़ जाता है। यहां बताया जाता है कि पर्वतों से निकलने वाली 'हरिगङ्गा' भागीरथी से मिली है। इस कारण इसका नाम हरिप्रयाग हुआ। परन्तु अब यह हर्सिल नाम से विख्यात है। इस स्थान के साथ भी पुराणों की एक कथा जुड़ी है। कैलास पर्वत से यहां आकर शिव ने जलंधर नाम के दैत्य का वध किया था। अंग्रेजी शासनकाल में इस स्थान को विशेष महत्व प्राप्त हुआ।

हर्सिल के सम्बन्ध में यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यहां फ्रेड्रिक विल्सन नाम का एक अंग्रेज सन् १८४० ई० के आसपास आकर बसा था। देखा जाय तो उसी ने इस स्थान के महत्व को बढ़ाया और यहां सेव के वृक्ष लगाकर फल उत्पादन की दिशा में एक प्रकार का चमत्कार कर दिखाया। वास्तविक बात यह है कि विल्सन ने इस क्षेत्र को बहुत उन्नत किया।

विल्सन १८३० ई० के आसपास अंग्रेजी सेना में भर्ती होकर भारत आया था। उस समय अंग्रेजों ने अपने ग्रीष्म कालीन आमोद प्रमोद और शिकार के लिये मसूरी को अपना केन्द्र बना लिया था। मसूरी के लंढौर बाजार से कुछ आगे लाल टिब्वे पर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपना एक सैनिक अड्डा बनाया। विल्सन को उस ओर जाने का अवसर मिला। मसूरी के मनोरम दृश्य उसके मन को भा गये। उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के काम से छुटकारा पाकर स्वतंत्र रूप से हिमालय की यात्रा की। एक शिकारी के रूप में वह टिहरी की तरफ से हर्सिल की ओर चला। यहां आने पर उसने लकड़ी का एक सुन्दर बंगला बनवाया और फिर इसी स्थान पर रहकर वह लकड़ी के स्लीपर आदि बेचने का काम करने लगा। टिहरी के महाराज से उसने हर्सिल की कुछ भूमि प्राप्त कर ली। हिमालय के सुन्दरतम पक्षी मीनाल के चमड़े और उसके परों का उसने विदेशों के साथ व्यापार किया और उससे बहुत लाभ उठाया।

विल्सन हिमालय के वासियों से पूर्णतया परिचित हो गया था और उसने एक पर्वतीय महिला से विवाह भी कर लिया था। एक प्रकार से विल्सन स्थायी रूप से हर्सिल का वासी ही हो गया था। अपने क्षेत्र का वह एक प्रकार से शासक बन गया था। उसने यहां के रहने वालों से एक शासक के रूप में काफी काम कराया। उसके बाग और खेतों में यहां के रहने वाले बिना मजदूरी लिये काम करते थे। उसने सेब के बगीचे को इन्हीं के परिश्रम से उन्नत किया। विल्सन ने इधर आलू की भी खेती कराई। इससे पहले वहां कभी आलू न बोया गया था।

विल्सन ने पहाड़ में रहकर अपने आपको एक पहाड़ी जैसा ही बना लिया था। इसी कारण वह 'पहाड़ी विल्सन' नाम से पुकारा जाता था। उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ चीड़ के स्लीपरों का ठेका किया। वह जंगलों से चीड़ की लकड़ी प्राप्त करके स्लीपर तैयार कराके गंगा की धार में बहाकर ऋषिकेश पहुंचाता था। वहां से वे स्लीपर हरिद्वार जाते थे। इस काम में उसने बहुत धन कमाया। वह यहां के गरीब लोगों से कठोर परिश्रम कराता था। वह जंगल की जड़ी बूटियां भी उनसे एकत्रित कराता था और उन्हें बाहर भेजता था।

विल्सन ईसाई धर्म को मानने वाला था परन्तु उसने धर्म परिवर्तन की दिशा में कोई ऐसा पग न उठाया जो वहां के रहने वालों के विरोध का कारण बनता। प्रारम्भ में जब उसने एक पर्वतीय महिला से विवाह किया, तभी कुछ विरोध हुआ

था। परन्तु उसने अपनी कार्य कुशलता से उस विरोध को दबा दिया था। यहां के रहने वालों को प्रसन्न रखने के लिए वह अपनी पत्नी को धार्मिक रीति रिवाजों में स्वतंत्र रखता था। वह मंदिर की पूजा के लिए जाती रहती थी। फिर भी ईसाई धर्म की कुछ न कुछ छाप लगती ही है।

हर्सिल के समीप एक प्राचीन मंदिर है जो श्री लक्ष्मी नारायण मंदिर नाम से विख्यात है।

हर्सिल अब सीमा सुरक्षा की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण स्थान बन गया है।

हर्सिल से आगे धराली चट्टी है यहां क्षीर गंगा भागीरथी में मिलती है। क्षीर गंगा के सम्बन्ध में बताया गया कि यह हिमालय की श्रीकंठ चोटी से निकली है। इस स्थान का प्राचीन नाम विश्वनाथपुरी बताया जाता है। यहां विश्वेश्वर मंदिर भी बना है। यात्रा के समय यहां बड़ी चहल पहल रहती है। एक पंडे ने इस स्थान के बारे में बताया कि यहां भगीरथ महाराज ने भी तप किया था।

धराली से एक मार्ग तिब्बत को गया है। चीन के आक्रमण के पश्चात् सामरिक दृष्टि से इसका विवरण नहीं दिया जा सकता। जिस समय हमने गंगोत्तरी की यात्रा की थी तब यह मार्ग चालू था। तिब्बती मुख्य रूप से ऊन लाते थे और इधर से वे गेहूं, नमक आदि ले जाते थे।

किसी समय यह स्थान भारत और तिब्बतियों के सांस्कृतिक मिलन का एक अच्छा केन्द्र रहा। कुछ का विश्वास है कि भारतवासी इधर से तिब्बत में धर्म प्रचार के लिए भी जाते रहे। यहां से कैलास मानसरोवर का भी मार्ग है।

धराली के सामने भागीरथी के दूसरे तट पर मुखवा ग्राम है। यहां गंगोत्तरी के पंडे रहते है और जब गंगोत्तरी में बर्फ पड़ती है तब इसी स्थान पर गंगा की पूजा की जाती है।

धराली से चार मील दूरी पर एक स्थान जागला है। कहा जाता है कि यहां जन्हु ऋषि का आश्रम था। कुछ इससे कुछ दूर पर मानते हैं।

भागीरथी को पार करने के पश्चात् एक सघन वृक्षों वाली घाटी आती है। यह घाटी नेलंग घाटी नाम से विख्यात है। यहां से नेलंग जाने का मार्ग है। तिब्बती सीमा पर नेलंग भारतीय नगर है। इस मार्ग से भारत और तिब्बत के बीच बड़ा व्यापार होता था परन्तु अब यह मार्ग तिब्बतियों के आने जाने के लिए बन्द कर दिया गया है। नेलंग शिखर की ऊंचाई समुद्रतल से १७००० फुट है।

भैरों घाटी चट्टी तक पहुंचने में कठोर चढ़ाई करनी पड़ती है। कभी २ तो यात्री पत्थरों को पकड़कर ऊपर चढ़ते हैं। भैरों घाटी चट्टी पर भैरों का एक छोटा सा मंदिर है।

गंगोत्तरी—

गंगोत्तरी हमारा एक पावन तीर्थ है। गंगा इस तीर्थ धाम से चौदह मील ऊपर से गोमुख से निकलकर सर्व प्रथम यहां ही प्रगट होती है। गंगा के साथ तपस्वी भगीरथ की कथा जुड़ी है जिन्होंने इस स्थान पर तपस्या की थी।

गंगोत्तरी हिमालय पर्वत की एक ऐसी घाटी में स्थित है जिसके चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत शिखर दिखाई पड़ते हैं। समुद्रतल से इसकी ऊंचाई १०,३५० फुट है। यहां गङ्गा को भागीरथी कहते हैं। भागीरथी के तेज प्रवाह में स्नान करना कठिन होता है। यहां यात्री तट पर बैठकर बड़ी सावधानी से स्नान करते हैं।

गंगोत्तरी की बस्ती के दो भाग हैं। भागीरथी के एक तट पर मुख्य बस्ती है। इसमें ही गङ्गा मंदिर है।

गंगोत्तरी के प्राचीन मंदिर का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी में नेपाल के एक सेनापति अमरसिंह थापा ने कराया था। इसके उपरान्त बीसवीं शताब्दी में जयपुर के महाराज ने मंदिर का निर्माण कराया। उन्होंने स्थान परिवर्तित करके एक विशाल शिला पर मंदिर बनवाया। इस शिला को भगीरथ शिला कहते हैं। दन्त कथाओं के आधार पर कहा जाता है कि जब राजा भगीरथ गङ्गा को लेने के लिए इधर आए थे, तब उन्होंने यहां इस शिला पर बैठकर तपस्या की थी।

गंगोत्तरी मंदिर के भीतरी भाग में चांदी के सिंहासन पर गङ्गा की मूर्ति बनी है। पर्वतों के वासी इसे मां भागीरथी की मूर्ति कहते हैं। इससे नीचे के भाग में यमुना, भगीरथ, सरस्वती, अन्नपूर्णा, श्रीलक्ष्मी, जान्हवी और आदि जगद्गुरू स्वामी शंकराचार्य की मूर्तियां हैं।

भागीरथी के दूसरे तट पर अनेक योगियों, तपस्वियों और महात्माओं की कुटियां बनी हैं। महात्माओं की इस बस्ती को तपोवन कहते हैं। यहां अनेक महात्मा निवास करते हैं। स्वामी कृष्णाश्रम जी काफी वृद्ध महात्मा हैं। वे शीतकाल में भी यहीं रहते हैं। उनकी कुटी से थोड़ी दूरी पर स्वामी रामानन्द अवधूत रहते हैं। वे नग्नावस्था में बारहों मास गंगोत्तरी में ही निवास करते हैं। महात्माओं की ओर जाने के लिए भागीरथी पर काठ का एक पुल बना है। इधर केदारगंगा भागीरथी में मिली है।

गंगोत्तरी बस्ती के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि यहां केवल ग्रीष्म ऋतु में ही कुछ दुकानदार दुकानें लगा लेते हैं शीत ऋतु में सब लोग निचले भागों में चले जाते हैं।

गोमुख—

गंगा का उद्गम स्थान गोमुख है। यह २० हजार फिट ऊंची चोटी पर स्थित है। वहां सर्वत्र बर्फ ही बर्फ दिखाई पड़ती है। गोमुख जाने का मार्ग काफी विकट है। बहुत ही कम व्यक्ति गोमुख की यात्रा करते हैं। वहां ठहरने का कोई स्थान नहीं। भुजवासा में ठहरने की व्यवस्था है। यात्री यहां से प्रातःकाल के समय गोमुख जाते हैं और सूर्यास्त से पूर्व भुजवासा वापिस लौट आते हैं।

ब्रह्मचारी सुन्दरानन्द ने गोमुख की अनेक बार यात्रा की है। उन्होंने बताया कि गंगोत्तरी से आगे लगभग १८ हजार फिट की ऊंचाई पर एक चौड़ा मैदान है। इसे तपोवन कहते हैं। यहां उन्होंने कुछ भेड़ पालकों को अपनी भेड़ें चराते हुए देखा। उनका कहना है कि ग्रीष्म ऋतु में भेड़ पालक अपनी भेड़ें चराने के लिए आते है और दो मास रहकर फिर अपने स्थानों को चले जाते हैं।

ब्रह्मचारी सुन्दरानन्द ने इधर बर्फ मे उत्पन्न होने वाले कमल भी देखे। वे उनमें से कुछ कमल अपने साथ लाए भी थे। इनको स्थल-कमल या ब्रह्म कमल कहते है। इस स्थल पर नाग केसर भी पाई जाती है।

ब्रह्मचारीजी ने गोमुख से बदरीनाथ की यात्रा की। उन्होंने यह यात्रा २० हजार फुट की ऊंची चोटियों के मध्य से की। इस यात्रा मे उनको कई बार हिमशिखरों से फिसलना भी पड़ा। उनका कहना है कि इस भयंकर मार्ग द्वारा हम तीसरे दिन बदरीनाथ पहुच गए।

गोमुख से बदरीनाथ जाते समय उन्होने कई ऐसी घाटिया देखी जिनका सम्बन्ध तिब्बत के साथ जुड़ा है।

गंगोत्तरी से पैदल यात्रियों के लिए एक मार्ग मल्ला चट्टी के पास से केदार-नाथ की ओर गया है, यह मार्ग बदरीनाथ मार्ग मे भी मिलता है।

इस यात्रा मार्ग पर बूढ़ा केदार आता है। यह ४३८० फुट ऊंचाई पर है। यहां धर्म गंगा और बाल गंगा का सगम माना जाता है। यहां के मन्दिर मे शिवलिङ्ग स्थापित है। शिवलिङ्ग के निचले भाग मे वृद्ध केदार, शिव-पार्वती, लक्ष्मीनारायण, गणेश और पाण्डवों की मूर्तियां विद्यमान है। यहां से त्रिजुगीनारायण लगभग ४२ मील दूर है। हरिद्वार से श्रीनगर होकर आने वाली सड़क से यह स्थान अब छूट गया है। इसका विवरण सीधे मार्ग के प्रसंग मे दिया जाएगा।

केदारनाथ और बदरीनाथ की सीधी यात्रा ऋषिकेश से प्रारम्भ होती है। ऋषिकेश से आगे व्यासी चट्टी आती है। इसके सम्बन्ध मे हमने बताया है कि यहां व्यास जी की गुफा थी और स्वामी रामतीर्थ भी यहां रहे। आगे देवप्रयाग आता है।

देवप्रयाग—

देवप्रयाग एक प्राचीन तीर्थ है। यहां भागीरथी और अलकनन्दा का मिलन हुआ है। देवप्रयाग में सगम स्नान को पंडे और पौराणिक भाई बड़ा महत्व देते हैं। केदारनाथ और बदरीनाथ की यात्रा को जाने वाले यात्री यहां संगम स्नान के लिए ठहरते हैं। कुछ यात्री यहां पिण्डदान भी करते हैं।
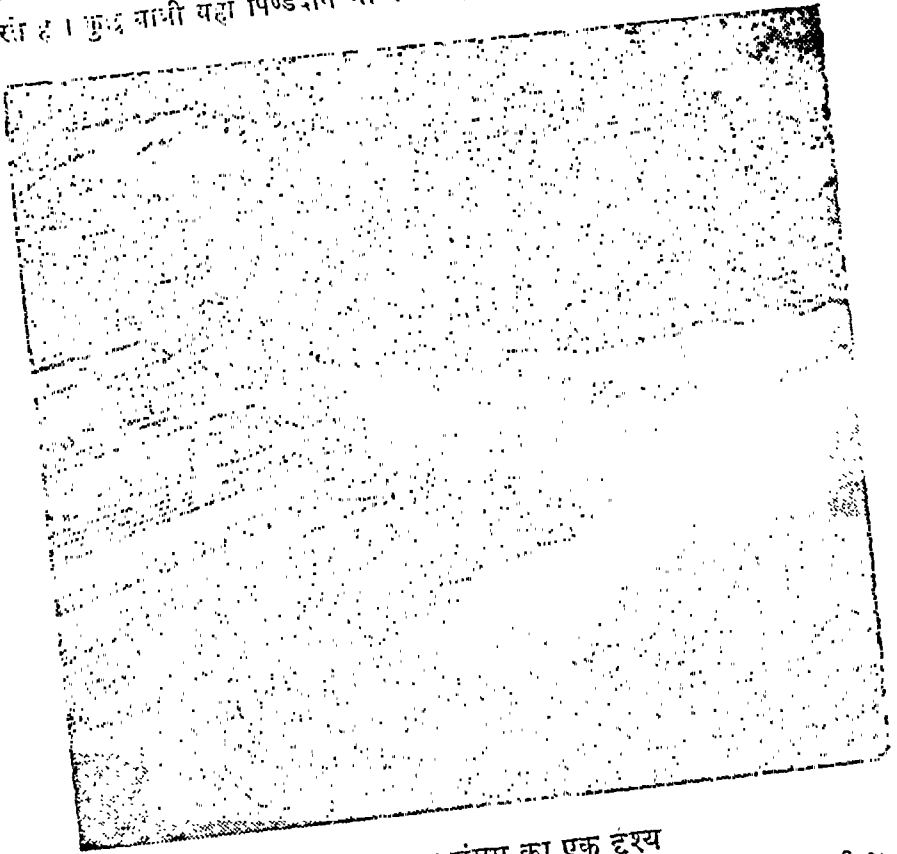
देवप्रयाग संगम का एक दृश्य

देवप्रयाग एक रमणीक पर्वतीय नगरी है। समुद्रतल से इसकी ऊंचाई १७५० फिट है। यहां की ऋतु बड़ी सुहावनी मानी जाती है। शीतकाल में यहां अधिक शीत नहीं पड़ता। ग्रीष्म काल में दिन के समय कुछ गर्मी अनुभव होने लगती है।

देवप्रयाग हिन्दू संस्कृति का एक केन्द्र रहा है। पौराणिक कथाओं के अनुसार श्री रामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण के साथ यहां कुछ दिन ठहरे थे। अयोध्या के राज्य को छोड़कर जब वे अपने जीवन के अंतिम काल में हिमालय की यात्रा को गए, तब वे इसी मार्ग से पर्वतों में गए थे। यहां उनके नाम पर एक मंदिर संगम के समीप एक ऊंचे स्थान पर बना है जो 'श्री रघुनाथ मंदिर' के नाम से विख्यात है।

कहा जाता है कि जिस समय राजा भगीरथ हिमालय की ओर गंगा लाने के लिए गए थे तो उन्होंने इस स्थान से ही आगे को प्रस्थान किया था।

इसी प्रकार से आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य जब तपस्या के लिए जोशी-मठ की ओर गए थे तब उन्होंने भी यहां कुछ दिन तक निवास किया था। इस सम्बन्ध में हमें बताया गया है कि श्री रघुनाथ मंदिर की स्थापना उनके द्वारा ही हुई थी।

यह स्थान पंडों की नगरी माना जाता है। यहां अधिकांश मकान केदारनाथ एवं बदरीनाथ की यात्रा कराने वाले पंडों के ही हैं। इनके साथ कुछ धर्मशाला के रूप में भी स्थान हैं। यात्रियों के निवास की व्यवस्था पंडे ही करते हैं। मुझे बताया गया कि पंडों की बहियों में एक हजार वर्ष पूर्व की भी अनेक बातें अंकित हैं। उनकी ये बहियां अनेक ऐतिहासिक बातों पर भी प्रकाश डालती हैं।

देवप्रयाग की सबसे ऊंची चोटी पर 'महिष-मर्दिनी देवी' का एक मंदिर है। इस मंदिर पर वर्ष में कई बार मेला लगता है।

यहां पर आदि विश्वेश्वर का मंदिर भी दर्शनीय है। यहां कुछ और मंदिर भी हैं। बसंत के अवसर पर देवप्रयाग में एक बड़ा मेला लगता है जिसमें हजारों यात्री सम्मिलित होते हैं।

देवप्रयाग से आगे कीर्तिनगर आता है। टिहरी गढ़वाल के महाराज कीर्तिशाह ने इसे बसाया था। यहां अलकनन्दा पर एक पक्का पुल बन गया है। इससे आगे श्रीनगर है।

श्रीनगर—

स्कन्द पुराण के केदार खण्ड में इस स्थान को श्रीक्षेत्र बताया गया है। इसका दूसरा नाम धनुष-क्षेत्र भी आता है। समुद्रतल से इसकी ऊंचाई १७०६ फुट है। एक पौराणिक कथा के अनुसार सतयुग में यहां कोलासुर नाम का एक असुर रहता था। राजा सत्यसंध ने उसे मारने के लिए दुर्गा की आराधना की। देवी ने वरदान पाकर राजा ने कोलासुर का वध किया।

श्रीनगर से एक मील पहले यहां शंकरमठ है। इसकी स्थापना देवता नाम के ऋषि द्वारा की गई मानते हैं।

भगवान राम के यहां आने और कमलेश्वर शिव की उपासना करने का भी पुराणों में वर्णन आता है। यहां का कमलेश्वर मंदिर बहुत प्रसिद्ध है।

श्रीनगर में सबसे पहले सन् १६२४ ई० में दो पुर्तगाली विदेशी आये। इनके नाम एन्टोनियो डी एण्ड्रेड और ब्रादर मैन्वल मारकुइस थे। ये दोनों व्यक्ति बदरीनाथ

की तरफ से माना घाटी होते हुए तिब्बत गये थे। कैप्टिन हार्डविक १७९६ ई० में कोटद्वार मार्ग से श्रीनगर गये, उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल में 'मेरी श्रीनगर यात्रा' शीर्षक से एक लेख लिखा था।

श्रीनगर टिहरी गढ़वाल महाराज का एक प्रमुख शासकीय नगर रहा। १८०३ में इस नगर को गोरखा-युद्ध ने प्रभावित किया। इसके पश्चात् यह नगर पुनः संभला। यहां किसी समय बड़ा भारी व्यापार होता था। यहां तिब्बती लोग माना और नीति घाटियों की ओर से व्यापार के लिए आते थे।

श्रीनगर किसी समय तांत्रिकों का गढ़ रहा। इन तांत्रिकों ने हिन्दू जनता में मिथ्या विश्वासों को घुसाकर भारतीय संस्कृति को बड़ी क्षति पहुंचाई।

रुद्रप्रयाग—

इसके साथ भी पुराणों की अनेक कथायें जुड़ी हैं। इस स्थान पर नारद ने भगवान शंकर की उपासना करके संगीत शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। इसका वर्णन केदारखण्ड अध्याय ६३, ६४ और ६५ में किया गया है।

यह स्थान समुद्रतल से २००० फुट ऊंचाई पर स्थित है। यहां अलकनन्दा और मन्दाकिनी का संगम बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ऋषिकेश और बदरीनाथ के बीच पांच संगम पड़ते हैं इनके नाम इस प्रकार हैं —

१.	देवप्रयाग	भागीरथी और अलकनन्दा का संगम
२.	रुद्रप्रयाग	मन्दाकिनी और अलकनन्दा का संगम
३.	कर्णप्रयाग	पिंडर और अलकनन्दा का संगम
४.	नन्दप्रयाग	नन्दाकिनी और अलकनन्दा का संगम
५.	विष्णुप्रयाग	धौलीगंगा और अलकनन्दा का संगम

पुराणों में इन सब का अलग २ माहात्म्य बताया गया है। हजारों यात्री इन संगमों पर स्नान करते हैं।

रुद्रप्रयाग संगम के समीप से एक मार्ग ऊपर की तरफ जाता है। इस मार्ग पर रुद्रेश्वर महादेव का मंदिर है। इसमें गोपालेश्वर, शिवलिङ्ग, ताड़केश्वर, नारदेश्वर और अन्नपूर्णा देवी की मूर्तियां विद्यमान हैं।

यह स्थान अब बराबर विस्तार पा रहा है। यहां से केदारनाथ एवं बदरीनाथ दोनों ओर को मोटर मार्ग जाता है। ग्रीष्म ऋतु में यहां यात्रियों की खूब भीड़ हो जाती है। केदारनाथ जाने वाले यात्री यहां ठहरकर दूसरे दिन अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं। बदरीनाथ जाने वाली बहुत सी बसें भी यहां रात्रि को रुक जाती हैं।

मैं यहां पहले रुद्रप्रयाग से केदारनाथ मंदिर तक के मुख्य २ स्थानों का विवरण दे रहा हूं। पौराणिकों का कहना है कि श्री बदरीनाथ जाने से पूर्व श्री केदारनाथ यात्रा करनी चाहिए। वे इसे शास्त्रोक्त विधि मानते हैं।

रुद्रप्रयाग से केदारनाथ जाने वाले मार्ग में गुप्तकाशी एक ऐसा स्थान है जिसका प्राचीन महत्व रहा है। इसी प्रकार त्रिजुगीनारायण भी प्राचीन संस्कृति से सम्बन्धित एक तीर्थ स्थान है। रुद्रप्रयाग से केदारनाथ साढ़े अड़तालीस मील दूरी पर है। त्रिजुगीनारायण होकर जाने पर यात्रियों को ५३ मील की यात्रा करनी होती है। गुप्तकाशी तक मोटर मार्ग बन गया है। कुण्ड चट्टी तक मोटर बसें चालू हैं। समस्त चट्टियों का विवरण न देकर हम यहां केवल सांस्कृतिक महत्व के कुछ स्थानों का ही विवरण देना उचित समझते हैं।

अगस्त मुनि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि समुद्र के शोषण करने के लिए यहां अगस्त मुनि ने तप किया था। उनकी स्मृति में यहां एक मंदिर बना है जिसमें अगस्त मुनि की ताम्र प्रतिमा विद्यमान है। मूर्ति के समीप एक कटार और उनके दोनों ओर उनके दो शिष्यों की मूर्तियां बनी है। मंदिर के समीप की कोठरियों में शिवलिङ्ग और गणेश की मूर्तियां भी विद्यमान है। यह स्थान समुद्र तल से ३००० फुट ऊंचाई पर है।

इस स्थान से आधा मील पर नारायण मंदिर स्थान है। यहां के नारायण मंदिर में विष्णु की एक सुन्दर प्रतिमा स्थापित की हुई है।

गुप्तकाशी—

इस स्थान के सम्बन्ध में पुराणों की अनेक कथायें जुड़ी है। प्राचीन काल में इस स्थान पर पार्वती ने शिव प्राप्ति के लिए तपस्या की थी। जिस प्रकार उत्तर प्रदेश के काशी और उत्तरकाशी में विश्वनाथ के मंदिर बने है इसी प्रकार यहां भी विश्वनाथ का मंदिर है। इसमें विश्वनाथ लिङ्ग स्थापित है। इस मंदिर के सामने गरुड़ जी का मंदिर है। एक अन्य मंदिर में नन्दी पर सवार अर्ध नारीश्वर की एक सुन्दर प्रतिमा है। इसे अर्ध नारी नटेश्वर नाम से पुकारते है। यहां अन्नपूर्णा की चतुर्भुजी मूर्ति भी विद्यमान है।

जिस प्रकार काशी और उत्तरकाशी में मणिकर्णिका घाट है, इसी प्रकार यहां के एक कुण्ड का नाम मणिकर्णिका कुण्ड रख दिया गया है। इस कुण्ड के दो मुख बना दिये गए हैं। यहां के पण्डे एक मुख से गंगा की धारा और दूसरे से यमुना की धारा निकलने का बखान करते है।

गुप्तकाशी के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती है कि यहां पाण्डवों ने तप किया था। यहां के एक मंदिर में पाण्डवों की मूर्तियां भी है।

गुप्तकाशी के सम्बन्ध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का कहना है—

"गुप्तकाशी वस्तुतः पिछली दो शताब्दियों से ही काशी वनने की ओर अग्रसर हुई है। पहले उसका नाम दूसरा ही था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि यहां पुराने समय में मंदिर नहीं थे, वस्तुतः नवीं से बारहवीं सदी तक (कत्यूरी काल में) केदारखंड में जगह जगह वहुत सुन्दर मंदिर वने हुये थे। यहां भी ऐसे मंदिर मौजूद थे, जो टुकड़ियां और रुहेलों के आक्रमण में नष्ट हुये। वर्तमान सुन्दर मंदिर पीछे से वनाया गया।"

गुप्तकाशी के समीप एक मील पर नाला चट्टी है। यहां एक प्राचीन शिव मंदिर है। इसके सम्बन्ध में राहुल जी ने बहुत खोज की थी। उन्होंने लिखा है—

"गुप्तकाशी के एक मील पर नाला चट्टी में एक प्राचीन शिवालय है, जिसके वाहर केदार-खंड का एकमात्र बौद्ध स्तूप दिखाई पड़ता है। जान पड़ता है, बौद्ध के चिह्न तक न रहने देने के लिये किसी समय गढ़वाल में प्रयत्न हुआ था, जिसके ही कारण आज बौद्ध अवशेष वहां इतने दुर्लभ हैं किन्तु यह पाषाण-स्तूप बता रहा है कि किसी समय तथागत यहां अपरिचित नहीं थे।"

हिमालय की मूर्तिकला और रुहेलों के केदारखंड पर आक्रमण के सम्बन्ध में राहुल जी ने लिखा है—

"भारत के और भागों की तरह हिमालय में भी किसी समय ऐसे कुशल कलाकार थे, जिनकी तूलिका अजन्ता के चित्रकारों की प्रतिद्वन्दिता करती थी और जो अपनी छिन्नियों से कठोर पाषाण को मक्खन की तरह काट कर सुन्दर प्रतिमायें निकाल लेते थे। उन प्राचीन चित्रों का तो यहां अब नाम भी नहीं रह गया, किन्तु मूर्तियों के अवशेष अब भी मौजूद हैं। प्रायः सभी मूर्तियां टूटी हुई हैं, स्वयं वदरीनाथ की मूर्ति भी खंडित है।

मूर्तिभंजकों का तीन बार आक्रमण केदारखण्ड पर हुआ था, जिसमें चौदहवीं सदी के मध्य में मुहम्मद तुगलक की तिब्बत पर आक्रमण करने वाली सेना को यदि छोड़ दिया जाय तो १६वीं सदी के तृतीय पाद में, (अकवर के समय १५७० ई०) धर्मान्ध हुसैन खां टुकड़िया ने केदारखंड के मंदिरों को लूटा, मूर्तियों को तोड़ा। उसके बाद १७४१—४२ ई० में रुहेलों का आक्रमण हुआ था, जिसे कुल नौ दस पीढ़ियां ही अभी होती हैं।"*

श्री राहुल जी की खोज में यह बात स्पष्ट है कि बौद्ध काल में इधर भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और भगवान बुद्ध की स्मृति को बनाये रखने के लिये यहां एक बौद्ध स्तूप भी स्थित किया गया।

---

* धर्मयुग १७ फरवरी १९५१ पृष्ठ ७

नाला स्थान के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा भी प्रचलित है कि यहां राजा नल ने भगवती देवी की आराधना की थी। यहां भगवती ललिता देवी का मंदिर बना है। यहां गरुड़ जी का मंदिर भी है। इस क्षेत्र में गरुड़ जी को विशेष सम्मान मिला है। मंदिर के समीप शिव-पार्वती की भी मूर्तियां हैं। यहां एक मंदिर में बहुत सी खंडित मूर्तियां भी विद्यमान हैं जो कत्यूरी काल की बताई जाती हैं। मंदिर के द्वार पर १२४६ ई० का एक शिलालेख भी अंकित है। इस शिलालेख से विदित होता है कि इस मंदिर का निर्माण तेरहवीं शताब्दी में हुआ था।

नाला से एक मार्ग ऊखीमठ होकर चमोली को जाता है। चमोली बदरीनाथ मार्ग पर है। दूसरा मार्ग केदारनाथ को जाता है।

नाला से आगे दो मील दूरी पर नारायण कोटि नाम का स्थान है। श्रीमद्-भागवत में भस्मासुर की एक कथा आती है। उसके अनुसार यहां भस्मासुर ने शिव की तपस्या करके यह वरदान प्राप्त किया था कि वह जिसके सिर पर हाथ रखेगा वह भस्म हो जायगा। भगवान विष्णु को इस बात की चिन्ता हुई कि वह भस्मासुर को कैसे परास्त करें। उन्होंने अवसर पाकर भस्मासुर का हाथ उसी के सिर पर रखा दिया। इस तरह भस्मासुर स्वयं भस्मीभूत हो गया।

इसी क्षेत्र में महिषासुर की भी एक कथा बताई जाती है। दैत्यराज महिषासुर का वध महिष-मर्दनी देवी द्वारा हुआ था। ऐसी और कथायें भी केदारखंड के साथ जुड़ी हैं।

त्रिजुगीनारायण—

पुराणों की कथा के अनुसार यहां विष्णु ने भगवान रुद्र की आराधना की थी। यहां भगवान त्रिजुगीनारायण का एक प्राचीन मंदिर है। मंदिर में जो मूर्ति है उसमें भगवान विष्णु एक सिंहासन पर आसीन दिखाये गये हैं और उनके समीप सरस्वती और लक्ष्मी विराजमान हैं।

मंदिर के समीप एक चौकोर कुण्ड बना है। पण्डों का कहना है कि इस कुण्ड में तीन युगों से अग्नि जल रही है। वे इस कुण्ड को उस समय का मानते हैं जब हिमवान ने अपनी पुत्री पार्वती का शिव के साथ विवाह किया था। अग्नि को प्रज्ज्व-लित रखने के लिये वे यात्रियों से हवन सामग्री और समिधा इस कुण्ड में डलवाते हैं। पुराणों में इस कथा का वर्णन मिलता है।

यहां कुछ कुण्ड भी बने हैं। इनके नाम सरस्वती कुण्ड, ब्रह्मकुण्ड, रुद्रकुण्ड और विष्णुकुण्ड हैं। पण्डे यात्रियों को इन सभी कुण्डों का माहात्म्य बताते हैं।

त्रिजुगीनारायण से सवा तीन मील दूरी पर एक स्थान सोनप्रयाग आता है।

यहां वासुकी गंगा और मन्दाकिनी का संगम हुआ है। इस स्थान को सोमद्वार भी कहते हैं। वासुकी नदी पर १७० फुट लम्बा पुल बना है।

इस स्थान से आगे सिर कटा गणेश नाम का एक स्थान है। इसके साथ पुराण की वह कथा सम्बन्धित है जब शिव ने गणेश का सिर काटा था। इस कथा में बताया गया है कि जब पार्वती स्नान कर रही थीं तो गणेश द्वार पर बिठा दिये गये थे जिससे कोई व्यक्ति अन्दर न जा सके। दैवयोग से भगवान शंकर वहां आ गये। गणेश जी ने उनको अन्दर जाने से रोका तो उन्होंने उनका सिर काट दिया। पार्वती जी के अनुरोध पर शिव ने उनकी गर्दन पर हाथी का सिर रख दिया। इस प्रकार गणेश हाथी के मुख वाले बन गये। हम इस पौराणिक कथा को प्रकृति के नियम के विरुद्ध समझते हैं।

सिर कटा गणेश स्थान से दो मील की दूरी पर गौरी कुण्ड है। यह स्थान समुद्रतल से ६८०० फुट ऊंचाई पर है। पुराणों की कथा के अनुसार पार्वती का जन्म इसी स्थान पर हुआ था। यहां दो कुण्ड हैं। एक कुण्ड गर्म जल का है, दूसरा शीतल जल का। शीतल जल वाला कुण्ड अमृत कुण्ड के नाम से विख्यात है। यहां के एक मंदिर में गौरी, महादेव, राधाकृष्ण और ज्वाला देवी की मूर्तियां विद्यमान हैं। इस स्थान से आगे कई और छोटे छोटे मंदिर भी हैं।

श्री केदारनाथ—

केदारनाथ महापंथ पर्वत के निचले भाग में स्थित है। समुद्र तट से इसकी ऊंचाई ११७५० फुट है। पुराणों की कथा के अनुसार सतयुग में यहां उपमन्यु ने भगवान शंकर की आराधना की थी और उनसे वरदान प्राप्त किया था।

स्कन्ध पुराण की एक कथा के अनुसार श्री केदारनाथ मंदिर का निर्माण पाण्डवों ने कराया था। केदारनाथ द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक माना जाता है। कहते हैं इस मंदिर का जीर्णोद्धार आदि शंकराचार्य ने कराया था और यहीं आकर उन्होंने शरीर त्याग किया था।

पुराणों की कथा के अनुसार भगवान शंकर ने यहां महिष रूप धारण किया था। इसके सम्बन्ध में बताया गया है—

> "महिष रूपधारी शंकर के विभिन्न अंग पांच स्थानों में प्रतिष्ठित हुए। ये पंच केदार माने जाते हैं। उनमें से (तृतीय केदार) तुङ्गनाथ में बाहु, (चतुर्थ केदार) रुद्रनाथ में मुख, (द्वितीय केदार) मदमहेश्वर में नाभि, (पंचम केदार) कल्पेश्वर में जटा तथा (प्रथम केदार) केदारनाथ में पृष्ठ भाग और पशुपतिनाथ नैपाल में सिर माना जाता है। केदारनाथ में भगवान शंकर का नित्य सानिध्य बताया गया है।"*

---

* कल्याण तीर्थाङ्क पृष्ठ ५६

यहां के सम्बन्ध में भगवान शंकर से सम्बन्धित कुछ कथायें भी जुड़ी हैं। शंकर के पांच अङ्गों के नाम पर जो पांच केदार स्थापित किये गये, ये पौराणिक विश्वास को ही प्रगट करते हैं। भगवान शंकर के शरीर के पांच भागों का इस प्रकार दूर २ जाकर गिरना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। फिर भी लाखों यात्री प्रतिवर्ष अपनी धर्मभावना के अनुसार इन पंच-केदारों की यात्रा करके अपने आपको धन्य मानते हैं।

श्री केदारनाथ की कोई निर्मित मूर्ति नहीं है। त्रिकोण पर्वत शिला की ही पूजा की जाती है। दालान में राम, लक्ष्मण, सीता, नन्दीश्वर और गरुड़ की मूर्तियां भी बनी हैं। यहां के दर्शनीय स्थानों में अनेक ताल हैं जिनके नाम मन्नगंगा, क्षीरगंगा (चोरावाड़ी ताल) वासुकिताल, गुप्तकुण्ड हैं। केदारनाथ पुरी में जल के सोते के पास सत्यनारायण का एक छोटा मंदिर भी है।

मंदिर में ऊषा, अनिरुद्ध, पञ्चपाण्डव, श्री कृष्ण तथा शिव पार्वती की मूर्तियां हैं। मंदिर के बाहर अमृतकुण्ड, ईशानकुण्ड, हंसकुण्ड एवं रेतसकुण्ड हैं। पण्डे इनको तीर्थ बताते हैं।

श्री केदारनाथ मंदिर में छः मास तक पूजा होती है। शीतकाल में सभी व्यक्ति ऊखीमठ चले जाते हैं और वहीं पूजा करते हैं।

इस मंदिर की पूजा का अधिकार दक्षिण के जङ्गम जाति के ब्राह्मणों को है।

ऊखीमठ--

इस स्थान को ओखीमठ भी कहते हैं। स्कन्द पुराण की एक कथा के अनुसार यहां बाणासुर नाम का एक असुर रहता था। उसकी पुत्री ऊषा बड़ी सुन्दरी था। उसका विवाह श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ हुआ था। उन दोनों का विवाह इसी स्थान पर हुआ। यह स्थान ऊषा-मठ कहलाया और बाद में बिगड़कर ऊखीमठ या ओखीमठ बन गया। यहां चक्रवर्ती सम्राट मान्धाता के तप करने की भी कथा आती है।

यह स्थान केदारनाथ मंदिर के रावल का गद्दी स्थान माना जाता है। गद्दी के समीप स्वर्णमयी पंचमुखी शिव की बड़ी सुन्दर मूर्ति है। इसके समीप वस्त्राभूषण से सुसज्जित पार्वती की मूर्ति है। दूसरे कमरे में कुन्ती, द्रोपदी सहित पांचों पाण्डवों की मूर्तियां हैं।

इस मन्दिर के सामने एक दूसरे मंदिर में ओंकारेश्वर शिव लिङ्ग है। सोने सिंहासनों पर आदि बदरी, केदार, पार्वती और तुङ्गनाथ पार्वती की मूर्तियां दिखाई गई हैं। इन सब मूर्तियों के साथ पुराणों की अनेक कथाओं का सम्बन्ध बताया जाता है।

हिमालय का यह भाग भी ईसा की प्रथम शताब्दी से ही हिन्दुओं का एक तीर्थ स्थान रहा है। गुप्त काल में इस स्थान को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। यहां कई ताम्रपत्र भी हैं। इनमें से एक ताम्रपत्र १७९७ ई० का है जो एक नेपाली राजा का बताया जाता है। दूसरा ताम्रपत्र सन् १८११ ई० का एक गोरखा अधिकारी थापा की माता का है। इन ताम्रपत्रों में श्री केदारेश्वर के नाम पर कुछ भूमि प्रदत्त किए जाने का उल्लेख है। मैंने इन ताम्रपत्रों को नहीं देखा है अतः इनका विस्तृत विवरण नहीं दिया जा सकता।

ऊखीमठ संस्कृत विद्याध्ययन का एक बड़ा केन्द्र रहा है। यहां उत्तराखंड विद्यापीठ स्थापित है जिसमें संस्कृत, ज्योतिष और आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती है।

मध्यमेश्वर—

उत्तराखंड के पंच केदारों में मध्यमेश्वर भी सम्मिलित है। ऊखीमठ से कालीमठ होते हुये मध्यमेश्वर १८ मील दूरी पर है। पुराणों में इस क्षेत्र को कालीक्षेत्र बताया गया है। भगवती काली की यहां पूजा की जाती है। यह काली देवी का सिद्धपीठ माना जाता है। बलि प्रथा का यह एक बड़ा केन्द्र रहा है। तांत्रिकों ने यहां मन माने ढंग से बलि प्रथा को प्रोत्साहन दिया।

यहां हरगौरी, सरस्वती और लक्ष्मी के नाम पर भी मंदिर हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान शक्ति-पूजा का एक गढ़ रहा।

यहां बहुत सी खण्डित मूर्तियां भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रुहेलों ने इस क्षेत्र को भी विनष्ट करने का यत्न किया और यहां की मूर्तियों को खंडित किया। खंडित मूर्तियों में स्वामी कार्तिकेय को मयूर पर आसीन दिखाया गया है।

तुङ्गनाथ—

ऊखीमठ से तुङ्गनाथ चौदह पंदरह मील दूर है। इसका नाम चन्द्रशिला भी आया है। समुद्रतट से इसकी ऊंचाई १२०७२ फुट है। यह ऊंचाई यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ चारों धामों से बहुत अधिक है। तुङ्गनाथ पंचकेदारों में से तृतीय केदार माने गये हैं। इस पर्वत शिखर से इन सभी धामों के उन्नत शिखर दिखाई पड़ते हैं।

यहां भगवान तुङ्गनाथ की पूजा की जाती है। उन्हीं के नाम पर यहां एक मंदिर बना है। शिव जी का बाहु आकृति वाला लिङ्ग यहां स्थापित है जिसे पौराणिक स्वयंभू लिङ्ग मानते हैं। मैठाणी जाति के ब्राह्मण यहां के पुजारी होते हैं।

तुङ्गनाथ की चढ़ाई बहुत ही कठिन मानी जाती है। यह तीन मील की सीधी चढ़ाई करते समय यात्रियों को बड़ा परिश्रम उठाना पड़ता है। इसी कारण यहां

बहुत ही कम यात्री पहुंच पाते हैं। यहां का दृश्य बड़ा ही मनमोहक प्रतीत होता है। चारों ओर ऊंचे ऊंचे पर्वत शिखरों पर हिम की श्वेत चादर बिछी दृष्टि पड़ती है।

तुङ्गनाथ की चोटी चन्द्रशिला के सम्बन्ध में एटकिन्सन ने लिखा है: 'चन्द्रशिला पर आकर दृष्टि पूर्ण स्वतंत्रता के साथ प्रकृति को निहारती है। सब ओर दूर दूर तक आंखें जाती हैं। कोई पहाड़ी उसके मार्ग में बाधक नही होती। आकाश के बादल भी दृष्टि पथ में नहीं आते। सुगन्ध पूर्ण पुष्प समस्त मार्ग को स्वर्ण जटित वस्त्र प्रगट करते हैं। पीले, नीले और बैंजनी पुष्प प्राकृतिक रूप से भारी संख्या में मिलते हैं। तरह तरह की लिली, वायलेट, डेजी और ट्यूलिप्स जगह जगह खिले हैं। गुग्गल, धूप, ममीरा, मीठा तेलिया, सलाद मिश्री तथा अन्य जड़ी बूटियां मिलती हैं जिनकी पत्तियों के विविध रंग अत्यन्त सुन्दर हैं। केशर तथा अन्य जड़ियां अत्यधिक मीठी सुगन्ध छोड़ते हैं। ब्रह्म कमल की पंखुड़ियों पर बर्फ के नन्हें नन्हें कण छितराये रहते हैं। यह सब चीजे मिलकर इन पर्वतों को पृथ्वी और स्वर्ग के स्वामी (राम) की देव वाटिका बना लेते हैं।"*

इधर एक स्थान पर बालखिलत नदी और अनुसुइया से आने वाली नदी का संगम हुआ है जो व्योम प्रयाग कहलाता है। पुराण की एक कथा के अनुसार यहां राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस कथा के अनुसार यहां अयोध्या के राजा बाहुवर आकर रहे थे। यहां आकर ऊर्ज मुनि नाम के एक महात्मा की उन्होंने शरण ली थी। राजा की बड़ी रानी से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम सगर रक्खा गया राजा सगर ने शिव की आराधना करके वरदान प्राप्त किया। इसके पश्चात् उन्होंने शत्रुओं को परास्त करके पुनः अयोध्या का राज्य प्राप्त किया।

अनुसुइया देवी भी एक प्राचीन तीर्थ स्थान माना जाता है। उसकी ऊंचाई ६५०० फुट है। यहां महर्षि अत्रि ने अपनी पत्नी अनुसुइया सहित तप किया था। यहां अनुसुइया देवी के नाम पर एक मंदिर भी बना है।

---

* दी वैली ऑफ गौडस पृष्ठ ८८

"It is Chandrashilla where the vision enjoys perfect freedom, unimposed; it travels far and wide on all sides, no hills to stand in its way, no angry clouds to mar its course. Exuberant flowers make almost the whole of the way a veritable field of cloth of gold. Yellow, blue and purple flowers are met with in wild plenty. Lots of lilies, violets, diasies and tulips of different varities; *guggal, dhoop, mamira, mitha telia, salad-misri* and other herbs with leaves of lovely tins; saffron and other plants exhalting exceedingly sweet scent, and lordly Brahma kanwal (lotus) with its calyx filled with fine icicles of frost; all these things make these mountains a pleasure garden worthy of the Lord of Earth and heaven (Rama)"

रुद्रनाथ पंच केदारों में गिना जाता है। यहां रुद्रेश्वर महादेव का मंदिर है। इस स्थान के साथ भगवान शंकर द्वारा अन्धकासुर दैत्य के मारे जाने की कथा जुड़ी है।

गोपेश्वर—

तुङ्गनाथ से चमोली लौटते समय मार्ग में गोपेश्वर आता है। स्कन्द पुराण की एक कथा के अनुसार भगवान शिव ने यहां कामदेव को भस्म किया था। यहां रुद्रनाथ की गद्दी स्थापित है। यहां का गोपेश्वर मंदिर बड़ा प्राचीन मंदिर माना जाता है। यहां अष्ट धातु का एक त्रिशूल है। उसपर बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के दो अभिलेख अंकित हैं जिनकी लिपि पाली है। इनमें इन शताब्दियों के विजेताओं के नामों का कुछ उल्लेख किया गया है। यह नेपाल के राजा अविकपाल का कीर्ति स्तम्भ बताया जाता है।

इस स्तम्भ से यह बात तो प्रगट होती ही है कि हिमालय के इन स्थानों के साथ नेपाल का कभी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और वे लोग इधर पूजा-पाठ के लिये आते रहे।

इस स्थान पर भी कुछ खंडित मूर्तियां हैं। इनको देखने से यही कल्पना की जा सकती है कि इधर मूर्ति भंजकों ने अनेक आक्रमण किये।

गोपेश्वर के समीप एक पर्वतीय नदी वहती है। इसे यहां वैतरणी नाम से पुकारते हैं।

गोपेश्वर के सम्बन्ध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का कथन है—

> "चमोली से तीन ही मील की दूरी पर गोपेश्वर का प्राचीन मंदिर है जिसके एक विशाल त्रिशूल पर बारहवीं-तेरहवीं सदी के दो विजेताओं के अभिलेख मौजूद हैं और त्रिशूल तो और भी पहले स्थापित किया गया था। यहां का मंदिर भी केदारनाथ की तरह विशाल है, किन्तु मूर्तियां खण्डित जहां तहां पड़ी हुई हैं। एक विशेष तौर के शिवलिङ्गों से पता चलता है कि यहां किसी समय लकुलीश पाशुपतों का वहुत जोर था।"‡

गोपेश्वर को उत्तर प्रदेश सरकार चमोली जिले का मुख्य केन्द्र वना रही है। अनेक विभागों के यहां भवन वन रहे हैं। चमोली से यह स्थान तीन मील दूर है। इस वात का प्रयत्न किया जा रहा है कि गोपेश्वर और चमोली का यातायात सुगम हो जाए।

---

‡ धर्मयुग ८ जुलाई १९५१
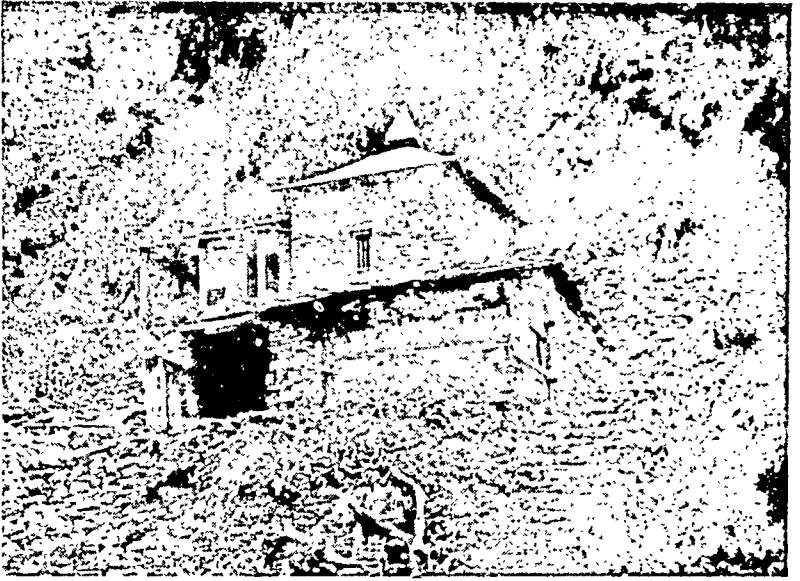
यमुनोत्तरी-मंदिर

उत्तरकाशी का मनोरम दृश्य
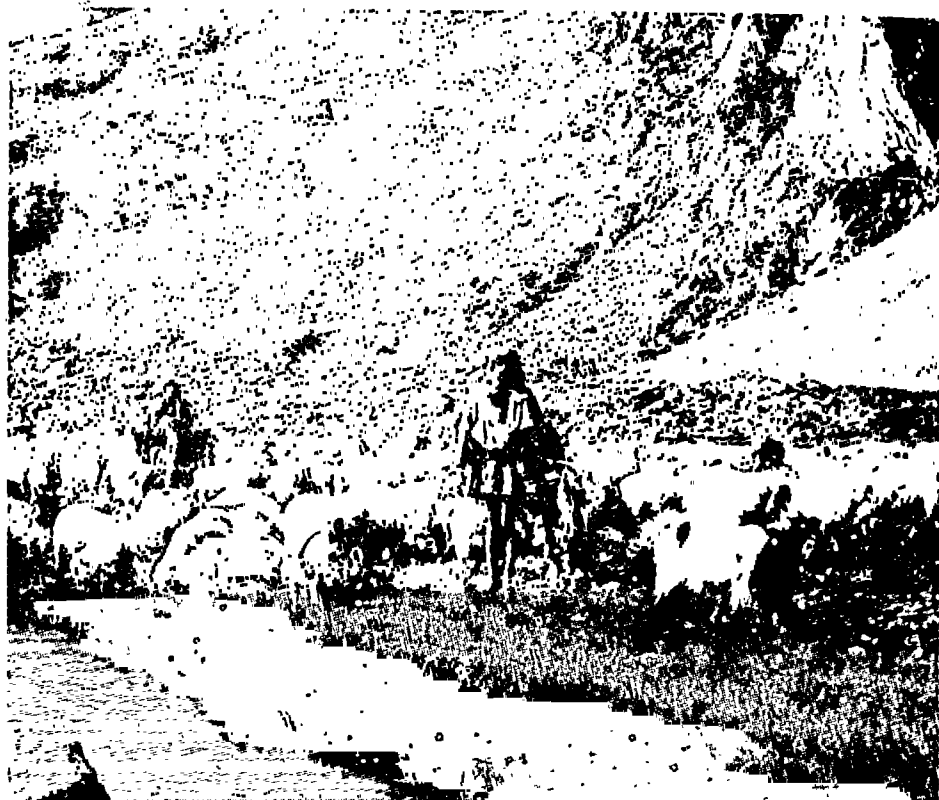
भेड़ पालक गोमुख के समीप तक पहुंचते हैं

गंगोत्तरी नगरी

गंगोत्तरी मंदिर
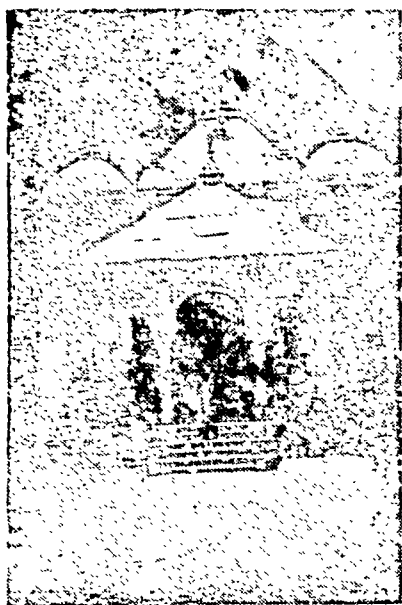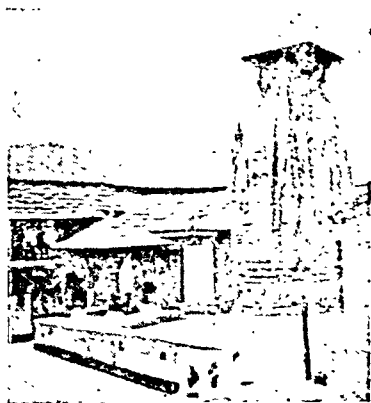
ऊखीमठ मंदिर
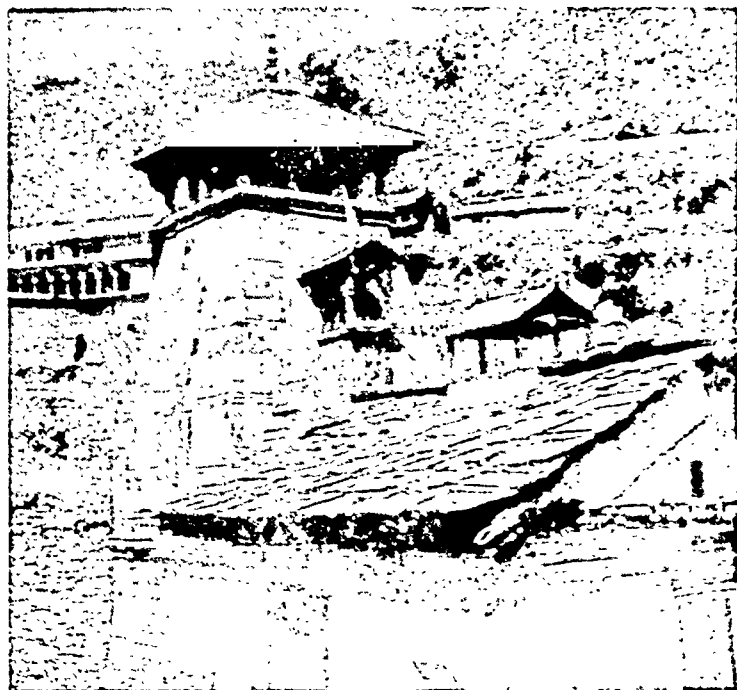
त्रिजुगी नारायण मंदिर

जोशीमठ का मंदिर
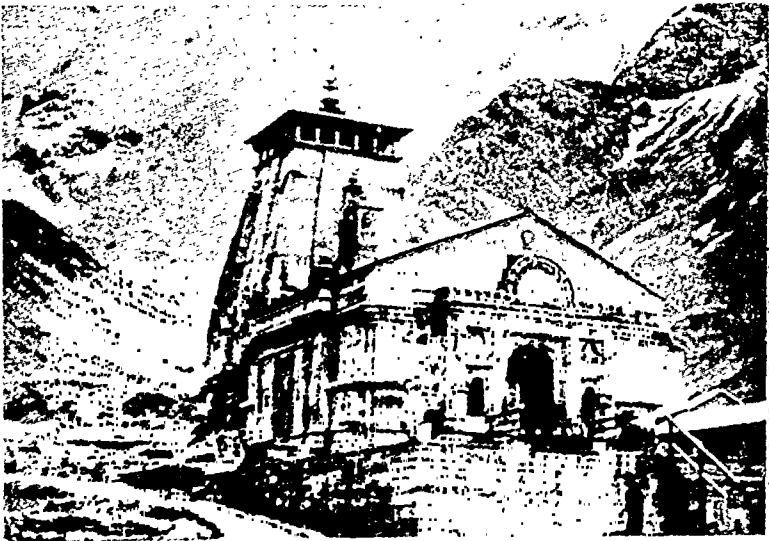
पाण्डुकेश्वर का मंदिर

हमने यहां रुद्रप्रयाग से केदारनाथ और उसके समीपवर्ती तीर्थ स्थानों का कुछ विवरण दिया है। वहां से लौटकर यात्री चमोली आते हैं। रुद्रप्रयाग से चमोली तक के सीधे मार्ग में कर्णप्रयाग और नन्दप्रयाग दो विशेष स्थान पड़ते हैं। रुद्रप्रयाग से कर्णप्रयाग की दूरी २० मील है। यह स्थान बराबर विस्तार पा रहा है।

कर्णप्रयाग से नन्दप्रयाग १३ मील दूर है। यह भी एक सुन्दर स्थान है। यहां से चमोली ६ मील है।

नन्दप्रयाग के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसके समीप कण्व ऋषि ने तपस्या की थी। स्कन्द पुराण के केदारखंड में इस स्थान का नाम कण्वाश्रम आया है। ऐसा समझा जाता है कि उसी स्थान पर शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ विवाह हुआ था।

एक अन्य कथा के अनुसार यहां राजा नन्द ने यज्ञ किया था और ब्राह्मणों को अपार धनराशि दक्षिणा स्वरूप भेंट की थी। उनके नाम पर ही यह स्थान नन्दप्रयाग नाम से विख्यात हुआ।

इन तीनों स्थानों के समीप में ऐसे अनेक स्थान हैं जिनके साथ पुराणों की कथाओं का सम्बन्ध रहा है। वास्तविक बात तो यह है कि हिमालय के ये सभी शिखर पौराणिक देवी देवताओं की क्रीड़ा भूमि रहे है।

चमोली अब उत्तर प्रदेश का एक जिला बन गया है। इसका यद्यपि कुछ विस्तार हुआ है परन्तु एक तरफ अलकनन्दा और दूसरी ओर ऊंचे ऊंचे पर्वत होने से इसका विस्तार होना सम्भव नहीं। अतः सरकार इसको गोपेश्वर से मिलाने का प्रयत्न कर रही है।

चमोली से पीपलकोटी होते हुये यात्री अब मोटर बसों द्वारा सीधे जोशीमठ पहुंच जाते हैं। पीपलकोटी इस यात्रा का एक बड़ा केन्द्र रहा है। यहां तिब्बती व्यापारी व्यापार के लिये एक बड़ी संख्या में आते रहे हैं। अतः हम मार्ग का विवरण न देकर जोशीमठ की महत्ता पर ही प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

जोशीमठ

इसे ज्योतिष्पीठ भी कहते है। इसका दूसरा नाम जोशिका भी आता है। समुद्रतट से इसकी ऊंचाई ६१५० फुट है। यह स्थान पुराणों की कई कथा से सम्बन्ध रखता है। इस तरह की कथायें साधारणतया सम्पूर्ण केदार क्षेत्र के साथ जुड़ी हैं जिनमें विष्णु और नरसिंह भगवान के नामों का भी उल्लेख है।

आदि जगद्गुरु स्वामी शङ्कराचार्य ने जोशीमठ में शहतूत के वृक्ष के नीचे तपस्या की थी। उनके नाम पर यहां भी एक गुफा 'शङ्कर गुफा' नाम से विख्यात है। यहीं उन्हें दिव्य ज्योति के दर्शन प्राप्त हुये थे। उन्होंने यहां ज्योतिष्पीठ की स्थापना की थी। यह आदि जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य की प्रथम ज्योतिष्पीठ मानी जाती है।

यहां का ज्योतेश्वर शिव मंदिर सवसे प्राचीन माना जाता है। इस स्थान से कुछ दूरी पर स्थापित ज्योतिष्पीठ का भवन है।

नवीं एवं दसवीं शताब्दी के कत्यूरी शिला लेखों में तपोवनीय वदरीकाश्रम नाम में जो उल्लेख मिलता है, उसका सम्बन्ध ज्योतिष्पीठ के साथ माना जाता है। वैसे तपोवन यहां से लगभग सात मील दूर है और उसी के समीप भविष्य वदरी है।

शीतकाल में वदरीनाथ मदिर के पट वंद हो जाने पर छः मास तक जोशीमठ में भगवान वद्रीश की पूजा की जाती है। यहां के नृसिंह मंदिर में नृसिंह की एक सुन्दर प्रतिमा है जिसकी एक भुजा पतली है। पौराणिकों का विश्वास है कि जिस दिन यह भुजा अलग हो जायगी तभी वदरीनाथ जाने का मार्ग बंद हो जायगा। हमें इसमें कोई सत्य नहीं दिखाई दे रहा। इस समय तो वदरीनाथ जाने का मार्ग कठोरतम पर्वतों को बारूद से तोड़कर और चौड़ा किया जा रहा है।

जोशीमठ के सम्बन्ध में श्री राहुल सांकृत्यायन का कहना है—

> "जोशीमठ बहुत प्राचीन स्थान है। किसी समय यह हिमालय के कत्यूरी-वंश की राजधानी रहा, कम से कम ग्रीष्म राजधानी। कत्यूरी वंश का राज एक समय काली से सतलज के किनारे तक फैला हुआ था। जोशीमठ में बहुत सी खंडित मूर्तियां रही होंगी, किन्तु जान पड़ता है, मूर्ति विक्रेताओं ने उनपर हाथ साफ़ कर दिया। यहां की कुछ मूर्तियां अखंडित भी हैं जिनसे यही पता चलता है कि रुहेले मूर्ति-भंजकों को उनके लिये या तो काफी रिश्वत दी गई, अथवा आने की खबर पाकर उन्हें कहीं छिपा दिया गया। जोशीमठ से तपोवन और भविष्य वदरी की ओर बढ़ने पर कितने ही प्राचीन मंदिर ध्वस्त प्राय मिलते हैं, जहां की सभी मूर्तियां खंडित हैं।"*

यहां अनेक मंदिर हैं जिनमें नृसिंह और वासुदेव जी के मंदिर अधिक विख्यात हैं। वासुदेव मंदिर में श्रीकृष्ण की श्याम वर्णी मूर्ति के साथ वलदेव की मूर्ति भी विद्यमान है। एक दूसरे कमरे में अष्ठभुजी गणेश, नवदुर्गा और शिव पार्वती की मूर्तियां हैं। अष्टभुजी गणेश की मूर्ति यहीं पर देखने को मिली।

पर्वतमाला से यहां जल की कई धारायें गिरती हैं। इनमें से एक धारा का नाम नभगङ्गा और दूसरी का दण्डधारा है। यात्री इन धाराओं में स्नान करते हैं।

जोशीमठ के साथ आदि शंकराचार्य का सम्बन्ध जुड़ने पर यहां ब्राह्मण धर्म का प्रचार हुआ। तांत्रिकों ने यहां जो प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था वह धीरे धीरे कम हो गया।

---

* धर्मयुग ८ जुलाई १९५१

इस स्थान के साथ तिव्वत का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। तिव्वती यहां माना घाटी से वदरीनाथ होते हुये आते रहे। उनका दूसरा मार्ग नीतिघाटी रहा। ये लोग माना और नीति गांव में रहने वाले भोटियों के साथ व्यापार करते थे। माना और नीति गांव के भोटिये शीतकाल में जोशीमठ आ जाते हैं। मैंने इस भोटियों को देखा है। जिन दिनों मैंने वदरीनाथ की यात्रा की थी, उन दिनों तिव्वत के कुछ व्यापारी जोशीमठ आये हुये थे।

भारत के ये भोटिये मंगोल जाति से समानता रखते हैं। वैसे इनमें और तिव्वतियों में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता था।

जिस प्रकार तिव्वत के लोग जोशीमठ तक व्यापार करने आते थे, उसी प्रकार भोटिया तिव्वत जाते थे और वहां अपना माल वेचते थे।

भोटियों के रीति रिवाज और रहन सहन के सम्वन्ध में यह वात उल्लेखनीय है कि इनमें एक पत्नी और वहुपत्नी दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। सीमावर्ती इस जाति के कुछ लोग कई कई स्त्रियों से भी विवाह कर लेते हैं। ये सव स्त्रियां मिल जुलकर परिवार का समस्त कार्य करती हैं। कुछ ऐसे घराने भी हैं जिनमें एक स्त्री के कई कई पति होते हैं और वे सव परस्पर मिल जुलकर रहते हैं। वहुपत्नी विवाह होने की दशा में सबसे पहली पत्नी को घर का शासन चलाने का अधिकार होता है और ऐसे ही वहुपति विवाह की दशा में सवसे प्रथम पति सारे घर पर शासन करता है। व्यापार के लिये पुरुष के वाहर जाने पर सवसे वड़ी पत्नी घर का शासन भार संभालती है। ये लोग चाय की हरी पत्ती उवाल कर नमक डालकर पीना वहुत पसन्द करते हैं।

जोशीमठ अव एक सुन्दर नगर वनता जा रहा है। मोटर वसों के आने जाने के कारण इसका काफी विस्तार हुआ है। सीमा सुरक्षा की दृष्टि से अव इसका महत्व वहुत वढ़ गया है। तिव्वत से मिलने वाली सीमा की सुरक्षा के लिये यहां सेना रखना आवश्यक हो गया है।

यहां डाकघर, तारघर और टेलीफोन की व्यवस्था है। यहां तक सरकारी अस्पताल भी है। विरला भवन वन जाने से यहाँ निवास की व्यवस्था सुगम हो गई है। श्री वदरीनाथ मंदिर कमेटी की ओर से यहां धर्मशाला, विश्राम गृह भी वने हैं। कमेटी वेद वेदाङ्ग संस्कृत विद्यालय भी चलाती है।

किसी समय यहां वड़ा व्यापार होता था। पर्वतीय जड़ी वूटियां भी यहां आकर वेची जाती थीं। यात्रा के दिनों में नगर में वड़ी चहल पहल रहती है।

वदरीनाथ जाते समय जोशीमठ से डेढ़ मील पर विष्णुप्रयाग चट्टी आती है। धौली गंगा का पुल पार करने से पहले यहां से एक मार्ग नीति घाटी की ओर जाता

है और पुल पार करके दूसरा मार्ग अलकनन्दा के किनारे २ बदरीनाथ की ओर चला गया है।

विष्णुप्रयाग के संगम स्नान को पंडे बड़ा महत्व देते हैं। यहां संगम के समीप एक सुन्दर मंदिर भी बना है।

यहां से सात मील दूरी पर तपोवन है। यहां गर्म जल के सोते भी हैं। यह स्थान योगियों और संन्यासियों की तपोभूमि माना जाता है। यह बड़ा ही रमणीक स्थान है।

पाण्डुकेश्वर—

विष्णुप्रयाग से पाण्डुकेश्वर ७ मील दूरी पर है। समुद्र तट से इसकी ऊंचाई ६३०० फुट है। यह नगर अलकनन्दा के तट पर बसा है। नगर के बाहर निकलने पर बदरीनाथ के समीपवर्ती हिमाच्छादित पर्वत शिखर बड़े ही मनमोहक प्रतीत होते हैं।

पाण्डुकेश्वर के साथ महाभारत की अनेक कथाये जुड़ी हैं। महाराज पाण्डु ने इसे बसाया था। पांचों पाण्डवों का जन्म यहीं हुआ माना जाता है। स्वर्गारोहण के लिए जाते समय पाण्डव इसी मार्ग से गये थे। इनके वंशज राजा परीक्षित ने यहां कुछ समय तप किया था।

यहां दो मंदिर हैं। इनमें एक का गुम्बद गोल है। ये दोनों मंदिर प्राचीन समय के माने जाते हैं। इसके सम्बन्ध में राहुल जी का कहना है—"पाण्डुकेश्वर स्वतः भी एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान रहा है, यह, इसके दो प्राचीन मंदिर बताते हैं। इनमें से एक का गंधोला गोल है और सामने का मंडप और अपनी कुछ विशेषतायें रखता है जिससे युरोपीय विद्वानों ने इसमें ग्रीक प्रभाव होने का अनुमान किया है। यहां के पहाड़ों के बीच में हिमाच्छादित शिखरों का सुन्दर दर्शन होता है।"

हेमकुण्ड-लोकपाल—

पाण्डुकेश्वर से पहले गोविन्दघाट से एक मार्ग हेमकुण्ड-लोकपाल की ओर जाता है। उसी मार्ग के बीच से एक दूसरा मार्ग 'फूलों की घाटी' (Flower Valley) की तरफ चला गया है। गोविन्द घाट पर यात्रियों के लिये एक सुन्दर धर्मशाला बन गई है। यहां सिखों के लिये पूजा-पाठ की भी सुविधा है।

पाण्डुकेश्वर से पहले एक स्थान घाट चट्टी आता है। इस चट्टी से लगभग एक मील आगे चलने पर अलकनन्दा का झूले का पुल पार करके यात्री पहले घांघरिया पहुंचते हैं। यह मार्ग बहुत चढ़ाई का है।

हेमकुण्ड की ऊंचाई १४२०० फुट है। यह स्थान सिक्खों का तीर्थ स्थान है। कहा जाता है कि गुरु गोविन्दसिंह महाराज ने अपने पूर्व जन्म में यहां तपस्या की थी।

इसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्म कथा में किया है। सिख जाति इस स्थान का पता लगाने का बहुत समय से प्रयत्न कर रही थी। परन्तु इस स्थान का पता नहीं चल पा रहा था। अन्त में श्री सोहनसिंह एवं उनके कुछ साथियों ने सन् १९३६ में इधर की यात्रा करके इसका पता चलाया। इसके पश्चात् यहां अनेक सिख भाई बहिन आने लगे और वहां एक सुन्दर गुरुद्वारा एवं धर्मशाला भी बन गई है। शीत-काल में यह स्थान हिममय रहता है। यहां एक ताल है जिसमें वर्ष के अधिकांश समय में वर्फ ही भरा रहता है। इसे हेमकुण्ड कहते हैं।

पुष्पों की घाटी--

घांघरिया से दो मील जाने पर द्वारी स्थान में लकड़ी का पुल पार करने पर पुष्पों की घाटी प्रारम्भ हो जाती है। यहां से आगे का भाग चौडा होता चला गया है। भ्यूंडार नदी के दोनों ओर ढलवा मैदान में पुष्पों की घाटी का विस्तार है।

फूलों की घाटी ने संसार भर के देशों में ख्याति प्राप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त किया है। जिस प्रकार भारत के दर्शन शास्त्रों ने संसार भर को आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूरित किया इसी प्रकार फूलों की घाटी के सुरभित पुष्पों ने विदेशियों को अपनी ओर आकर्षित किया।

यहां संसार भर के वे पर्यटक आते रहे हैं जिनको भारतीय पुष्पों के प्रति अनुराग है। सच बात तो यह है कि इस घाटी को प्रकाश में लाने का अधिकांश श्रेय विदेशियों को ही है।

यहां विदेशियों के आने के सम्बन्ध में श्री गोविन्दप्रसाद नौटियाल ने अपनी पुस्तक तपोभूमि बदरिकाश्रम के पृष्ठ ७४ पर लिखा है—

> "सन् १९३१ ई० में जब श्री फ्रैंक एस० स्माइथ मय अपने दल के कामेट हिम-शृंग पर चढ़कर धौली नदी के पास गमसाली में पहुंचे तो उन्होंने पश्चिम का पर्वतीय रास्ता लिया और १६७०० फुट के भ्युंडार कांठा नाम के दर्रे को पार कर जैसे ही वह भ्युंडार नदी के सिरे में पहुंचे तो वे उस भूमि को फूलों से भरी देख आश्चर्य विभोर हो गये। चलते चलते वे कुछ फूल चुनकर विलायत ले गये। फिर सन् १९३७ ई० में श्री स्माइथ, एडिनबरा बोटेनिकल गार्डन की तरफ से इस स्थान में आये और तीन माह यहां रहे। वे यहां से २५० किस्मों के फूलों के बीज विलायत ले गये। इन बीजों की सफलता को देखकर दो वर्ष बाद न्यु बोटेनिकल गार्डन लंदन की ओर से कुमारी, जोन लेग फूलों के बीज एकत्रित करने के लिये आई किन्तु दैवयोग से एक फूल को चुनते हुये वे पहाड़ी से गिर पड़ीं और सदा के लिये उस "फूलों की शैय्या" में सो गईं।"

मि० स्माइथ अपने समय के एक कुशल पर्वतारोही थे। उन्होंने न केवल फूलों की घाटी का भ्रमण किया था किन्तु वे गढ़वाल क्षेत्र के अनेक स्थानों में गये थे।

मि० स्माइथ ने इस सम्पूर्ण घाटी के विहंगम दृश्य की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने यहां के निवासियों के व्यवहार की प्रशंसा करते हुये उन्हें अत्यन्त सरल प्रकृति का बताया है और लिखा है—'मुझे इनके जीवन से बड़ी प्रेरणा मिली।'

रूपकुण्ड—

रूपकुण्ड एक रहस्यपूर्ण झील है। इसके समीप रूप गंगा बहती है जो मन्दाकिनी मे मिली है। इसका उद्गम शिलासमुद्र ग्लेशियर से माना जाता है। कुमायूं प्रदेश के निवासी इसे रुद्र कुण्ड कहते हैं। रुद्र भगवान शिव का रूप माना गया है।

रूप कुण्ड के पास बहुत से मानव-शव पड़े पाये गये थे। इनका पता सबसे पहले १८६८ ई० में चला था। उस समय से अब तक इन नर-कंकालों की बराबर जांच होती रही है। यहां से प्राप्त मानव खोपड़ियों का परीक्षण अनेक स्थानों पर किया जा चुका है। केवल भारत में ही नहीं किन्तु विदेशों में भी रूप कुण्ड से प्राप्त इन नर-कंकालों की जांच हुई है। अमरीका की मिचीगन यूनीवर्सिटी तक में इनका परीक्षण किया जा चुका है। उत्तर प्रदेश के मंत्री श्री जगमोहनसिंह नेगी ने इन्हें कश्मीर के एक सेनापति जोरावरसिंह के दल के व्यक्ति बताया था जिनको सन् १८४१ ई० में तिब्बतियों ने मार डाला था। परन्तु लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो० डी. एन. मजुमदार उनसे सहमत नहीं हुये थे। उनकी जांच से ये नर-कंकाल कम से कम ६०० वर्ष पुराने सिद्ध होते हैं।

स्वामी प्रणवानन्द महाराज ने रूप कुण्ड की तीन बार यात्रा की और इन नर कंकालों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का यत्न किया। उन्होंने इनको यात्रियों के शव माना है जिन्होंने ईसा की चौदहवीं शताब्दी में यात्रा की।

रूप कुण्ड के इन रहस्यपूर्ण नर-कंकालों के सम्बन्ध में हमें अधिक जानकारी नहीं। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हिमालय की इन ऊंची ऊंची पर्वतमालाओं में श्रद्धा और भक्ति के साथ अनेक यात्री यात्रा करते रहे हैं। दूसरे योद्धाओं ने भी इन उन्नत हिम शृंगों को अछूता न छोड़ा था।

इस क्षेत्र के विवरण को समाप्त करते हुये हम पुनः बदरीनाथ के मुख्य मार्ग की ओर आना चाहते हैं। पाण्डुकेश्वर से चलने पर लगभग ६ मील दूरी पर हनुमान चट्टी है। इसके साथ भगवान राम के परम भक्त हनुमान जी की कथा जुड़ी है। पौराणिकों का कहना है कि हनुमान जी के पिता मरुत ने यहां बड़ा भारी यज्ञ किया था। इसके समीप जो जल की धारा अलकनन्दा में मिलती है, उसे यहां के रहने वाले घृतगंगा नाम से पुकारते हैं। यहां से आगे बदरीनाथ की कठिन चढ़ाई प्रारम्भ हो जाती है।

वदरीनाथ

वदरीनाथ पुरी समुद्रतल से १०२८४ फुट ऊंचाई पर है। इसे विशालापुरी भी कहा गया है। इस स्थान के साथ पुराणों की अनेक कथायें जुड़ी हैं। ब्रह्मा के पुत्र धर्म ने यहां तप किया था। यहां नर नारायण की तपस्या करने का भी पीछे वर्णन किया जा चुका है। यहां के दो उन्नत शिखर नर और नारायण नाम से विख्यात हैं जिनकी ऊंचाई १६००० फुट से अधिक है।

प्राचीनकाल से ही इस पुण्य क्षेत्र का महत्व रहा है। भारतीय संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान तथा विद्या सभी इस क्षेत्र में पल्लवित एवं पुष्पित होती रहीं। वदरीवन में प्राचीनकाल से ही अनेक तपस्वियों एवं योगियों ने साधना की। इसी क्षेत्र में व्यास जी ने पुराणों की रचना की।

स्कण्द पुराण के केदार खण्ड में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

अहं कैलास पार्श्वे वै वदरी वनमंडिते।
देशे वसामि नित्यं वै कण्वगोत्र समुद्भवः॥

वदरी वन कैलास के पार्श्व में स्थित माना गया है। कैलास हिमालय का एक विशाल भाग है जिसमें अनेक तीर्थ स्थान स्थित हैं। इसी क्षेत्र में मानसरोवर को भी स्थान प्राप्त है।

पुरी में प्रवेश करने पर पर्वतों से निकलने वाली एक जल धारा मिलती है जो अलकनन्दा में मिल जाती है। इसका नाम ऋषि गंगा वताया गया। यहां की अन्य धाराओं के नाम हमें कूर्म धारा, प्रह्लाद धारा वताये गये।

मंदिर के समीप जो तप्त कुण्ड हैं उनका नाम अग्नितीर्थ वताया गया। अलकनन्दा के तट पर नारद कुण्ड, गौरीकुण्ड और सूर्य कुण्ड शीतल जल के कुण्ड हैं।

इन कुण्डों के समीप वदरीनाथ मंदिर के रावल का निवास स्थान है और समीप में ही मंदिर के कई भवन हैं।

श्री वदरीनाथ मंदिर का निर्माण किस काल में हुआ, इसका प्रमाण नहीं मिलता, वर्तमान मंदिर का निर्माण टिहरी गढ़वाल के महाराज ने विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में कराया था। मंदिर के ऊपर जो सोने का कलश है, उसे इंदौर की महारानी लक्ष्मीवाई ने चढ़ाया था।

मंदिर का निर्माण दक्षिणात्य शैली के अनुसार हुआ है। मंदिर का प्रवेश द्वार वड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है। प्रवेश द्वार में अन्दर जाने पर गरुड़ के दर्शन होते हैं। वाईं ओर नर नारायण और नारद की तथा दाहिनी ओर उद्धव और गणेश की मूर्तियों के दर्शन होते हैं। यहां लक्ष्मी जी का भी एक छोटा सा मंदिर है।

मंदिर की पूजा का अधिकार केरल के नम्बूदरी ब्राह्मणों को ही प्राप्त है जो रावल पद पर आसीन होते हैं। साधारणतया ये आदि शंकराचार्य जी के वंशजों से ही लिये जाते हैं।

टिहरी गढ़वाल के महाराज इनको विधिवत् तिलक करते हैं। मंदिर के साथ उनके परिवार का विशेष सम्बन्ध रहता था। रावल पद पर आसीन होने वाले व्यक्ति का ब्रह्मचारी रहना अनिवार्य है।

एक समय था जब रावल इस सम्पूर्ण क्षेत्र के सर्वेसर्वा अधिकारी होते थे। परन्तु समय बदल जाने पर उनके अधिकार सीमित कर दिये गये। जब से मंदिर का प्रबन्ध उत्तर प्रदेश सरकार ने संभाला है, तब से रावल केवल मंदिर की पूजा के ही अधिकारी रह गये हैं। इस समय रावल पद पर श्री वि० केशवन नम्बूतिरी जी आसीन हैं।

मंदिर की पूजा प्रातःकाल से प्रारम्भ हो जाती है जो रात्रि को शयन आरती के पश्चात् समाप्त होती है। भगवान बद्रीश की पूजा इस रूप में की जाती है कि मानो वह साक्षात् विद्यमान हैं।

मंदिर के गर्भगृह में केवल रावल जी को ही जाने का अधिकार प्राप्त है। पूजा सम्बन्धी समस्त कार्यक्रम वे ही सम्पन्न करते हैं। बदरी विशाल की पद्मासनस्थ चतुर्भुजी मूर्ति काले पत्थर से निर्मित की गई है। इसके सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि यह भगवान बुद्ध की है। कुछ भी हो इस मूर्ति के प्रति जनता की अपार श्रद्धा है। वैष्णव इसे विष्णु भगवान की मूर्ति मानकर पूजा करते हैं। शैव शिव की, शाक्त शक्ति की, जैन पार्श्वनाथ अथवा ऋषभदेव की प्रतिमा मानकर उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं।

प्रतिमा की दो भुजायें पद्मासन की मुद्रा में हैं और दो ऊपर की ओर उठी हैं। कंधे से ऊपर का भाग नहीं है। चन्दन के टुकड़ों से सिर का रूप दे दिया जाता है। बाहें खंडित हैं। परन्तु मंदिर के रावल जी प्रतिदिन इस मूर्ति का शृंगार इतने सुन्दर ढंग से करते हैं कि साधारण दर्शक मूर्ति के वास्तविक रूप के बारे में कुछ भी नहीं जान सकता। न जाने कितनी शताब्दियों से लाखों नर नारी इस मूर्ति को मस्तक झुकाते रहे हैं। श्रद्धा, भक्ति और धार्मिक भावनाओं के साथ वे इसे भगवान बद्रीश की प्रतिमा मानकर पूजते रहे हैं और आज भी हजारों नर नारी भारी यातनायें सहन करते हुये बदरीनाथ की यात्रा करते हैं।

इस मूर्ति के सम्बन्ध में श्री राहुल सांस्कृत्यायन का कहना है—"बदरीनाथ का वर्तमान मंदिर बहुत पुराना नहीं है। उसको बने दो सौ बरस से कम ही हुए। यह विचित्र बातहै कि नवींशताब्दी में जहां बौद्ध मंदिरों और मूर्तियोंका चिन्ह न रहने देने के लिये प्रयत्न किया गयाथा, और उस समय की एक बुद्ध मूर्ति को अलकनन्दा की धार के

किनारे नारद कुण्ड में फैंक दिया गया था, वही मूर्ति संयोग से रुहेलों द्वारा असली मूर्ति के तोड़ फोड़कर फैंक देने पर लाकर अब बदरीनाथ के रूप में पुज रही है।"

उत्तर प्रदेश के मंत्री श्री जगमोहन सिंह नेगी ने १० नवम्बर १९५७ के अपने एक लेख में मंदिर के सम्बन्ध में लिखा है— "आदि शंकराचार्य ने जो मंदिर स्थापित किया था वह कालान्तर में नष्ट हो गया और तब पुरानी नींव पर यह नवीन मंदिर बना"।

जब मैंने अपनी बदरीनाथ की प्रथम यात्रा से लौटने पर राहुल जी से इस मूर्ति की चर्चा की थी, तब उन्होंने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि यह मूर्ति बुद्ध की है। उनका कहना था कि इस मूर्ति से पूर्व की मूर्ति प्राप्त नहीं हो पाई।

जहां तक भगवान बद्रीश की पूजा का प्रश्न है, धार्मिक विश्वास के साथ आने वाली जनता को इससे कुछ मतलब नहीं कि मूर्ति किसकी है। वह तो अपनी धार्मिक मान्यताओं को पूर्ण करने में ही आनन्द मानती है।

बदरीनाथ में यात्रा के दिनों में हम सम्पूर्ण भारतवासियों के दर्शनों का लाभ प्राप्त करते है। दक्षिण के छोर से लेकर उत्तर तक के यात्री अपनी २ वेशभूषा में यहां पूजा के लिये आते हैं। इसी प्रकार पूर्व से पश्चिम तक फैले प्रदेशों के श्रद्धालु यात्री यहां दिखाई पड़ते हैं। अपनी २ भाषा का प्रयोग करते हुए जब ये 'जय बदरी विशाल' बोलते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण भारत अपनी हिन्दी भाषा के प्रति अपार प्रेम रखता है। यहां आकर वे एक होकर तप्त कुण्डों में स्नान करते हं और मंदिर की सीढ़ियों पर साथ साथ चढ़ते हुए भगवान बद्रीश के दर्शन करते है।

मैंने देखा कि जिन भाई बहिनों को हिन्दी न आती थी, वे या तो अपने उन साथियों से मदद लेते थे जो अपनी मातृभाषा के साथ हिन्दी भी जानते थे या दुकानदारों को वस्तुयें दिखाकर अपना काम चलाते थे।

हिन्दी और संस्कृत के सम्बन्ध में मुझे यहां कुछ तथ्य उपस्थित करने हैं जिससे हमें ज्ञात होगा कि दक्षिण से आने वाले रावल जी अनेक शताब्दियों से किस प्रकार हिन्दी को अपनाते रहे है।

केरल से आने वाले रावल जी का सम्बन्ध टिहरी गढ़वाल के महाराज एवं राज-परिवार के साथ रहता रहा है। ये सब लोग रावल जी के आशीर्वाद को विशेष महत्व देते रहे हैं। मुझे इस सम्बन्ध में पुराने कुछ पत्रों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। इन पत्रों की लिपि देवनागरी है। इनमें हिन्दी के साथ पर्वतीय भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। पाठकों की जानकारी के लिये हम यहां एक पत्र प्रस्तुत कर रहे हैं। यह पत्र परम पूजनीय रावलजी के प्रसाद भेजने के उपरान्त भेजा गया था। पत्र के दूसरी ओर पते में निम्न शब्द लिखे गये हैं—

स्वस्ति श्री परमपूजनीय रावल
पुरुषोत्तम जी चरण समीपेपु पत्रमिदम्
श्री बद्रिनाथ

मूल पत्र की प्रतिलिपि—

श्री: १

टिहरीगढवाल
२६ ता. फरवरी
१८९७

स्वस्तिश्री परम पूजनीय रावल
पुरुषोत्तम जी

श्रीदत्त सकलानी को सविनय
प्रणाम आगे मामूल मुताबिक
प्रसाद पायो अपणो जन्म
सफल समझ्यो में सबतरह कु
शल पूर्वक छों आपकी क्षेम
सदा ईश्वर से चांदाऊ. मेरा
लायक कारोबार लिखदो रहीं
ल्या: किंबहु.

हमें श्री वासुदेव जी रावल का एक पुराना पत्र भी मिला है। खेद है कि स्याही के फीकी हो जाने के कारण हम उसका ब्लाक बनवाकर यहां नहीं दे पाये। इस पत्र में रावल जी ने महाराज की बड़ी और छोटी दोनों रानियों को अपना आशीर्वाद भेजते हुए प्रसाद भेजे जाने का उल्लेख किया है। यह पत्र आश्विन २७ सम्वत् १८४७ विक्रमी को लिखा गया था।

हिमालय की कन्दराओं में तपस्या करने वाले महात्माओं में केवल उत्तरी भारत के ही सन्त और संन्यासी सम्मिलित न थे किन्तु सम्पूर्ण भारत के योगियों और

महात्माओं ने इस भूमि में निवास किया। समय २ पर इन्होंने अपने प्रवचन भी किये, इनके इन प्रवचनों में सभी प्रान्तों के नर-नारी सम्मिलित होते रहे हैं। उनके सामने कभी भापा का प्रश्न उठा ही नहीं किन्तु इन सवने 'हिन्दी हम सव की प्रिय भापा है' इस वात को अपने कार्यों और अपनी भावनाओं के द्वारा चरितार्थ किया। 'भारत जननी एक हृदय हो' का स्वर यहां न जाने कितनी शताब्दियों से गूंज रहा है।

हिन्दी के साथ ही यहां संस्कृत को भी विशेष महत्व दिया गया। हमारे कितने ही धर्म ग्रन्थ आज भी हमारे मंदिरों और मठों में सुरक्षित हैं। आज उनके अनुसन्धान की आवश्यकता है। बदरीनाथ मंदिर में किसी समय संस्कृत के अनेक ग्रंथ विद्यमान थे। जब मैंने प्रथम वार वदरीनाथ की यात्रा की थी तव आदरणीय वाबू वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाण्डुकेश्वर के ताम्रपत्रों की कुछ चर्चा की थी। वे चाहते थे कि उन सबकी फोटो प्रतिलिपियां प्राप्त हो जाएं। उनका यह भी कहना था कि इस क्षेत्र में संस्कृत के कुछ हस्तलिखित ग्रंथ भी मिलने चाहिएं।

पाण्डुकेश्वर में प्राप्त हुये ताम्रपत्र श्री वदरीनाथ में सुरक्षित रखा दिये गये थे। इन ताम्रपत्रों की भाषा पाली है। एक ताम्रपत्र टंगणपुर के राजा पदमटदेव कुशली का सम्वत् २५, ज्येष्ठ वदी ५ का है। दूसरा कार्तिकमपुर के राजा श्रीमद ललित सूरदेव कुशली का सम्वत् २२ का है। तीसरा ताम्रपत्र भी श्रीपद ललित सूरदेव कुशली का है जिसपर सम्वत् २१ माघ वदी ३ अंकित है। चौथा ताम्रपत्र सुमिक्षपुर के राजा सुमिक्षराज का है। इसके सम्वत् का ठीक पता नहीं चल सका। इन ताम्रपत्रों की विशेष जानकारी हमें प्राप्त न हो सकी।

वदरीनाथ में मुझे संस्कृत ग्रंथों के कुछ पन्ने भी प्राप्त हुये। इनके सम्बन्ध में मुझे आदरणीय गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी ने वताया कि ये पन्ने पुराणों से सम्बन्धित हैं। इनके कागज के सम्बन्ध में जांच करने पर पता चला कि ये कम से कम दो शताब्दी पूर्व के हो सकते हैं।

ये पन्ने महाभारत, स्कन्द पुराण, वराह पुराण, भागवद् आदि ग्रथों से सम्वन्ध रखते हैं। बाल्मीकि रामायण का भी एक पन्ना हमें प्राप्त हुआ। एक पन्ना तुलसीदास की रामायण से सम्वन्ध रखता है। हाथ से बने कागज पर रामायण की चौपाइयां व दोहे वड़े सुन्दर ढंग से लिखे गये हैं। इन धर्म ग्रन्थों की लिखावट वड़ी ही सुन्दर लगती है। पन्नों का आकार छोटा और वड़ा कई प्रकार का है।

इस सामग्री को देखने पर मेरे मन में प्रश्न उठा कि इस प्रकार के ग्रन्थ मंदिर में क्यों संग्रहीत हुए। मुझे एक नेपाली संन्यासी ने वताया कि एक समय था जब वदरीनाथ मंदिर में मूर्ति के सम्मुख हस्तलिखित ग्रंथ की भेंट करने की प्रथा थी। उन्होंने अपनी जानकारी के अनुसार यह भी बताया कि अधिकांश धर्मग्रंथ कश्मीर से आए। वहां की महिलाएं संस्कृत ग्रंथों की प्रतिलिपि करती थीं और फिर मंदिर में

उचित है। क्योंकि उनका अणुवाद सिद्धान्त पुद्गल विषयक प्राचीनतम मान्यताओं के आधार पर वर्णित है।'*

'जैनियों के अणुवाद ने भारतीय ज्ञान में कर्म सिद्धांत को एक अनूठा रूप दिया है। वह खास जैनाचार्यों की ही देन है। वैसे कर्म सिद्धांत ब्राह्मण बौद्ध धर्म और जैन तीनों ने माना है; किन्तु जैन धर्म में उसका विलक्षण रूप है। जैनों ने कर्म को एक सूक्ष्म पुद्गल माना है जो सारे लोक में भरा पड़ा है। जिस समय प्राणी क्रोध मान-माया-लोभ के वशीभूत होकर मन-वचन काय की क्रिया करता है तो यह सूक्ष्म पुद्गल शरीर में स्थित आत्मा के साथ आकर काल विशेष के लिये चिमट जाता है और उसके संसार भ्रमण का कारण होता है।

'जैनियों ने वनस्पति शास्त्र का भी अच्छा विवेचन किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता है। प्रो० वोस के अविष्कार के वर्षों पहले जैनाचार्यो ने वनस्पतिकाय को प्राण सहित वतलाया था। वे जल, वायु, अग्नि और पृथिवीकाय में भी जीवत्व मानते हैं। इन अवस्थाओं में जीव एक स्पर्शन-इन्द्री और सूक्ष्म ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। जीव अपने इस निम्न अवस्था में भी चार संज्ञाओं (१) आहार (२) भय (३) मैथुन (४) परिग्रह को रखता है। वृक्षों पर प्रो० वोस ने जो प्रयोग किए हैं उनसे जैनों की इस प्राचीन मान्यता का समर्थन होता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए यह गौरव की बात है कि उसके सदस्य जैनियों ने उसको ज्ञान मार्ग में इतना ऊंचा उठाया था।

'धार्मिक क्रिया कलाप के क्षेत्र में भी जैनियों का कार्य अनूठा है। उन्होंने आदर्श पूजा अथवा वीर पूजा को ही मान्यता दी है, जिसका उद्देश्य है आदर्श के समान बन जाना। जैन धर्म का क्रिया कलाप मनुष्य को गुलाम न बनाकर उसे स्वाधीनता का उपासक बनाता है। यह उपासना का प्राकृत रूप है।

'तर्कशास्त्र को लीजिये और देखिये, जैनियों ने उसे कितना उन्नत और प्रौढ़ बनाया है। उनका स्याद्वाद् सिद्धान्त भारतीय न्याय शास्त्र में बिल्कुल अद्भुत वस्तु है; जिसकी उपयोगिता विद्वानों को मुक्तकंठ से स्वीकार करनी पड़ी है।

"In the oldest philosophic speculations of the Brahmans as preserv d in the Upanisadhas we find no trace of an atomic theory... ... .Nor is it acknowledged in the Sankhya & Yoga philosophies... But the atomic theory makes an integral part of the Vaisesikas and it is acknowledged by the Nyaya...it has been adopted by the Jains an ...also by the Ajivikas...We place the Jains first, because they seem to have worked out their system from the most primitive notions about matter."—Encyclopaedia of Religion and Edhics, vol. II P. 199.

स्याद्वाद सिद्धान्त के विषय में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो० गंगाप्रसाद ..ी मेहता एम. ए. का कथन है:—

"स्याद्वाद का अर्थ ज्ञानात्मक निष्पक्षता है, जिसके बिना कोई भी वैज्ञानिक तथा दार्शनिक अन्वेषण सफल नहीं हो सकता। कितने ही स्थानों पर स्याद्वाद पर जो आक्षेप किये हैं वे बिना समझे किये हैं। स्याद्वादी जिस अपेक्षा से अस्तित्व आदि मानते हैं उसी अपेक्षा से नास्तिक आदि नहीं मानते, यह बात ध्यान में रखने से आपस के मतभेद के झगड़ों का नाश हो जाना सम्भव है। यह सिद्धान्त जैनधर्म की गवेषणा का फल है।"

श्री जैन ज्योतिष एवं गणित आदि के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"इसी प्रकार ज्योतिष, गणित, आयुवद आदि विद्याओं में भी भारत का मस्तक जैनों ने ही ऊंचा किया है। जैन ज्योतिष का सामञ्जस्य चीन देश के ज्योतिष से है, जहाँ से यह ज्ञान दुनिया में फैला। विद्वानों का अनुमान है कि चीन में यह ज्ञान भारत से गया था।"

"जैनों का गणितशास्त्र अनुपम है। संख्या की मर्यादा का गहन विश्लेषण दुनिया में कहीं नहीं मिलेगा। उसपर गणित के कई खास सिद्धान्त जैनाचार्यों की गवेषणा का परिणाम हैं। उदाहरणत: जैनाचार्य महावीर ने त्रिकोण विषयक कतिपय ऐसे आविष्कार किये थे जो उनके पहले कहीं नहीं थे।"

श्री कामता प्रसाद जैन के विचारों पर दृष्टि डालने से पूर्व यहां पहले इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जब हिन्दू समाज में अनेक मत मतान्तर फैल गये और परस्पर विवाद होने लगा तब समाज का पहले जैसा शुद्ध रूप बदल गया। नास्तिकवाद ने इस देश को बड़ा प्रभावित किया। पंडितों ने सारे समाज को धर्म की परिधि में इस प्रकार जकड़ दिया जिसमें समाज स्वतंत्र रूप से कुछ भी चिन्तन न कर सके।

उस समय समाज को सबसे भारी क्षति उन पंडितों और आचार्यों ने पहुंचाई जो वेदों का सही अर्थ न समझ सकते थे। उन्होंने वेदों का सहारा लेकर पशुबलि को इस तरह से प्रोत्साहन दिया कि वह धर्म का एक अंग बन गयी। मांसाहार का प्रचलन हो जाने से समाज में अनेक प्रकार के दोष आ गये।

इस स्थिति में जैन तीर्थंकरों ने 'अहिंसा परमोधर्मः' का मंत्र देकर समाज को हिंसात्मक वृत्तियों से बचाने का यत्न किया। उन्होंने उस समय के समाज को एक नये मार्ग पर चलाने के लिए त्याग और तप पर विशेष बल दिया। उन्होंने जीवमात्र की रक्षा पर जोर देकर यज्ञों में पशुबलि देना बन्द कराने का जो महत्वपूर्ण कार्य किया, उसने सारे समाज को प्रभावित किया।

जैन धर्म को आधुनिक रूप देने का सारा श्रेय भगवान महावीर स्वामी को है। वे जैन धर्म के चौवीसवें तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व तेईस जैन तीर्थंकरों ने अपने तप और त्याग के वल पर समाज को उन्नत करने का यत्न किया। उन्होंने अपनी जीवनचर्या इस प्रकार की बनाई कि जिसका अनुकरण करके समाज हिंसा और प्रमाद से बच सकता था। उन्होंने खानपान में जो सात्विकता बरती, उसका समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

जैन तीर्थंकरों की नामावली

(१) ऋषभनाथ (२) अजितनाथ (३) सम्वनाथ (४) अभिनन्दन नाथ (५) सुमतिनाथ (६) पद्मप्रभु (७) सुपार्श्वनाथ (८) चन्द्रप्रभु (९) पुष्पदंत्त (१०) शीतलनाथ (११) श्रेयांसनाथ (१२) वसुपूज्यनाथ (१३) विमलनाथ (१४) अनन्तनाथ (१५) धर्मनाथ (१६) शान्तनाथ (१७) कुंथूनाथ (१८) अरयनाथ (१९) मल्लिनाथ (२०) मुनि सुव्रतनाथ (२१) नमिनाथ (२२) नेमिनाथ (२३) पार्श्वनाथ (२४) भगवान महावीर।

महावीर स्वामी का जन्म ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व विहार राज्य के कुण्डग्राम में हुआ। यह स्थान वैशाली के समीप विहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित है। कुण्डग्राम ज्ञाविक नामक क्षत्रियों का गणराज्य था। इनके पिता सिद्धार्थ इस गणराज्य के शासक थे। इनका वचपन का नाम वर्द्धमान था।

तीस वर्ष की आयु में इन्होंने गृहस्थ आश्रम से विरक्त होकर सन्यास लेने का निश्चय किया। इसके पश्चात् वे राजसुख को छोड़कर त्याग और तप का जीवन व्यतीत करने लगे। वारह वर्ष तक उन्होंने घोर तप किया। इन वर्षों में उन्होंने बहुत कष्ट सहन किए। तप की अग्नि में अपने शरीर को तपाकर उन्होंने जव अपने मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया तव वे जन साधारण को ज्ञान का मार्ग वताने के लिए देश भर में घूमने लगे। नग्न अवस्था में रहकर उन्होंने अपने चरित्र वल से लाखों व्यक्तियों को जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। ७२ वर्ष की आयु में राजगृह के समीप पावा नामक स्थान पर उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त किया।

महावीर स्वामी ने वेदों के प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उनके सामने वेदों का सही रूप ही प्रस्तुत न हुआ हो। वेदों के नाम पर उस समय यज्ञों में जो वलि देने की प्रथा चल पड़ी थी, वह इनके सामने आई। इस प्रथा से उनका हृदय द्रवित होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने वेदों की ओर ध्यान न देकर अर्हंतों के वचनों को प्रमाणित माना। अर्हंतों का जैन धर्मावलम्वी वड़ा आदर करते हैं।

जैन धर्म में प्रवेश करने वाले साधुओं को नग्नावस्था में रहना पड़ता था और गृहस्थी वस्त्र धारण करते थे। जैन मुनियों ने जीवन में सात्विकता को विशेष स्थान दिया। समाज में दया, परोपकार और अहिंसा की भावना को जागृत करने के लिए उन्हें बड़ा ही त्यागमय जीवन व्यतीत करना पड़ा। महावीर स्वामी ने स्वयं बड़ा तपस्वी जीवन व्यतीत किया था। उन्हें नाना प्रकार की यातनाएं दी गईं परन्तु वे अपने निश्चय पर अटल रहे। इनके इस प्रकार के जीवन का उनके अनुयाइयों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और आज भी जैन मुनि और साधु बड़ा ही संयमी जीवन व्यतीत करते हैं। भगवान महावीर ने भारतीय संस्कृति को अहिसा, त्याग और तप का जो संदेश दिया, उसने समाज को एक नए रूप में उभरने का अवसर दिया।

वैशाली राज्य के शासकों ने जैन धर्म को बड़ा प्रश्रय दिया। धनिक वर्ग का जैन धर्म को बड़ा समर्थन प्राप्त हुआ। वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म में प्रवेश पाने वाले अधिकांश व्यक्ति धनी व सम्पन्न माने जाते रहे हैं।

इस धनी वर्ग ने मूर्ति पूजा को विशेष प्रोत्साहन दिया। उन्होंने स्थान-स्थान पर बड़े विशाल जैन मंदिर बनवाये। भारत में जहां भी जैन धर्मावलम्वी रहे, वहीं उन्होंने पूजा की सुविधा को ध्यान में रखकर जैन मंदिरों की स्थापना की। करोड़ों रुपया इन मंदिरों के निर्माण पर व्यय कर दिया गया। भगवान महावीर स्वामी की पूजा के लिए केवल मंदिरों का निर्माण ही नहीं हुआ किन्तु उनके आदेशों को आचरण में लाने का भी यत्न किया गया। जैन धर्मावलम्वी अब तक अपने खानपान में बड़ी सात्विकता बरतते हैं। यह दूसरी बात है कि आज की पीढ़ी पर पश्चिमी सभ्यता का जो प्रभाव पड़ा है, उसने जैन युवकों को भी अछूता नहीं छोड़ा है।

जैन धर्म ने मानव को आचरण में पवित्र रहने का जो संदेश दिया, उसपर जैन धर्मावलम्बियों ने पूरा ध्यान दिया। उन्होंने इस बात का यत्न किया कि मनुष्य अपनी दुर्वलताओं का शिकार न हो जाए किन्तु कष्ट सहन करके उनपर विजय प्राप्त करे।

जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को एक नया रूप देने का पूरा यत्न किया। परन्तु फिर भी वह सम्पूर्ण भारत में न फैल सका। इसका एक कारण यह भी था कि कुछ वर्षों के पश्चात् इसे राज्य-प्रश्रय प्राप्त न हो सका। दूसरी बात यह भी थी कि जैन धर्म में जिन कठोर व्रतों को पालन करना अनिवार्य बताया गया था, उनपर आचरण करना सहज बात न थी। इसके अतिरिक्त उस समय के ब्राह्मणों ने भी जैन धर्म का पूरा विरोध किया।

इन सब बातों के होते हुए भी 'अहिंसा परमो धर्मः' सिद्धांत को जैनियों ने बड़ा बल प्रदान किया। उनके शुद्धाचरण का भी समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

यह दूसरी बात है कि आगे चलकर जैन धर्म को मानने वाले भी अन्य लोगों की तरह प्रलोभनों में फंस गये।

जैन धर्म का प्रारम्भ समाज में कुछ विशेष सिद्धान्तों को लाने के लिए हुआ था। जैन मुनियों और साधुओं ने अपनी तपश्चर्या के बल पर जीवन में उन सिद्धान्तों को चरितार्थ करने का पूरा यत्न किया परन्तु मानव कमजोरियों के कारण वे उन सिद्धान्तों पर स्थिर न रह सके। मनुष्य में अनेक कमजोरियां आई और उन कमजोरियों ने जैन धर्मावलम्बियों को भी प्रभावित किया।

इसके अतिरिक्त समाज में ऐसे महापुरुष भी उत्पन्न हुए जिन्होंने वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का पुनः प्रचार किया। आदि जगदगुरु स्वामी शंकराचार्य ने देश भर में वैदिक शास्त्रों का प्रचार करके जैन और बुद्ध दोनों धर्मों को वेद विरुद्ध सिद्ध करने का यत्न किया।

उन्नीसवीं शती के वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी भारतवासियों को वेदानुकूल चलने की प्रेरणा की। वेदों के उद्धार और प्रचार में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही अर्पित कर दिया था। उन्होंने वेदों के विरुद्ध फैले सभी मतों का अध्ययन किया और उनकी आलोचना करके इस बात को सिद्ध करने का यत्न किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और उनके अनुसार आचरण करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है।

स्वामी दयानन्द ने ईश्वर को अनादि और सम्पूर्ण जगत का संचालक एवं नियन्ता माना है जबकि जैन धर्म ऐसा नहीं मानता। स्वामी जी का कहना है—'हम लोग परमेश्वर और परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव को अनादि मानते हैं।'

जैन धर्म में कहा गया है कि ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है वह सब कर्म से ही होता है। इसके सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द का कहना है—

> "जो सब कर्म से होता है तो कर्म किससे होता है? जो कहो जीव आदि से होता है तो जिन श्रोत्रादि साधनों से जीव कर्म करता है वे किससे हुए? जो कहो कि अनादि काल और स्वभाव से होते हैं तो अनादि का छूटना असम्भव होकर तुम्हारे मत में मुक्ति का अभाव होगा। जो कहो कि प्रागभाववत् अनादि सान्त हैं तो विना यत्न के सब के कर्म निवृत्त हो जायंगे। यदि ईश्वर फलदायक न हो तो पाप के फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा। जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते किन्तु राज्य व्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से ही जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं अन्यथा कर्म संकर हो जावेंगे अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।*

---

* सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४४१

जैन धर्म में ईश्वर को अक्रिय माना गया है परन्तु स्वामी दयानन्द का कहना है—"ईश्वर अक्रिय नहीं किन्तु सक्रिय है। जब चेतन है तो कर्ता क्यों नहीं ? और जो कर्ता है तो वह क्रिया से पृथक कभी नहीं हो सकता।" जैन धर्म में इस प्रकार की जीव के सम्बन्ध में भी अनेक बातें है जो वैदिक धर्म से मेल नहीं खातीं। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी जैन धर्म का जो सिद्धान्त है, वह वैदिक धर्म के सर्वथा विपरीत है। स्वामी दयानन्द ईश्वर को जगत का कर्ता मानते हैं जबकि जैन धर्म ऐसा नहीं मानता।

शास्त्रीय दृष्टि से स्वामी दयानन्द ने जैन धर्म के अनेक सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उन सब बातों के विस्तार में जाने की यहां आवश्यकता नहीं। स्वामी दयानन्द के विचारों को यहां प्रस्तुत करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि जैन धर्म वेदों का समर्थन नहीं करता। वैसे जैन धर्म की अनेक बातें ऐसी हैं जो वैदिक धर्म के अनुकूल हैं। ये बातें प्रायः अन्य धर्मावलम्बियों ने भी स्वीकार की हैं। सत्य बोलना, चोरी न करना और किसी के साथ छल कपट न करना आदि बातें सभी स्वीकार करते हैं।

जैन धर्म ने ऐसे सभी गुणों को ग्रहण करने पर विशेष बल दिया और इन गुणों ने भारतीय संस्कृति की बड़ी रक्षा की।

बौद्ध-धर्म कालीन संस्कृति—

महावीर स्वामी के पश्चात् भारत में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ। उन्होंने जिस धर्म का उपदेश किया वह बौद्ध-धर्म के नाम से विख्यात हुआ। बौद्ध-धर्म जैन धर्म का समकालीन धर्म माना जाता है। इन दोनों धर्मों के अनेक सिद्धान्त एक दूसरे से मेल खाते हैं।

जैन धर्म मुख्यरूप से भारत में ही फैला परन्तु बौद्ध-धर्म ने व्यापक रूप धारण किया। इस धर्म ने लगभग सम्पूर्ण एशियाई देशों को प्रभावित किया। तिब्बत, चीन, लंका और जापान देशों में इस धर्म का विशेष रूप से प्रचार हुआ और इन सभी देशों में बौद्ध धर्म को शासन का भी संरक्षण प्राप्त हुआ। इन देशों में बौद्ध-धर्म राज्य-धर्म ही बन गया था।

महात्मा बुद्ध का जन्म ईसा से ५६२ वर्ष पूर्व लुम्बिनी वन में हुआ था। इनके पिता महाराज शुद्धोधन नेपाल की तराई में बसे एक बड़े प्रदेश के राजा थे। कपिलवस्तु इनकी राजधानी थी। इनकी माता का नाम मायादेवी था। इनका नाम सिद्धार्थ रक्खा गया था। इनके पिता ने सिद्धार्थ को राजधर्म की शिक्षा दिलाने का भरसक यत्न किया और उनका विवाह भी कर दिया। परन्तु सिद्धार्थ का मन सांसारिक बातों में नहीं लगता था। वे एकान्तप्रिय और चिन्तनशील व्यक्ति थे।

उनका स्वभाव बड़ा कोमल था। संसार के दुःख और क्लेशों को देखकर उनकी आत्मा विकल हो उठती थी। ऐसी दशा में उन्होंने दुखों से छूटने का मार्ग खोजने में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर देने का निश्चय किया।

विवाह होने के पश्चात् उनके 'राहुल' नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। सिद्धार्थ ने अपनी पत्नी और अपने पुत्र की ममता को ठुकराकर एकान्त वन में जाकर घोर तपस्या करने का निश्चय किया। वे अपने इस निश्चय में अडिग रहे और अवसर पाकर वे राज्य-प्रासाद से वन की ओर चले गये।

सत्य और ज्ञान की खोज में उन्होंने बहुत से साधु महात्माओं का साक्षात्कार किया। मगध राज्य के भ्रमण के समय उन्होंने आलार और मुद्रक नाम के दो ब्राह्मण विद्वानों से भेंट की और उनसे दुखों से छूटने का मार्ग जानने का यत्न किया। जब उनकी किसी भी विद्वान से संतुष्टि न हुई तब उन्होंने गया के समीप निरंजना (फल्गू) नाम की नदी के तट पर एकांत में बोधि-वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी। उनके साथ उनके पांच शिष्यों ने भी तपस्या प्रारम्भ की थी।

वर्षों तपस्या करने पर जब उन्हें ज्ञान हुआ तब उन्होंने देश भर में भ्रमण करने का निश्चय किया। वे चाहते थे कि मानवों में फैली अशान्ति मिट जाय और मनुष्य सांसारिक क्लेशों से मुक्ति पाकर शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकें। तपस्या की समाप्ति पर वे 'बुद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने जिस धर्म का उपदेश किया वह उनके नाम पर बौद्ध-धर्म कहलाया।

सबसे पहले बुद्ध ने काशी के समीप सारनाथ में उपदेश किया। जिस स्थान पर उन्होंने सर्वप्रथम उपदेश किया वहां एक स्तूप बना हुआ है। इसके प्रति बौद्ध धर्मावलम्बी बड़ी श्रद्धा प्रगट करते हैं। जिन दिनों मैं इस स्थान के भ्रमण के लिये गया था, उन दिनों चीन और तिब्बत से अनेक यात्री बौद्ध-गया की यात्रा के लिये आये हुए थे। वहां से ये सब सारनाथ भी आये। जिस समय वे बौद्ध-स्तूप की परिक्रमा करते थे उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि वे ही भगवान बुद्ध के परम भक्त और सच्चे अनुयाई हैं।

सारनाथ में बुद्ध को वे पांचों शिष्य भी मिल गये जिन्होंने उनके साथ तपस्या प्रारम्भ की थी और जो उनका साथ छोड़कर अलग हो गये थे। उन्होंने सारनाथ में भगवान बुद्ध से पुनः भेंट की और उसके पश्चात् वे उनके शिष्य बनकर बौद्ध-धर्म के प्रचार में लग गये। उन्होंने एक संघ का निर्माण किया। इस संघ का कार्य संसार-भर में महात्मा बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करना था।

प्रारम्भ में बुद्ध का कार्यक्षेत्र मगधराज्य तक सीमित रहा। इसके पश्चात् वे अपने राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में गये। यहां उनके पुत्र और भाई ने उनसे

बौद्ध धर्म की दीक्षा प्राप्त की और वे दोनों बुद्ध धर्म के प्रचार में लग गये। वे कौशल राज्य में भी गये और वहां भी उनके अनेक शिष्य बने। इस प्रकार जहां भी बुद्ध जाते थे, वहीं पर उनके शिष्य बनते थे। जनता के हृदयों पर उनके उपदेशों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि ब्राह्मणों को समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखना ही कठिन हो गया।

महात्मा बुद्ध को राजा, महाराजाओं का ही नहीं किन्तु जनता का भी प्रेम प्राप्त हुआ। बुद्ध कालीन राजाओं में अशोक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अशोक ने न केवल बुद्ध धर्म स्वीकार किया किन्तु उनकी पुत्री संघमित्रा भी बुद्ध-धर्म में दीक्षित हो गई और उसने बुद्ध-धर्म के प्रचार में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया।

बुद्ध ने दस शीलों पर विशेष बल दिया। वे इस प्रकार हैं—

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (चोरी न करना) (४) अपरिग्रह (संग्रह का त्याग), (५) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, (६) नृत्य गान आदि का त्याग, (७) सुगंधित वस्तुओं का त्याग, (८) असामयिक भोजन का त्याग, (९) कोमल शय्या का त्याग, (१०) कामिनी और कंचन का त्याग।

इन दस शीलों में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन ये पांच शील प्रत्येक गृहस्थी के लिये आवश्यक बताये गये हैं। बुद्ध-धर्म में दीक्षित बौद्ध भिक्षुकों, साधु और महात्माओं के लिये दसों शीलों का पालन करना आवश्यक बताया गया है।

महात्मा बुद्ध ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, उनके सिद्धान्तानुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता ईश्वर नहीं किन्तु कार्य-कारण के अनुसार इसकी सृष्टि हुई है और उसी नियम के अनुसार यह सारा संसार चलता रहता है और उसमें किसी प्रकार का कोई विघ्न उत्पन्न नहीं होता।

उन्होंने संसार और समस्त तत्वों को अनादि नहीं माना किन्तु वे इनको क्षणिक मानते है। उनका कहना है कि ये सब परिवर्तित होते रहते हैं और इनमें स्थायीत्व नहीं। मनुष्य ने अपने अल्प ज्ञान के कारण इनको स्थायी मान रक्खा है।

ईश्वर और आत्मा में विश्वास न करते हुये भी बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। उनका कहना है—मानव मृत्यु के उपरान्त पुनः जन्म लेता है। उनके विचारानुसार मनुष्य-जन्म का यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेता।

बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में कुछ का विचार है कि इसने वैदिक धर्म को भारी क्षति पहुंचाई। कुछ समझते हैं कि बुद्ध भगवान ने हिन्दू धर्म की अनेक बातों को ग्रहण करके उन्हें समय के अनुसार दूसरे रूप में रक्खा। बहुत से हिन्दू बुद्ध को

भगवान का अवतार मानते हैं। इस प्रकार की और भी अनेक बातें हैं। मैं यहां बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में बुद्धगया के श्री स्वामी महाराज योगिराज के शिष्य मैत्रेय के कुछ विचार प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझता हूं। उनके विचारों का संग्रह 'बुद्ध मीमांसा' नाम से सन् १६३४ में प्रकाशित हुआ था। उनकी इस पुस्तक का अनुवाद श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बी० ए० साहित्यरत्न ने किया है।

श्री मैत्रेय का कहना है—

'गौतम बुद्ध पुरातन वैदिक धर्म (सनातन धर्म अथवा हिंदू धर्म) के ही फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे और उन्होंने जिस धर्म का उपदेश किया वह कोई नवीन धर्म नहीं था, जैसे भूल से कभी कभी समझा जाता है। प्रत्युत वह उन अतिक्रमणों और अनाचारों के सुधार के रूप में उठ खड़ा हुआ था जो तत्कालीन वैदिक धर्म की परंपरा में घुस पड़े थे'। *

श्री मैत्रेय के इस कथन को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वैदिक धर्म के बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जिनको बौद्ध धर्म नहीं मानता। यह बात ठीक है कि उस समय के ब्राह्मणों ने समाज के कई वर्गों पर ऐसे अत्याचार किये जिनसे सम्पूर्ण हिन्दू समाज को भारी धक्का लगा। ब्राह्मणों ने समाज के निम्न वर्ग और स्त्रियों को तो इतना हीन बनाया कि उन्हें मानव अधिकारों से भी वंचित कर दिया। समाज के इस वर्ग को उभारने के लिये बौद्ध-धर्म ने जो मार्ग निकाला, उससे निस्संदेह उस समय के हिन्दू समाज को बल मिला।

इतना होते हुये भी यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि बौद्ध-धर्म अति प्राचीन वैदिक धर्म का ही रूपान्तर था। बौद्ध धर्म में उन सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं दिया गया जो वैदिक धर्म के प्राण समझे जाते थे। सबसे बड़ा प्रश्न ईश्वर को सर्व शक्तिमान समझना था। वैदिक धर्म के अनुसार ईश्वर सर्व शक्तिमान है परन्तु बौद्ध धर्म ईश्वर की सत्ता तक में विश्वास नहीं रखता।

फिर भी बौद्ध धर्म ने हिन्दू समाज को उन्नत करने का जो महत्वपूर्ण कार्य किया, वह भुलाया नहीं जा सकता।

श्री मैत्रेय ने भगवान बुद्ध के सम्बन्ध में 'बुद्धगया माहात्म्य' पुस्तिका का उद्धरण देते हुये लिखा है :—

'जिस प्रकार इस बात के कितने ही प्रमाण हैं कि बुद्ध अति प्राचीन वैदिक धर्म की ही उपज और स्वयं हिंदू थे, ठीक उसी प्रकार इसके भी कितने ही प्रमाण हैं कि आरम्भ में स्वयं सनातनी हिंदू ही उनका पूजन करते थे और बौद्ध-धर्म के आरम्भिक रूप में कोई धर्म-विरोधी बात उसमें नहीं दिखलाई पड़ती थी।' इस पर मैत्रेय का

* बुद्ध मीमांसा पृष्ठ १३

कहना है कि उक्त प्रमाण इसलिए अत्यंत पुष्ट हैं कि वे हिन्दुओं के उन पवित्र धार्मिक ग्रंथों में पाए जाते हैं, जिनके वचनों को स्वयं हिंदू सबसे अधिक आप्त मानते हैं'।

'बुद्ध गया माहात्म्य' कोई प्रमाणिक ग्रंथ नहीं। दूसरे इस बात में किसी को भी मतभेद नहीं कि बुद्ध हिन्दू थे। यह बात भी सही है कि हिन्दुओं ने भगवान बुद्ध की श्रद्धा के साथ पूजा की और आज भी लाखों नर नारी उनके सम्मुख मस्तक झुकाते हैं। परन्तु इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि बौद्ध धर्म वैदिक धर्म के अनुकूल था।

श्री मैत्रेय ने मत्स्य पुराण, कल्कि पुराण, वायु पुराण, एक लिङ्ग माहात्म्य आदि ग्रंथों के आधार पर लिखा है—

'सर्वप्रथम बुद्ध को हिंदू-मात्र सर्व सम्मति से नारायण अथवा ईश्वर का अवतार मानते हैं। वे सदाचार के उस साम्राज्य का उद्धार करने के लिए अवतरित हुए थे, जो उस समय दुर्जनों के हाथों में पड़ गया था। स्वयं बौद्ध इस बात को मानते हैं कि उनके बुद्ध हिंदुओं के नारायण हैं।'

'बुद्ध का पूजन हिंदू उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार अन्य अवतारों का और इसमें किंचित्मात्र संदेह नहीं कि बुद्ध के आरम्भिक उपासक स्वयं हिन्दू ही थे, और कोई नहीं। हिन्दुओं की उपासना-विधि के अनुसार बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण की आज्ञा दी गई है और उनके निर्माण के आदेश में बताया गया है कि मूर्ति में दो हाथ और बड़े-बड़े कान हों, उन्हें समाधि की मुद्रा में, योगियों के पद्मासन के रूप में बैठाया जाय तथा उन्हें संन्यासियों के से दो काषाय वस्त्र पहनाए जांय'।*

'बुद्ध-मीमांसा' में श्री मैत्रेय ने भगवान बुद्ध को अवतार सिद्ध करने के लिये पुराणों के जो उद्धरण दिये है, वे ठीक ही है। हिन्दुओं का एक वर्ग भगवान बुद्ध को दशम अवतार आज भी मानता है। करोड़ों व्यक्ति बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा प्रगट करते है। परन्तु देखना यह है कि बौद्ध धर्म ग्रंथ वेदों के अनुकूल है या नहीं।

श्री मैत्रेय ने बौद्ध धर्म ग्रंथों का ऐसा कोई उद्धरण नहीं दिया जिससे यह बात सिद्ध होती हो कि बौद्ध धर्म, प्राचीन वैदिक धर्म के ही अनुसार है। बौद्ध धर्म नास्तिकवाद का समर्थन करने वाला धर्म समझा जाता है जबकि वैदिक धर्म आस्तिकवाद पर आधारित है।

पौराणिक काल में वैदिक धर्म का स्वरूप बदल चुका था। उस समय वेदा-नुकूल आचरण करना असम्भव सा हो गया था। कर्मकाण्ड भी बड़ा कठिन हो गया था। समाज के इने गिने व्यक्ति ही उनके अनुसार चल पाते थे। जन साधारण उसका पालन नहीं कर सकता था। धर्म में आडम्बर को विशेष स्थान मिल गया था। जीवन

---

*बुद्ध मीमांसा पृष्ठ ४०, ४२

की कोई दिशा ऐसी न रह गई थी जिसमें पंडितों और कर्मकाण्डी कहे जाने वाले ब्राह्मणों का प्रभुत्व न हो। ऐसी स्थिति में समाज में परिवर्तन लाने की बड़ी आवश्यकता थी। भगवान बुद्ध ने अपनी साधना और तपस्या के बल पर समाज को एक नया मार्ग दिखाया। उनके पावन-चरित्र का सारे समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पीड़ित जनता ने उनको अपना त्राता माना और उनका भगवान के रूप में पूजन किया।

भगवान बुद्ध ने जनता की पीड़ा को अनुभव करके उसे उससे मुक्त कराने का यत्न किया। जिन ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिये पशु बलि को धर्म का एक अंग बना दिया था, उनके विरुद्ध एक प्रकार का विद्रोह उठ खड़ा हुआ। यज्ञों में पशु बलि दिया जाना इतना बढ़ गया था कि उसने दया और प्रेम की भावना को ही दबा दिया था।

ब्राह्मणों ने मोक्ष प्राप्ति के ऐसे साधन भी निकाले जिनके द्वारा वे जन समाज को अपनी ओर आकर्षित करके धन संचय कर सकें। बछिया की पूंछ को पकड़कर वैतरणी नदी पार करने वाले सीधे स्वर्ग जा सकते हैं, या जन्म भर पाप करते रहने पर भी गंगा में एक बार स्नान कर लेने पर मुक्ति मिल जाती है इस प्रकार की विचारधारा को फैलाकर ब्राह्मणों ने समाज की बुद्धि का जो विनाश किया, उसकी कल्पना करना कठिन है। भगवान बुद्ध ने बताया कि जीवन को तपस्या और त्यागमय बनाने से मनुष्य श्रेष्ठ बन सकता है और इसी में सच्चा सुख निहित है।

जातिभेद और अस्पृश्यता ने भी समाज को निर्बल बना दिया था। सारे समाज पर ब्राह्मणों का आधिपत्य छा गया था। निरक्षर ब्राह्मण भी अपने आपको समाज का सर्वश्रेष्ठ अंग मानने लगा था। इस वर्ग ने श्रमिक वर्ग के सम्मान को विशेष रूप से ठेस पहुंचाई। अन्त्यजों की छाया से भी जब ये लोग बचने लगे तब समाज का पतन होना स्वाभाविक था। महात्मा बुद्ध ने जाति भेद को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अस्पृश्यता का घोर विरोध किया और सम्पूर्ण समाज के समान रूप से विकास करने पर जोर दिया। बुद्ध ने आचार की उच्चता पर विशेष बल दिया। उनके उपदेशों का समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके व्यक्तित्व, त्याग एवं तपस्या ने भी लोगों पर बड़ा प्रभाव डाला। इस तरह से जो व्यक्ति बौद्ध धर्म में दीक्षित हुये, उन्होंने भगवान बुद्ध के चरणों में उसी प्रकार मस्तक झुका दिया जिस प्रकार दूसरे लोग देवता के सम्मुख झुकाते थे।

बुद्ध के प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न होने का एक कारण यह भी था कि राजा, महाराजाओं ने उनकी शरण में जाना स्वीकार किया। जिस धर्म को राजा स्वीकार कर लेता है, उसके प्रवर्तक के प्रति जनता में श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न होना साधारण बात थी। राजाओं ने बुद्ध की उसी प्रकार पूजा की जिस प्रकार दूसरे लोग भगवान की पूजा करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्ध जनता के आराध्य देव बन

गये । उन्होंने जहां बड़े २ दार्शनिकों को अपनी ओर आकर्षित किया वहां साधारण से साधारण व्यक्तियों ने भी उनके उपदेशों से लाभ उठाया ।

बुद्ध ने बुद्धि की दासता से आत्मा को मुक्त करने का जो मार्ग बताया, उसने बुद्धि के विकास में बड़ी सहायता प्रदान की । उन्होंने क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से, कृपणता को दान से, असत्य को सत्य से जीतने पर जोर दिया । जीवन के ये सब तत्व ऐसे थे जिनका समाज ने स्वागत किया ।

बुद्ध और बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनको श्री मैत्रेय ने अपनी पुस्तक 'बुद्ध मीमांसा' में उद्धृत किया है । पाठकों की जानकारी के लिये हम उन्हें यहां दे रहे हैं ।

इतिहासकार डा० स्मिथ 'साइक्लोपीडिया आफ नेम्स' में लिखते हैं—

"आदिम बौद्ध-धर्म के स्वरूप का ज्ञान पश्चात्कालीन साहित्य के आधार पर किए जाने वाले अनुमान से होता है । बुद्ध प्राचीन धर्म का विरोध करने के लिए कटिबद्ध नहीं हुए थे । उनके सिद्धांत ब्राह्मण-संप्रदाय के कतिपय सिद्धान्तों के विकसित रूप थे । उनका मुख्य विषय था दुःख से मुक्ति । भारत से इस धर्म का लोप ब्राह्मणों के द्रोह से नहीं, अपितु आंतरिक कारणों से हुआ । जैसे अनुशासन का शैथिल्य, साधु धर्म का बाहुल्य आदि ।"

इस पर बौद्ध धर्म प्रचारक श्री मैत्रेय का कहना है –

'इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दुओं द्वारा बौद्धों का विरोध किया गया था, विशेषतया राजा शशांक के शासन काल में । परन्तु केवल द्रोह कभी भी किसी धर्म के लोप का कारण नहीं हो सकता । बौद्धों को हिन्दुओं द्वारा उतनी अधिक बाधा नहीं पहुंची जितनी अधिक बाधा हिन्दुओं को बहुत दिनों तक मुसलमानों द्वारा निरन्तर पहुंचती रही है । तो भी हिन्दुओं का धर्म अब तक अखंड रूप से प्रचलित है । भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास एवं अवनति का कारण द्रोह के अतिरिक्त कुछ और है । क्योंकि द्रोह बहुधा किसी मत का नाश करने की अपेक्षा उसको परिपुष्ट ही करता है, जैसा ईसाई धर्म के इतिहास से प्रगट है । उस समय जो बाधा डाली गई थी, विशेषतया मुसलमानों द्वारा उसका तात्पर्य बुद्ध गया के मंदिर तथा अन्य स्थानों की तीर्थ यात्रा के लिये भारत आने वाले विदेशी बौद्धों का यातायात रोकना था ।†

रेवरेंड डा० के. एम. बनर्जी 'डाइलौग्स आन हिन्दू फिलासफी' में लिखते हैं:—

"नास्तिकवाद निश्चित रूप से सभी बौद्धों की शिक्षा नहीं है, क्योंकि उनकी एक शाखा एक स्वतंत्र सत्ताधारी देवता को मानती है और उन्हें आदि बुद्ध के नाम से पुकारते हैं । वे आत्मा को पूर्णतया अस्वीकृत भी नहीं करते । जब वे लोग भविष्य में

† बुद्ध मीमांसा पृष्ठ ६०

कर्म फल की प्राप्ति की घोषणा करते हैं, तो उन्हें आत्मा के अस्तित्व की निश्चित अस्वीकृति का दोषी ठहराना असंभव है। वे कहते हैं कि संशयात्मा नरक भोगेगा अथवा पशु-योनि में जन्म लेगा। ज्ञानवान् देवलोक में उत्पन्न होगा अथवा मनुष्य के शरीर में जन्म लेगा। उनकी वेद निंदा के संबंध में यह कहना कहीं अधिक समीचीन होगा कि वेदों की निंदा करने की अपेक्षा उनकी बातों को अस्वीकार करते हैं।"

पश्चिमी विद्वान श्री मैक्समूलर का कहना है–

"बौद्धों के धर्म ग्रंथों द्वारा बुद्ध का जो स्वरूप हम लोगों के समक्ष आता है वह सामान्यतः न तो ब्राह्मणों का विद्वेष ही प्रकट करता है और न उसमें ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध वाद विवाद करने की रुचि ही बतलाता है। यद्यपि बौद्ध-धर्म ब्राह्मण-धर्म के प्रतिवर्तन के रूप में उठा था, पर इन दोनों के बीच अटूट शृंखला है। बुद्ध वैदिक देवताओं के विरुद्ध वाद नहीं करते। इन्होंने उन्हें उसी प्रकार विनीत भाव से मान्य समझा है जिस प्रकार उपनिषदों के प्रणेता उन्हें समझते थे।"

सर मॉनियर विलियम्स ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिज्म' के पृष्ठ २०६ पर लिखा है–

"इसलिए बौद्ध-धर्म में हिन्दू-धर्म अन्तर्निहित था। गौतम के आविर्भाव का मुख्य उद्देश पुरातन धर्म का मूलोच्छेद नहीं, बुराइयों का संस्कार करके उक्त धर्म का पुनः स्थापन था।"

इतिहासकार विंसेंट स्मिथ 'दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया' के पृष्ठ ५४-५५ पर लिखते हैं–

"बुद्ध के विषय में यह कहना अनुचित होगा कि उन्होंने किसी नए धर्म की स्थापना का विचार किया था। वे ईश्वर और आत्मा की प्रकृति, संसार की अनित्यता आदि विषयों से संबंध रखने वाले प्रश्नों पर वाद करने के अभिलाषी नहीं थे, क्योंकि वे ऐसे वाद विवाद से कोई लाभ नहीं समझते थे। प्रत्यक्ष रूप से परमात्मा (ब्रह्म) की सत्ता को अस्वीकार न करते हुए भी उन्होंने उसे नहीं माना।"

न्युयार्क पब्लिक लाइब्रेरी के अध्यक्ष डा० रिचर्ड गाथेल ने लाइब्रेरी बुलेटिन १९१६ के भाग २० के पृष्ठ ११४ पर लिखा है—

"बुद्ध मुक्ति मार्ग का अन्वेषण कर रहे थे। उन्होंने यह मुक्ति आत्म संस्कृति और आत्मानुशासन में पाई। उन्होंने पाप एवं क्लेश के मूल का अनुसंधान करने की अपेक्षा अपने को आध्यात्मिक विचारों में बहुत कम प्रवृत्त किया। उनकी अभिलाषा थी मनुष्य ऐसी माया एवं अभिलाषाओं को दबाकर ऊपर उठे जो पाप एवं क्लेश की जननी है।

"बुद्ध और उनके सिद्धांत बराबर पराजित होते रहे। यह सत्य है कि नैतिक आचार, धार्मिक सिद्धांत और दार्शनिक विचार में से कोई भी बहुत दिनों तक उसी रूप में नहीं स्थित रह सकता, जिस रूप में वह आरम्भ में रहता है। बाहरी बातें आंतरिक परिवर्तनों के साथ ही साथ इतनी भर जाती हैं कि उनका पिछला रूप पहले से बहुत भिन्न हो जाता है। इसी नियम के अनुसार बौद्ध-धर्म में ऐसा परिवर्तन जितनी पूर्णता को प्राप्त हुआ उतना अन्यत्र नहीं। बुद्ध ने धर्म के उच्च भावात्मक पक्ष के संबंध में गम्भीर मौन का अवलंब लिया था। उन्होंने इस बात की अस्वीकृति पर बहुत जोर दिया था और कहा था कि हमारी शिक्षा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है तथा इसे हमारी आचार नीति का आधार मानना भी अनावश्यक है। तथापि मानव प्रकृति ने सदाचार की लालसा से ठगा जाना अस्वीकार कर दिया। एशिया में सदा से इस बात का अनुभव किया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति सदाचारपूर्ण जीवन वहन करने का उपदेश देता है तो उसका उपदेश अरण्यरोदन ही होता है, जब तक उसका कथन किसी महात्मा (अथवा देव कोटि के प्रामाण्य व्यक्ति के) द्वारा पुष्ट न हो। इसके अतिरिक्त मानव जाति की आकांक्षाएँ भी सांसारिक व्यवहारों से हटाकर उस कोटि में नहीं पहुंचाई जा सकती जिस कोटि में बुद्ध उन्हें पहुंचाना चाहते थे। उनके अनुगामियों के लिए इससे उत्तम और सुगम मार्ग और क्या हो सकता था कि वे स्वयं बुद्ध को देवत्व की कोटि में पहुंचा कर अपनी उत्कंठाओं की परितुष्ठि करें? शनैः शनैः यह विश्वास जम गया और बौद्ध धर्म आचार शास्त्र के नियमों से धार्मिक संघटन में परिवर्तित हो गया।"

र्‌हीस डैविड्स ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिज्म' पृष्ठ ८३ पर लिखा है—

"लोगों में यह भ्रमपूर्ण भावना फैल गई है कि गौतम हिन्दू-धर्म के शत्रु थे। पर बात ऐसी नहीं है। गौतम एक आदर्श भारतीय के रूप में उत्पन्न हुए, पाले पोसे गए, जीवन-यापन किया और परलोकगामी हुए। उस समय के प्रचलित धर्म से उनका विवाद बहुत थोड़ा था। उनका अभिप्राय इसे सवारना एवं परिपुष्ठ करना था, नष्ट करना नहीं। संभवतः (उनमें और अन्य उपदेशकों में) जो विभिन्नताएं इस समय इतनी स्पष्ट जान पड़ती है, वे उस समय वैसी नहीं थीं। इसी कारण वे उस समय के ब्राह्मणों की समवेदना और समर्थन से वंचित नहीं थे। उनके प्रधान शिष्यों और धर्मानुयायियों में से बहुत-से ब्राह्मण ही थे। उस काल में न तो गौतम ने और न ब्राह्मणों के एक विशाल समुदाय ने ही इन दोनों मतों को असंगत समझा था। अशोक के समय तक, जब कि बौद्ध-धर्म भ्रष्ट हो गया था, हमें किसी प्रकार की धर्म-बाधा नहीं सुन पड़ती। बौद्ध-धर्म बराबर विकसित होता रहा और सनातन धर्म के साथ-साथ उसकी भी उन्नति होती रही। इस प्रकार यह बतलाने से कि उस समय हिन्दू-धर्म कैसा मलिन और कष्टदायी हो गया था, बात ठीक इसके विपरीत

दिखलाई देती है। गौतम की समस्त शिक्षा अवश्य कर्मकांड की पद्धति से बाहर थी। बुद्ध के उपदेशकों ने वलि करने का निषेध किया है। बुद्ध उन सुधारकों की श्रेणी में सबसे बुद्धिमान् और उत्तम थे जिन्होंने भारत के धार्मिक जीवन में नवीन शक्ति का संचार करने का घोर प्रयत्न किया है।''

भारत में बौद्ध विद्यालय—

बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये भारत में जहां अनेक विहार और मठ स्थापित किये गये, वहां अनेक विद्यापीठ भी थे। इनमें बौद्ध दर्शन एवं साहित्य की शिक्षा दी जाती थी। धार्मिक दृष्टि से स्थापित की गई कुछ विद्यापीठों ने विश्व विद्यालयों का रूप धारण कर लिया था। इनमें न केवल बौद्ध दर्शन की शिक्षा दी जाती थी किन्तु ज्ञान:एवं विज्ञान के अनेक विषयों का ज्ञान कराया जाता था।

विदेशों में बौद्ध धर्म फैल जाने पर इन विश्व विद्यालयों में शिक्षण प्राप्त करने के लिये विदेशी भी आये। उन्होंने यहां आकर उन विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जिनकी शिक्षा की अन्यत्र व्यवस्था न थी।

भारत में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, वलभी और काशी ऐसे ही विद्यालय थे जिनमें ज्ञान, विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेशी आते रहे।

इन विश्व विद्यालयों के सम्बन्ध में सागर विश्व विद्यालय के पुरातत्व एवं इतिहास विभाग के अध्यक्ष श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने बड़ी खोज की है। हम यहां उन का एक लेख उद्धृत कर रहे हैं। इससे पाठक समझ सकेंगे कि बौद्ध काल में भारत में किस प्रकार ज्ञान विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। वे लिखते हैं—

१. नालन्दा विश्वविद्यालय—

विहार के पटना जिले में वख्तियारपुर राजगीर रेलवे स्टेशन पर नालन्दा नामक एक छोटा स्टेशन है। इसी के समीप प्राचीन नालन्दा नगरी के अवशेष हैं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य में नालन्दा में एक बौद्ध विद्यालय की स्थापना हुई जिसने कुछ समय बाद एक विश्वविद्यालय का रूप प्राप्त कर लिया। पांचवीं शताब्दी का अन्त होते होते उत्तर पश्चिम में तक्षशिला के महान् विश्वविद्यालय का अन्त हो चुका था। अब उसका स्थान नालन्दा ने ग्रहण किया। लगभग सात शताब्दियों तक शिक्षा का यह केन्द्र उत्तर भारत में अग्रगण्य रहा। गुप्त शासकों की संरक्षता में नालन्दा के बौद्ध विद्यालय ने बड़ी उन्नति की। कुमारगुप्त प्रथम, तथागतगुप्त, नरसिंहगुप्त बालादित्य, बुधगुप्त तथा वज्र नामक शासकों ने इस शिक्षा केन्द्र की उन्नति के लिए मुक्तहस्त से धन और भूमि का दान किया। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने भी

नालंदा की उन्नति में योग दिया होगा पूर्व में बंगाल के पाल शासकों में से कई ने नालंदा के विश्वविद्यालय को सहायता पहुंचायी।

जब सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन सांग यहां आया, तब नालन्दा का विद्या-मन्दिर अपनी उन्नति पर था। यहां के साधुओं की अगाध विद्वत्ता, विद्यार्थियों की उत्कट ज्ञान पिपासा तथा यहां के विशिष्ट वातावरण ने चीनी यात्री को बहुत प्रभावित किया। वह नालन्दा मे कुछ समय तक ठहरा और विभिन्न विषयों में यहां के विद्वानों से उस ने अपनी शंकाओं का समाधान कराया। उस समय नालन्दा के विद्यालय में लगभग दस सहस्र विद्यार्थी विविध शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करते थे। इनको पढ़ाने के लिए लगभग एक सहस्र शिक्षक नियुक्त थे। हुएन सांग के वर्णन का कुछ अंश यहां उद्धृत किया जाता है, जिसको पढ़ने मे उस विद्यालय की आँखों देखी व्यवस्था के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त होगी—

"यहां के साधु, जिन की संख्या कई सहस्र है, बहुत योग्य और उच्चकोटि के बुद्धिमान् तथा विद्वान हैं। इन लोगों की आजकल बड़ी प्रसिद्धि है। इनमें सैकड़ों ऐसे भी हैं जिन्होंने अपनी कीर्ति प्रभा का प्रकाश दूर दूर के देशों तक पहुंचा दिया है। इन लोगों का चरित्र शुद्ध और निर्दोष है, साथ ही ये सामाजिक धर्म का प्रतिपालन बड़ी दूरदर्शिता के साथ करते हैं। इस संघाराम के नियम जिस प्रकार कठोर है, उसी प्रकार साधु लोग भी उनको पालन करने के लिए बाध्य है।

"सम्पूर्ण भारतवर्ष भक्ति के साथ इन लोगों का अनुसरण करता है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जिस दिन गूढ प्रश्न न पूछे जाते हों और उनका उत्तर न दिया जाता हो। सवेरे से सांझ तक लोग वाद-विवाद मे व्यस्त रहते हैं। वृद्ध हों अथवा युवा, शास्त्रार्थ के समय मिल-जुल कर एक-दूसरे की सहायता करते है। जो लोग प्रश्नों का उत्तर त्रिपिटक के द्वारा नही दे सकते उनका इतना अधिक अनादर होता है कि वे लज्जा के मारे फिर किसी को अपना मुंह नही दिखाते। इस कारण अन्य नगरों के विद्वान्, जिनको शास्त्रार्थ मे शीघ्र प्रसिद्ध होने की इच्छा होती है, झुंड के झुंड यहां आकर अपने ज्ञान का प्रकाश बहुत दूर-दूर तक फैला देते है। कितने लोग झूंठा स्वांग रच कर (कि वे नालंदा के पढ़े हुए है) और इधर-उधर जाकर अपने को खूब पुजाते है। यदि दूसरे प्रान्तों के लोग शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इस संघाराम में प्रवेश करना चाहें तो द्वारपाल उनसे कुछ कठिन प्रश्न करता है, जिनको सुनते ही कितने तो निरुत्तर होकर लौट जाते है। जो कोई इसमे प्रवेश करने की इच्छा रखता हो, उसको उचित है कि नवीन और प्राचीन सब प्रकार की पुस्तकों का बहुत मनन-पूर्वक अध्ययन करे।"

हुएन सांग के अतिरिक्त इत्सिंग आदि अन्य चीनी यात्रियों ने भी इस विद्या-लय की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इन सब के वर्णनों से पता चलता है कि नालंदा

के शिक्षक और विद्यार्थी विद्या के आदान प्रदान में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे। वे शास्त्रार्थ द्वारा विभिन्न विषयों का उच्च ज्ञान प्राप्त करते थे। नालन्दा की इतनी ख्याति हो गई थी कि यहाँ के विद्यालय में अपनी शिक्षा प्राप्ति का उल्लेख मात्र कर देने से विद्यार्थी सभी जगह सम्मानित होते थे। नालन्दा के शिक्षक केवल अध्यापक से ही संतुष्ट न थे, वे अपना अतिरिक्त समय अध्ययन, अन्वेषण, ग्रन्थों के अनुवाद तथा नवीन ग्रन्थों के लेखन में लगाते थे। वेदांग, हेतु विद्या, सांख्य तथा व्याकरण की उच्च शिक्षा का प्रवन्ध नालन्दा के विश्वविद्यालय में था। आठ बड़े कक्षों में तथा तीन सौ छोटे कमरों में विविध विषयों के शिक्षण का कार्य होता था। विशेषज्ञों के कमरों में विविध विषयों के शिक्षण का कार्य होता था। विशेषज्ञों के द्वारा विभिन्न विषयों पर सौ व्याख्यान नित्य कराये जाते थे। इन व्याख्यानों में नालन्दा के अन्य निवासी भी सम्मिलित होते और उन से लाभ उठाते रहे होंगे।

नालन्दा के विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा कठिन था। जो विद्यार्थी प्रवेश पा जाते थे उनके लिए निःशुल्क भोजन वस्त्र आदि का प्रबन्ध था। इस व्यय के लिए सैकड़ों गांव लगे हुए थे। नालन्दा विश्वविद्यालय की ख्याति इतनी अधिक थी कि सुदूर दक्षिण पूर्व में सुमात्रा जावा के शासक वालपुत्र देव ने नालन्दा में एक विहार बना कर उसके व्यय के लिए कई गाँव लगा दिए, ताकि चारों ओर से वहां आने वाले बौद्ध भिक्षुओं के ठहरने आदि की ठीक व्यवस्था हो। चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत आदि देशों से लोग नालन्दा आते थे। यहां वे अपनी शंकाओं का समाधान भारतीय विद्वानों से कराते थे। लौटते समय वे अपने साथ अनेक दुष्प्राप्य ग्रंथों की प्रतिलिपियां या उनके अनुवाद करके अपने देशों को ले जाते थे। भारतीय विद्वान् भी विदेशों में जाकर वहां विविध प्रकार से धर्म और शिक्षा का प्रचार करते थे। ५३६ ई० में वूती नामक चीनी सम्राट् ने, जो बौद्ध धर्म का मानने वाला था, अपने कुछ विद्वानों को महायान-सम्बन्धी साहित्य की प्राप्ति के लिए मगध भेजा। यह विद्वन्मण्डली मगध में पर्याप्त समय तक रही। मगध के तत्कालीन नरेश ने परमार्थ नामक विद्वान् को उनकी सहायता के लिये नियुक्त कर दिया। परमार्थ ने अनेक ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद कराया। इसके बाद बहुत सा साहित्य लेकर परमार्थ उस विद्वन्-मण्डली के साथ चीन गये, जहां उन्होंने योगाचार सम्प्रदाय का प्रचार किया। परमार्थ के अतिरिक्त शांतरक्षित, पुण्योपाय, अमोघवज्र, पद्मसंभव, बुद्धसेन, जिनमित्र, धर्मदेव, धर्मपाल, शांतिभद्र आदि अनेक विद्वान् भारतीय धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत, चीन, जापान आदि देशों में गये। इनमें से कई विद्वान् नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यापक या स्नातक थे।

इस प्रकार नालन्दा के विश्वविद्यालय ने एक दीर्घ काल तक न केवल भारत का प्रमुख विद्यालय होने का गौरव प्राप्त किया अपितु विदेशों में भी ज्ञान का आलोक

फैलाने में बहुत कुछ योग दिया। यहां की शिक्षा-प्रणाली ने लोक के समक्ष अध्ययन-अध्यापन का आदर्श उपस्थित कर दिया। एक लम्बे समय तक नालन्दा का विश्व-विद्यालय अपने गौरव को अक्षुण्ण रखने में समर्थ हुआ। जब पूर्व में मगध और बंगाल के शासकों का ध्यान विक्रमशिला विद्यालय की ओर अधिक आकृष्ट हुआ तब से नालन्दा के विश्वविद्यालय की अवनति होने लगी। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में बख्तियार खिलजी ने नालन्दा पर चढ़ाई करके सरस्वती की इस महती शाला को नष्ट कर दिया। यहां के भिक्षु और विद्यार्थी तलवार के घाट उतार दिये गए। विद्यालय का विशाल पुस्तकालय, जोकि रत्न सागर, रत्नोदधि तथा रत्नरञ्जक नामक तीन विभागों में बंटा हुआ था जला दिया गया। इस अपार क्षति की पूर्ति भविष्य में कभी न हो सकी। नालन्दा का नाश निस्संदेह भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त हृदय-विदारक घटना है।

२. विक्रमशिला—

विक्रमशिला की स्थिति बिहार प्रान्त के भागलपुर नगर से २० मील पूर्व पाथर घाटा की पहाड़ी में मानी जाती है। कुछ विद्वान् इसकी पहचान भागलपुर जिले के सुलतानगंज तथा अंतीचाका गांवों से करते हैं।

ई० आठवीं शती में प्रसिद्ध पाल राजा धर्मपाल ने विक्रमशिला में एक बौद्ध विद्यालय की स्थापना की। इसके लिए उसने १०८ मन्दिर तथा अनेक बड़े व्याख्या-नालय बनवाए। विभिन्न विषयों के शिक्षण के लिए १०८ शिक्षक नियुक्त किए गए।

पाल शासकों ने विद्यालय के प्रबन्ध के लिए एक समिति बना दी थी, जो शिक्षा की व्यवस्था करती थी। नालन्दा की तरह विक्रमशिला के विद्यापीठ में भी प्रवेश पा जाना सरल नहीं था। विद्यालय के द्वार पर कुछ ऐसे पण्डित रखे जाते थे जो प्रवेशार्थियों की योग्यता की जांच करते थे। जब विद्यार्थी द्वार-पंडितों के प्रश्नों का ठीक उत्तर देकर प्रवेश-परीक्षा में सफल होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेते तभी वे इस विश्वविद्यालय में अध्ययन करने के उपयुक्त समझे जाते थे। कनक राजा के राज्यकाल में आचार्य रत्नाकर-शान्ति, काशी के वागीश्वरकीर्ति, नरोप, प्रज्ञाकरमति कश्मीर के रत्नवज्र तथा गौड के ज्ञानश्री द्वार पण्डित थे।

इस महाविद्यालय में व्याकरण, न्याय और तत्व-ज्ञान का विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन होता था। बंगाल के शासक अपने यहां श्रेष्ठ स्नातकों को विशिष्ट उपाधियों द्वारा सत्कृत करते थे। जेतारि नामक विद्वान् को सम्राट् महीपाल ने तथा पण्डित रत्नबाहु को कनक नरेश ने उपाधि प्रदान की थी। प्रख्यात विद्वानों की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनके चित्र विद्यालय में रखे जाते थे। नागार्जुन

दीपंकर और श्रीज्ञान आदि विद्वानों के तैल चित्र विद्यालय की भित्तियों को सुशोभित करते थे।

आठवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी तक विक्रमशिला और तिब्बत के बीच ज्ञान-सम्पर्क बना रहा। तिब्बती साहित्य से पता चलता है कि विक्रमशिला के विद्वान् ज्ञानपाद, विरोचन, रक्षित, रत्नाकर, रत्नवज्र, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि ने तिब्बत जा कर वहां बौद्ध साहित्य के प्रचार का सराहनीय प्रयत्न किया। अन्तिम विद्वान् दीपंकर श्रीज्ञान (९८२–१०५४ ई०) विक्रमशिला विश्वविद्यालय के महापण्डित थे। तिब्बत के राज-भिक्षु ज्ञानप्रभ के आग्रहपूर्ण निमन्त्रण पर वे तिब्बत गये, जहां उन्होंने जीवन का अन्तिम काल धार्मिक-सुधार और ग्रंथानुवाद के कार्यों में बिताया। इनके लिखित, अनुवादित और संशोधित ग्रथों की संख्या सैंकड़ों है।

बारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला के शिक्षणालय में तीन सहस्र विद्यार्थी अध्ययन करते थे। यहां के विशाल पुस्तकालय में कितने ही दुर्लभ ग्रन्थ थे। इस पुस्तकालय की प्रशंसा उसके नष्टकर्ता मुसलमानों ने भी जी खोल कर की है।

१२०३ ई० में बख्तियार खिलजी ने इस विद्यापीठ को भी नष्ट कर दिया।

३. वलभी—

यह नगरी सौराष्ट्र में वल नाम से अब भी प्रसिद्ध है और आजकल उस प्रान्त के व्यापारिक केन्द्रों में से है। यहां ४८० ई० से ७८० ई० तक मैत्रकों की राजधानी थी। ये राजा शैव थे, परन्तु बौद्ध धर्म पर भी श्रद्धा रखते थे। धर्म, कलाकौशल और विद्या में इन शासकों की बड़ी आस्था थी और इनकी उन्नति के लिए उन्होंने अपनी धन-धान्य-सम्पन्न नगरी 'वलभी' में सभी प्रयत्न किए। भटार्क, ध्रुवसेन प्रथम और द्वितीय तथा धरसेन चतुर्थ के समय में वलभी के बौद्ध विद्यापीठ की बड़ी उन्नति हुई।

हुएन-सांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में वलभी में कई सौ करोड़पति व्यक्ति थे और यह नगरी विदेशों से बहुमूल्य वस्तुओं के आयात-निर्यात का केन्द्र थी। उस समय वहां लगभग सौ संघाराम थे, जिनमें छः सहस्र बौद्ध साधु निवास करते थे। कई सौ देव-मन्दिर भी थे जिनमें वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों के लोग रहते थे। वलभी में व्याकरण, तर्क और न्याय की उच्च शिक्षा के साथ सूत कातने-बुनने आदि विविध उद्योगों तथा व्यापारिक शिक्षा का प्रबन्ध था। वणिक लोग दूर-दूर से आकर अपने व्यवसाय की शिक्षा यहां प्राप्त करते थे। कथासरित्सागर (३२, ४२) से ज्ञात होता है कि अंतर्वेदी से वसुदत्त का पुत्र विष्णुदत्त उच्च व्यापारिक शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वलभी आया था।

मध्यकाल के उत्तरार्ध (६००–१२०० ई०) में वलभी और नालन्दा के विद्यालयों की विशेष ख्याति हो गई थी। वहां के स्नातकों को राज दरबारों में बड़ा

म्मान मिलता था। धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में निपुण होने के कारण इन्हीं स्नातकों ो सर्वप्रथम राज्य के शासन-सम्बन्धी उच्च पदों पर नियुक्ति प्रदान की जाती थी।

बौद्ध शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् गुणमति और स्थिरमति वलभी के विश्व-वद्यालय में ही प्रधानाध्यापक थे। हुएन-सांग ने भी इनका उल्लेख किया है। इत्सिग ा वर्णन से ज्ञात होता है कि भारत के प्रायः सभी भागों से आकर शिक्षार्थी कई वर्ष लभी के विद्यालय में रहते थे और वहां के 'महामहोपाध्याय' से अपनी शंकाओं ा समाधान करवाते थे। वलभी के शासक तथा धनाढ्य निवासी अपनी पुरी के हा-विद्यालय की उन्नति के लिए मुक्तहस्त होकर दान देते थे। शासकवर्ग तथा जनता ा यह सम्मिलित उद्योग शताब्दियों तक चलता रहा, जिसके परिणाम स्वरूप वलभी े विद्यापीठ में ज्ञान की ज्योति मैत्रक राज्य के अन्त होने पर भी बहुत काल तक ज्वलित रही।

बौद्ध मठों के विद्यालय—

उक्त तीन विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में अनेक बौद्ध-मठ भी शिक्षा के केन्द्र थे, जिनमें भिक्षु-भिक्षुणियां शिक्षा पाती थीं। बौद्ध धर्म के जटिल तात्विक अंगों तथा त्रिपिटक और अन्य गम्भीर सूत्रों को समझने के लिये संस्कृत तथा प्राकृत का यथेष्ठ ज्ञान आवश्यक था। अन्य धर्म वालों से शास्त्रार्थ का लोहा लेने के लिये उनके धर्मों के भी तत्वज्ञान मे प्रचुर गति अपेक्षित थी।

हुएन-सांग के भारत-भ्रमण के समय मे अनेक उन्नत बौद्ध मठ थे, जिनमें पुस्तकालयों की तथा उच्च शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। इस यात्री ने कश्मीर के जयेन्द्र मठ का उल्लेख किया है, जहां वह पूरे दो वर्ष तक रहकर ज्ञान प्राप्त करता रहा। हुएन-सांग ने २० लेखकों को नियुक्त कर दो वर्षों के अनवरत परिश्रम ने वहा के विशाल पुस्तकालय की अनेक उत्तम पुस्तकों की प्रतिलिपियां प्राप्त की (बील— 'लाइफ' पृष्ठ ६८–७०)। इस यात्री के कथनानुसार इस मठ के शिक्षक नित्य कोष शास्त्र, न्याय-शास्त्र और हेतुविद्या पर व्याख्यान देते थे, जिनको सुनने के लिए प्रान्त भर के शिक्षित व्यक्ति एकत्र होते थे। कपिशा, उद्यान (पेशावर के उत्तर), जालन्धर, स्रुघ्न (देहरादून के पास) हिरण्य (?), मतिपुर, श्रावस्ती और वैशाली आदि में भी ऐसे मठ थे जो शताब्दियों तक प्रख्यात शिक्षणालय रहे। फाह्यान, सुंगयुन, हुएन सांग इत्सिग और अलबेरूनी आदि यात्रियों ने इन मठों मे से अनेक का उल्लेख अपने वर्णनों में किया है। विहार और बंगाल मे बौद्ध धर्म बारहवीं शताब्दी के अन्त तक रहा। मठों के उक्त विद्यालय भी प्रायः इस समय तक चलते रहे। मुसलमानों के द्वारा उक्त प्रदेशों पर अधिकार कर लेने के बाद ही इन विद्यालयों की भी इतिश्री हो गई।*

*विश्व ज्योति बुद्ध विशेषाङ्क २७, २८, २६

चीन में बौद्ध धर्म –

बौद्ध धर्म के कारण भारत और चीन का सांस्कृतिक सम्बंध ईसा से पूर्व स्थापित हुआ। भारत के बौद्ध भिक्षुओं ने चीन में जाकर न केवल बौद्ध धर्म को फैलाया किन्तु उन्होंने भारतीय कला, लिपि, साहित्य और दर्शन आदि का भी चीनियों को ज्ञान कराया। ईस्वी सन् से पूर्व जो मंदिर चीन में बने, उनपर भारतीय कला की छाप पड़ी।

चीनी तथा तिब्बती साहित्य के अनुसार ईसा की प्रथम शताब्दी में चीन देश में भारतीय संस्कृति ने पदार्पण किया। चीन में बौद्ध भिक्षु किस प्रकार गये, इसके सम्बंध में कहा जाता है कि ६५ ई० में चीन के ह्वान वंशी राजा मिङ्ग–ति ने स्वप्न में एक स्वर्णीय देव के दर्शन किये जिसका कद साढ़े बारह फुट का था। राजा ने अपने दरबार में इस स्वप्न की चर्चा अपने मंत्रियों के सामने की। राजा के एक मंत्री ने कहा कि आपने स्वप्न में जिस पुरुष को देखा है वह भारत में रहता है और उसका नाम बुद्ध है।

यह सुनकर राजा मिङ्ग–ति ने अपने सेनापति सहित सत्तरह व्यक्तियों को बुद्ध भगवान की शिक्षा का सार प्राप्त करने के लिये भारत भेजा। ये लोग भारत गये और वहां इन्होंने बौद्ध-धर्म के सम्बंध में बहुत सी जानकारी प्राप्त की। लौटते समय ये अपने साथ भारतीय पंडित 'धर्मरत्न' और काश्यपमतंग को ले गये। चीन में उनके रहने के लिये एक विशेष भवन का निर्माण किया गया। इस भवन को मंदिर का रूप दे दिया गया और इसमें भारत से ले जाई गई बुद्ध प्रतिमा की स्थापना की गई। इस मंदिर का नाम 'लोयड' रक्खा गया।

भारत से जाने वालों के नामों में कुछ मतभेद पाया जाता है। कुछ का कहना है कि भारत से दो नहीं किन्तु चार भिक्षुक गये जिनके नाम मातंग, कश्यप भारण और धर्मरक्ष थे।

प्रो० जाइल्स ने चीनी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि विक्रम सम्वत् से १६० वर्ष पूर्व कई बौद्ध भिक्षु भारत से चीन में गये। उनपर कुछ शंका की गई और वे बन्दी बना लिये गये। ईस्वी सन् की दूसरी शती में एक भारतीय भिक्षु ने सद्धर्म-सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया और चीन में बहुत से मंदिर भी बनवाये। चीन के चार धर्मादित्यों में एक का नाम कुमारजीव था। सन् ४०५ से ४१२ के बीच इसने ८०० भिक्षुओं से चीनी भाषा में बहुत से धार्मिक ग्रंथ लिखवाये।

प्रो० जाइल्स ने आगे लिखा है—'कुमारजीव ने सत्य और मिथ्याभास पर चीनी भाषा में एक ग्रंथ लिखा। उसके लिखें 'वज्रछेदिका' के चीनी अनुवाद का

शिक्षित चीनियों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा जितना बौद्ध धर्म की सारी शिक्षाओं का नहीं पड़ा था।'

कुमारजीव ने अश्वघोष और नागार्जुन का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया।

दक्षिण भारत के एक राजा के पुत्र बोधि धर्म ५२० ई. में चीन गये। इनके समय में चीन में भारतीय शास्त्रों का संग्रह किया गया। भारत देश से इन्होंने १७५ धर्म ग्रंथ मंगाये।

धर्मरक्ष २८४ ई० में चीन गये। वहां रहकर उन्होंने २९ वर्ष तक चीनी विद्यार्थियों को धार्मिक ग्रंथ पढ़ाये। उन्होंने २११ धर्मग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया।

चीन के साहित्य एवं वहां की संस्कृति का स्वर्गीय डा० रघुवीर ने गहरा अध्ययन किया था। इसी प्रकार महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी चीनी साहित्य की खोज की।

मैं यहां स्वर्गीय डा० रघुवीर के चीन पर लिखे एक लेख का आवश्यक अंश प्रस्तुत कर रहा हूं। इसमें इस बात को समझने में सहायता मिलेगी कि चीन में भारतीय धर्म ग्रन्थों का किस प्रकार अनुवाद हुआ।

'हमारे पूर्व पुरुष मातंग और धर्मरत्न ने देवानामिन्द्र शुक्र के समान श्वेत अश्वों पर आरूढ़ होकर जम्बुद्वीप से चीन की यात्रा की थी। इन्हीं पर अनेक धर्मग्रंथ और रजत, सुवर्ण, मरकत तथा स्फटिक की विशाल और वैभवमयी मूर्तियों ने भी यात्रा की थी। काश्यप मातंग और धर्मरत्न ने ४२ खण्डों के सूत्र का निर्माण किया और चीन के राजकुल मे बुद्ध धर्म के आदर्शों का पौधा लगाया। काश्यप मातंग मध्य-जम्बुद्वीप के निवासी थे।

'राजनीतिक हलचल के होते हुये भी लोयांग के श्वेताश्व-विहार में धर्मकार्य बन्द नहीं हुआ। पश्चिम के देशों से पण्डित और मुनिगण आर्य-मार्ग के सिद्धान्तों को लाते रहे। विक्रमाब्द ३८० के लगभग मध्य भारत हीनयान के आचार्य धर्मकाल ने चीन में प्रवेश किया। धर्मकाल का जन्म बड़े घराने में हुआ था। बाल्यकाल मे इन्होंने वेद-वेदांगों का अभ्यास किया था। चीन मे आकर इन्होंने प्रातिमोक्षसूत्र का अनुवाद किया। इस समय तक चीन में संसार विरक्ति की भावना का सर्वथा अभाव था। चीनी-संस्कृति मे जीवन के भोग और आनन्द का ही स्थान था। चीन को इस भावना के समझने और स्वीकार करने में लगभग २०० वर्ष लगे।

'आदिकाल से भारत के समान चीन के दो भाग रहे है—एक उत्तरापथ और दूसरा दक्षिणापथ। चीनी उत्तरापथ के साथ हमारा सम्पर्क स्थल-मार्ग से था

और दक्षिणापथ से जल-मार्ग से। समुद्र-मार्ग विक्रम से पूर्व खुल चुका था। हमारे विद्वान् और साहसी व्यापारी सुमात्रा, जावा, थाई, कम्बोज और चम्पा होते हुए दक्षिण चीन पहुंचा करते थे। विक्रम की दूसरी शताब्दी में चम्पा-स्थित वोकन के संस्कृत शिलालेख हमारे साक्षी हैं।

'विक्रम की तीसरी शताब्दी में यानिक ब्राह्मण-कुलोद्भूत पण्डित विघ्न ने देश-देशान्तरों में पर्यटन करते हुए लंका से 'धर्मपद' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ को हस्तगत किया और वहां से चीन को प्रस्थान किया। यह ग्रन्थ अभी तक विद्यमान है। इसमें शिक्षा, श्रद्धा, शील, भावना, यमक, प्रमादचित्तादि तथा निर्वाण, संसार और सौभाग्यान्त ३९ अध्याय हैं।

'विक्रमाब्द ३२२ में वु, वाइ और शू इन तीनों राजवंशों का ह्रास होकर पाश्चात्य चिन् वंश का उदय हुआ। इस वंश के आधी शताब्दी के राज्य में भारतीय विद्वान् और उनके सहायकों ने ५०० से अधिक ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। केवल भारतीय ही नहीं, किन्तु मध्य-एशिया, तुर्किस्तान और स्वयं चीन के पण्डितों ने धर्मरक्ष आदि संस्कृत नाम धारण किए और भारत-धर्म की सेवा की। अमिताभ और अवलोकितेश्वर के सम्प्रदायों का आरम्भ हुआ। 'सद्धर्मपुण्डरीक' और 'पञ्चविंशति साहस्रिका-प्रज्ञापारमिता' जैसे जटिल और दुरूह, किन्तु युग-प्रवर्तक, महान ग्रंथों का चीन के जीवन में प्रवेश हुआ।

'दक्षिण में नानकिंग आरम्भ से ही भारत-धर्म का केन्द्र रहा। विक्रमाब्द ३७४ में प्राच्य चिन् वंश की अरुणिमा के साथ भारत-धर्म का दीप भी चमक उठा। भारतीय विद्वानों का नानकिंग में तांता बंध गया। राजकुमार श्रीमित्र ने राज्य-भार छोड़कर धर्म-सेवा को अपनाया और उत्तर चीन से होता हुआ नानकिंग में आ पहुंचा। श्रीमित्र तान्त्रिक था। इसी ने चीन में तन्त्र का प्रचार किया। तान्त्रिक मन्त्रों अथवा धारणियों का इसने चीनियों को शुद्ध उच्चारण सिखलाया। इनकी विश्वविख्यात धारणी महामायूरी विद्याराज्ञी है। इन्हीं दिनों धर्मरत्न ने आगम साहित्य के ११० संस्कृत ग्रंथों का चीनी में भाषान्तर किया। इस युग में उत्तर और दक्षिण दोनों ही भागों में आगमों का अनुवाद बड़े वेग से चला। इनमें से गौतम संघदेव कश्मीर के निवासी थे। संघदेव सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। इन्होंने ही चीन में भारतीय दर्शन का श्रीगणेश किया। तथा 'ज्ञान प्रस्थान' और 'महाविभाषा' जैसे अभिधर्म के मुख्य ग्रंथों का चीनी में भाषान्तर किया।

'चीनी साहित्य में इससे पूर्व दर्शनशास्त्र का सर्वथा अभाव था। इस अभाव की पूर्ति संघदेव और उसके अनुयायियों ने की। इनके काम को बुद्धभद्र ने आगे बढ़ाया। बुद्धभद्र का जन्म कपिलवस्तु में हुआ था। ये शाक्यमुनि के पितृव्य अमृतोदन के वंशज थे। कश्मीर में रहकर इन्होंने विनय का अध्ययन किया। जब प्रसिद्ध चीनी

यात्री फाहियान कश्मीर में आए और इनके गम्भीर पाण्डित्य का साक्षात् किया तो प्रार्थना की, "भगवन् चीन में चलिए और प्रवचन कीजिए।" उत्तर भारतखण्ड को पार करते हुए गङ्गासागर संगम के समीप से बुद्धभद्र ने जलयान पर पदार्पण किया और वहाँ से टोंकिन पहुंचे और टोंकिन से चीन। चीन में कूचा के भिक्षु कुमारजीव से उनका शास्त्रार्थ हुआ और तब से इनकी ख्याति आठों दिशाओं में फैल गई। ये चीन में 'अवतंसक' सम्प्रदाय के प्रवर्तक बने।

'विक्रम की पांचवीं शताब्दी के प्रख्यात विद्वान् धर्मनन्दी हैं। ये संस्कृत आगम साहित्य के परम विज्ञ थे। इन का जन्म तुरुष्क देश में हुआ था। इनके अवशिष्ट ग्रन्थों में 'एकोत्तरागम' तथा 'अशोकराजपुत्र चक्षुर्भेदनिदानसूत्र' विशेष उल्लेख के योग्य हैं।'*

चीन के बौद्ध संघ के उपमंत्री का मत—

चीन में बौद्ध धर्म के विस्तार के सम्बन्ध में यहां हम चीन के बौद्ध संघ के उपमंत्री श्री चाऊ-शू चिया के विचार भी यहां उद्धृत कर रहे हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत से चीन ने कितना ज्ञान प्राप्त किया। वे लिखते हैं—

> 'चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ। उस समय भारत में माध्यमिक मत का प्राबल्य था और इसलिए चीन ने माध्यमिक मत की महायान विचारधारा को स्वीकार कर लिया। हान राज वंश के प्रारम्भ के वर्षों से वाई राजवंश तक तीन राज्यों के काल में (अर्थात् २५ से २६५ ईस्वी तक) बौद्ध मत का चीन में आवागमन का समय था। महा-प्रज्ञा-पारमिता सूत्र का प्रचार तथा उसका अध्ययन वाई राज्यवंश के अन्तिम काल में प्रारम्भ हो गया था। चीनी बौद्धों ने इस सूत्र का प्रचार अनुकरण, अनुवाद, प्रचार एवं वाद विवाद द्वारा किया।
>
> 'पांचवी शताब्दी के प्रारम्भ में (अर्थात् चिन राज्यकाल ३८८—४१३ ई०) कुमारजीव चीन में आए और उनके माध्यमिक मत के प्रचुर ज्ञान तथा उनके बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद की उत्तम शैली ने उनके पूर्व-गामियों को पीछे छोड़ दिया। उसी समय श्रव्यकायन के चार आगमों तथा विभिन्न मतों के विन्यासों का एक के बाद दूसरे का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार चीनी बौद्ध धर्मावलम्बियों ने सम्पूर्ण पवित्र धर्म ग्रंथ प्राप्त किये और उनके अनुयाइयों को उनपर आचरण करने का मार्ग प्रशस्त किया।
>
> 'उस समय से चीन में बौद्ध धर्म के अनेक विशेषज्ञ हुये। इनमें से कुछ धर्म गुरु थे जिन्होंने सिद्धान्तों पर अनुसंधान किया, कुछ ध्यान से सम्बन्ध रखने थे

*विश्व ज्योति बुद्ध विशेषाङ्क पृष्ठ ८, ९, १०

इन्होंने ध्यानावस्थित होने का अभ्यास किया। कुछ विनय में पारंगत थे, इन्होंने विनय का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया। इनके अतिरिक्त बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कुछ और व्यक्ति भी थे जो समय २ पर बौद्ध धर्म की शिक्षाओं में मतभेद रखने के कारण उत्पन्न हुए। ये सब भिन्न २ ग्रंथों पर आधारित थे। इन सब विचारधाराओं के बीच होने वाले तर्क और वादविवाद ने बौद्धधर्म का गहराई के साथ अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया।' *

चीनी विद्वान चाऊ-शू-चिया का कहना है कि छटी शताब्दी में लियांग के शासन काल में भारत के बौद्धों में धीरे २ योग की प्रवृति उत्पन्न हुई। भारत से योग विचारधारा में विश्वास रखने वाले प्रचारक चीन गये और उन्होंने वहां पर योग मत को विस्तार दिया। इनमें बुद्धि, ऋषि और रत्नमती के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने चीन में योग को विशेष महत्व दिया।

चीनी विद्वान ने आगे यह भी बताया है कि चीन में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक विचार धाराओं के फैल जाने पर यांग शासन काल में यह प्रश्न उठा कि चीन के कुछ विद्वान भारत जाकर अपने प्रश्नों का समाधान करें और उनके अनुसार विचार स्थिर किया जाय। ह्यूसान चुआंग (Husan Chuang) को भारत भेजा गया और उन्होंने अनेक कठिनाइयां उठाकर भारत आकर बौद्ध धर्म के अनेक सिद्धान्तों का अध्ययन किया।

भारत से लौटते समय ह्यूसान-चुआंग बर्मा गया। वहां उसने बर्मा के बौद्धों से विचार विमर्श किया। वह तिब्बत भी गया]।

इन सब बातों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चीनियों ने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया और उसने भारतीय विद्वानों एवं धर्म-गुरुओं को अपना गुरू माना।

१९५६ में चीनी बौद्धों ने बुद्ध के २५००वें निर्वाण]दिवस पर अनेक समारोह आयोजित किये और भगवान बुद्ध के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की।

इतिहास से विदित होता है कि चीनवासियों ने कश्मीर के साथ सम्पर्क स्थापित किया और वे कश्मीर से अनेक बौद्ध भिक्षुओं को अपने यहां ले गये। इन बौद्ध भिक्षुओं में विमलाक्ष का नाम उल्लेखनीय है।

भारत से चीन जाने वालों में बुधिरुचि नाम के भिक्षु का भी उल्लेख मिलता है। यह भारत के दक्षिण के रहने वाले थे। इन्होंने बौद्ध धर्म का बड़ा अध्ययन किया था और अपने समय के सुयोग्य विद्वान माने जाते थे। इनके बारे में कहा जाता है

*विश्व ज्योति विशेषाङ्क पृष्ठ ११४, ११५ अंग्रेजी लेख से
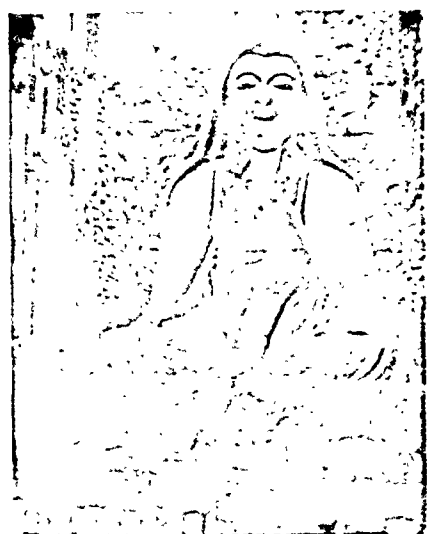
चीनी कलाकारों ने बुद्ध की मूर्ति के आधार पर दया और करुणा की देवी 'कानिइन' मूर्त्ति का निर्माण किया।

तिब्बत से प्राप्त पद्मपाणि की मूर्त्ति

इस स्वर्ण पुरुष को ५६ ई० में हानवंशी राजा मिङ्-ति ने स्वप्न में देखा था।

भगवान बुद्ध

एक देवी

अप्सरा

चीन की तुन होयं गुफा में प्राप्त डेढ़ हजार वर्ष पूर्व के प्राचीर-चित्र

धर्मयुग से साभार

जावा मंदिर में रामायण का एक दृश्य

क्षीरसागर में विष्णु भगवान शेषनाग की शैया पर विराजमान हैं। बाईं ओर गरुड़ उनको कमल का फूल भेंट कर रहा है। दाईं ओर देवतागण रावण के अत्याचार से पीड़ित होकर सहायता की याचना कर रहे हैं।

रामायण का एक दूसरा दृश्य

भरत प्रजा सहित चित्रकूट पर गए, राम ने अयोध्या लौटने से मना कर दिया। राम अपनी खड़ाम भरत को दे रहे हैं।

कि ये ६४३ ई० में जलमार्ग से चीन गये। चीन में पहुंचकर इन्होंने लगभग पचास संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

यहां यह बता देना भी आवश्यक है कि चीनी यात्री फाहियान की यात्रा से भारत के आध्यात्मिक ज्ञान का चीन में बड़ा प्रचार हुआ। उसने भारत से लौटकर चीन में भारतीयों की धार्मिक प्रवृत्तियों एवं उनके रहन-सहन की जो प्रशंसा की, उसने चीनियों को भारत का प्रशंसक बना दिया। समय २ पर अनेक चीनी यात्री भारत आये और उन्होंने यहां रहकर धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया।

भारत ने चीनी यात्रियों का सदा स्वागत किया। जिस समय ह्यू न-सांग भारत आया तब हर्षवर्धन राज्य करते थे। हर्षवर्धन ने कन्नौज में ह्यू न-सांग का राजसी स्वागत किया। वह भारत में चौदह वर्ष तक रहा। उसने नालंदा के आचार्य शीलभद्र से सात वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। अपने देश को लौटने पर उसने आचार्य शीलभद्र की विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा की।

तिब्बत में बौद्ध धर्म—

तिब्बत में बौद्ध धर्म को पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ। सारा तिब्बत बौद्ध धर्म को मानने लगा। ऐसा समझा जाता है कि तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रारम्भ उस समय हुआ जब तिब्बती लिखना पढ़ना तक न जानते थे। बौद्ध धर्म के तिब्बत में फैलने के सम्बन्ध में एक लोक कथा चली आती है। इस कथा के अनुसार ईसा की चौथी शताब्दी में राजा के महल में आकाश से एक सुन्दर संदूकची गिरी। इस संदूकची में एक बौद्ध ग्रंथ तथा एक सोने का चैत्य था। राजा ने उसे उठाया और उसकी पूजा की गई।

ईसा की छठी शताब्दी में भारत से 'लिपिदत्त' और 'सिंहकोष' नाम के दो विद्वान तिब्बत गये। वहां जाकर उन्होंने तिब्बतियों को भाषा और व्याकरण की शिक्षा दी।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म के ग्रंथों को बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ। बौद्ध ग्रंथों के प्रति तिब्बती जनता ने अपार श्रद्धा व्यक्त की।

तिब्बत में बौद्ध मठों का भी तेजी से निर्माण हुआ। तिब्बतवासियों ने बौद्ध धर्म और उस समय की भारतीय संस्कृति को बड़ी उदारता के साथ ग्रहण किया।

तिब्बत में मूर्ति पूजा को विशेष स्थान दिया गया। तिब्बतियों ने देवी देवताओं की मूर्तियों के पूजन को धार्मिक आधार बनाया।

ऐसा अनुमान है कि तिब्बत में सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष से भगवान बुद्ध की एक मूर्ति गई। उस समय सम्राट स्त्रांग-त्सान-गाम-पो तिब्बत पर राज्य करते थे। तिब्बत के इतिहास के अनुसार सम्राट की दो रानियां थीं। इनमें से एक नेपाल की

राजकुमारी थी और दूसरी चीनी राजकुमारी। ये दोनों बौद्ध धर्म को मानती थीं। उन्होंने सम्राट को बौद्ध धर्म में दीक्षित कराया। इसके पश्चात् बौद्ध धर्म तिव्वत का राज-धर्म बन गया।

सम्राट स्वाँग-सान-गाम-पो ने अपने कुछ व्यक्तियों को भारत भेजा जिससे कि वे भगवान बुद्ध की मूर्ति ला सकें।

तिव्वतवासी सम्राट स्वांग-सान-गाम-पो की नेपाली रानी को बोधिसत्व अवलोकिता और चीनी रानी को तारा का अवतार मानकर उनकी पूजा करते हैं।

तिव्वत की मूर्ति कला में धार्मिक भावनाओं को विशेष स्थान दिया गया। वहां देवी देवताओं की मूर्तियां सोना, चांदी, तांबा और कांसे से बनाई गई। मुझे कई बार तिव्वती बौद्धों से भेंट करने का अवसर मिला। मैंने उनकी मूर्तियां भी देखी हैं। वे अपनी मूर्तियों के प्रति बड़ी श्रद्धा प्रगट करते हैं। उनकी मूर्तियां दो प्रकार से बनती हैं। कुछ मूर्तियां धातु में ढालकर तैयार की जाती हैं और कुछ छैनियों द्वारा खोद कर बनाई जाती हैं। कुछ मूर्तियों को वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित किया जाता है।

तिव्बत की मूर्ति कला पर तांत्रिक मत का बड़ा प्रभाव पड़ा। तिव्वत के 'थी-दाम' की मूर्ति की आकृति ताँत्रिक है जो तिव्वत के पालक देवता माने जाते हैं।

तिव्वत में यम और महाकाल आदि देवताओं की मूर्तियों का भी प्रचलन है। भारत के और भी अनेक देवी देवताओं को तिव्वतियों ने स्वीकार किया।

तिव्वत में पद्म सम्भव की मूर्ति की भी बड़ी प्रतिष्ठा है। कहा जाता है कि आठवीं शती में पद्म सम्भव भारत से तिव्बत गये थे और उन्होंने वहां जाकर लामा-सम्प्रदाय स्थापित किया था। इनके पश्चात् लामा गुरुओं को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ।

तिव्वत में जहां बौद्ध धर्म राज-धर्म मान लिया गया वहां हिन्दू धर्म के अनुसार देवी देवताओं को भी विशेष स्थान प्राप्त हुआ।

तिव्वत में मठों की संख्या इतनी अधिक है कि प्रत्येक गांव के साथ एक मठ का औसत आता है। दलाई लामा का शरतकालीन राजमहल पोटला ल्हासा का सबसे भव्य और विशाल मठ माना जाता है। इसे देवताओं का राजमहल कहते हैं। तिव्वती भाषा में 'पोटला' का अर्थ 'देवताओं का महल' है। इस महल में एक हजार कमरे हैं। ऊपरी भाग में पूजा के कमरे, सभा भवन और दलाई लामा तथा उनके उच्च पुरोहितों के निवास स्थान हैं।

तिव्वत की प्रथा के अनुसार दलाई लामाओं की समाधियां भी महल के इस ऊपरी भाग में बनी हैं। इन सब समाधियों के गुम्बद सोने के पत्तर से मढ़े हैं।

नीचे के भाग में बौद्ध भिक्षुओं के कमरे, सरकारी कार्यालय आदि हैं। परन्तु अब यह नहीं कहा जा सकता कि जब से चीन ने तिब्बत पर अधिकार किया है, तब से ल्हासा के इस राज-महल का रूप क्या हो गया। तिब्बत के बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां अब चीनी साम्यवादियों की शिकार हो चुकी हैं।

मठों के मठाधीश अपने क्षेत्र के नर-नारियों को धार्मिक उपदेश देते हैं। मठाधीश उनके धार्मिक उत्सवों में भी भाग लेते है।

लंका में बौद्ध धर्म—

महाराज अशोक ने लंका में अपने पुत्र महेन्द्र को बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा। उस समय लंका में 'तिष्य' नाम का राजा राज्य करता था।

लंका के राजा 'तिष्य' ने अशोक के पुत्र महेन्द्र का बड़ा सत्कार किया और उससे अनेक प्रश्नों पर विचार विमर्श भी किया। महेन्द्र ने 'तिष्य' को लंका में आने का कारण बताते हुये कहा कि हम तो यहां भगवान बुद्ध का संदेश लेकर आये हैं। हम चाहते हैं कि आप और आपकी प्रजा इस दिव्य संदेश से लाभ उठाये।

तिष्य महेन्द्र के धार्मिक ज्ञान से बड़े प्रभावित हुये और उन्होंने बुद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उनके साथ ही लंका के ४० हजार नर नारियों ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। इस तरह लंका में भी बौद्ध धर्म राज-धर्म बन गया।

जापान में बौद्ध धर्म—

जापान से पहले कोरिया में बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ। ३२७ ई० में चीन के 'सुन-दो' नाम के एक बौद्ध धर्म प्रचारक ने कोरिया जाकर भगवान बुद्ध का संदेश दिया।

५२२ ई० में 'शिबा-तात्सु' चीन से जापान गया। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार का यत्न किया परन्तु उसे इसमें सफलता न मिली। इसके ३० वर्ष पश्चात् ५५२ ई० में पुनः यह प्रयत्न किया गया कि जापानवासी बौद्ध धर्म को स्वीकार करलें। उस समय के जापानी राजा ने तो बौद्ध धर्म को स्वीकार करने की स्वीकृति दे दी परन्तु उनके मन्त्रियों एवं सामन्तों ने विरोध किया। अतः जापान में इस बार भी बौद्ध धर्म को सफलता न मिली।

तीसरी बार 'हो दो' नाम के एक बौद्ध प्रचारक ने ओसाका में महाराजा जापान से भेंट की और उनको बौद्ध बन जाने की प्रेरणा की। इस बार जापान के महाराज ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उन्होंने ओसाका में एक विशाल बौद्ध मंदिर भी बनवाया। कहा जाता है कि भगवान बुद्ध की स्मृति में बौद्ध मंदिर बन जाने पर ही वर्तमान ओसाका का नाम 'ओसाका' पड़ा। जापानी भाषा में ओसाका का अर्थ बुद्ध मन्दिर है।

जापान में बुद्ध-धर्म फैलने के सम्बन्ध में स्वर्गीय डा० रघुवीर ने निम्न उल्लेख किया है—

'चीन से भारत धर्म कोरिया में पहुंचा। विक्रमाब्द ४२६ में चीन के सम्राट ने कोरिया में बौद्ध सूत्र और मूर्तियां भेजीं। बारह वर्ष के पश्चात् भिक्षु मारानन्द पाकचेई नगर में गया। इसके पचास वर्ष अनन्तर बौद्ध भिक्षु सिल्ला नगर में पहुंच गए। राजाओं ने जीवित प्राणियों की हिंसा का निषेध किया। राजपुत्रों ने काषाय धारण किया। स्थान-स्थान पर बौद्ध विहार बनाए गये।

'कोरिया से ५६५ विक्रमाब्द में महाराज कुदार ने भगवान् बुद्ध की मूर्ति, बौद्ध सूत्र और पताकाएं जापान के सम्राट को उपहार रूप में भेजीं और संदेश दिया कि आप भी इस सर्वोत्कृष्ट धर्म का प्रतिग्रहण करें। इससे आपको तथा आपकी प्रजाको अपरिमित लाभ होगा। यह धर्म भारत और कोरिया के बीच के सभी देशों का धर्म है। यह संदेश राज सभा में सुनाया गया। इस समय जापान की राजसभा के दो पक्ष थे। इनमें से एक ने संदेश का स्वागत किया और दूसरे ने विरोध।

'६५० विक्रमाब्द में जापान का पहला संविधान बना और उसमें बुद्ध, धर्म और संघ रूपी त्रिरत्न को अपना आधार बनाया गया। राजकीय कोष की सहायता से विहार, विद्यालय, चिकित्सालय तथा वृद्ध और अनाथों के लिए धर्मशालाएं बनाई गईं। सूत्रों के अध्ययनार्थ चीन को विद्यार्थी भेजे गए। प्रथम प्रवेश के ७० वर्ष पश्चात् जापान में मन्दिरों की संख्या ४६, भिक्षुओं की ८१६ और भिक्षुणियों की ५६९ हो चुकी थी।

'बौद्ध धर्म दिनानुदिन उन्नति करता गया। देश के रक्षक भगवान् बुद्ध बने। विक्रमाब्द ७९८ में वैरोचन बुद्ध की ५३ फुट ऊंची कांस्यमूर्ति की नींव डाली गई।

'आज जापान में बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, प्रथम जो दो सम्प्रदाय हैं, ये पश्चिमवर्ती भारत देश की सुखावती नाम स्वर्गभूमि के मानने वाले हैं अमिताभ बुद्ध इनके रक्षक हैं। जेन अथवा ध्यान सम्प्रदाय, योद्धा और क्षत्रियों में बहुत प्रचलित है। ध्यानाभ्यास से वे कठोर यातनाएं अपने आदर्श के पालन के लिए सहन कर सकते हैं। निचिरेन सम्प्रदाय सद्धर्मपुण्डरीक नाम के जप को ही सर्व कल्याण का साधन मानता है। तेन्दाई और तान्त्रिक शिंगोन का प्रभाव उच्च कुलों में अधिक है तथा जोदो और शिंसु साधारण जनता में फैले हुए हैं।' *

डा० रघुवीर का कहना है कि तिब्बत, मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया, चीन और जापान के ग्रामों, नगरों, पर्वतों और नदी, नालों के तटों पर अवस्थित मंदिरों

---

* विश्व ज्योति बुद्ध विशेषाङ्क पृष्ठ ११

और भक्तों के भवनों में अंकित देवनागरी अक्षरों में संस्कृत के मन्त्रों और श्लोकों को देखकर मन प्रसन्न हो उठता है। ये सब हमारे उन पूर्वजों का स्मरण कराते हैं जो आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व इन देशों में गये।

जापान में अनेक बौद्ध सम्प्रदाय हैं। भगवान बुद्ध के नाम पर चलने वाले इन सम्प्रदायों में थोड़ा अन्तर आ गया है। महासन्त श्री निचिरन ने जिस सम्प्रदाय को ग्रहण किया वह जापान में विशेष रूप से संगठित है। जापान से जो बौद्ध भारत आये उन्होंने कलकत्ता, रांची और वम्बई में अपने मंदिर बनवाये। इन मंदिरों का सारा प्रबन्ध इसी सम्प्रदाय के बौद्ध भिक्षु करते हैं।

सत्तरहवीं शताब्दी में जापानी संत रयोकेन ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इनकी महिमा से प्रभावित होकर जापान के महाराज तोकुगवा ने गोकोकुजी का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया और इनको भेंट कर दिया।

जापान में बौद्ध धर्म फैलने के कारण भारतीय सभ्यता का वहां के जन जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। एशियाई देशों में यह देश सभ्यता की दृष्टि से सर्वोत्तम माना जाता रहा है।

जापानियों के जीवन में विनम्रता की भावना पाई जाती है। उनमें अपने देश के प्रति सर्वस्व न्योछावर कर देने की जो उत्कृष्ट भावना विद्यमान है, वह संसार में अद्वितीय समझी जाती है। जापानी जीवन में सादगी को भी विशेष महत्व दिया गया है। धार्मिक दृष्टि से अब यहां ईसाई धर्म ने भी अपना स्थान बना लिया है। फिर भी ये लोग भगवान बुद्ध के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त करते हैं।

स्याम में बौद्ध धर्म–

स्याम में भारत की संस्कृति ईसा की प्रथम शताब्दी में फैली। सारे इंडोनेशिया पर भारत की धार्मिकता की छाप लगी। चौथी शताब्दी में इंडोनेशिया में हिन्दू राज्य की स्थापना हो गई। इंडोनेशियाई देशों में हिन्दू संस्कृति के साथ २ बौद्ध धर्म ने भी अपना प्रभाव डाला। पहले हम स्याम में फैले बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रगट कर रहे हैं।

स्यामवासी अपने आपको अशोक सम्राट के राज-वंश से सम्बन्धित समझते है। बौद्ध धर्म ने स्याम में राज धर्म का स्थान प्राप्त किया।

स्यामवासियों ने बौद्ध धर्म के सभी ग्रंथों का स्यामी भाषा में अनुवाद कराया। लेकिन उन्होंने पाली और जावा की भाषाओं से सहायता लेकर अनुवाद कराया। स्याम में पाली भाषा का बड़ा अध्ययन किया गया। स्याम के बौद्ध मठों में पाली भाषा जानने वालों की संख्या काफी रही।

जिस तरह भारत में काशी संस्कृत विद्या का केन्द्र रहा इसी प्रकार बौद्ध धर्मावलम्बियों ने बैंकाक को अपने सबसे बड़े धार्मिक तीर्थ का रूप दिया। यहां बौद्धों ने एक बड़ी संख्या में बौद्ध मंदिरों का निर्माण किया। उनकी संख्या पांच सौ से कम नहीं।

बैंकाक के राज मंदिर में सोने की मूर्तियां हैं जिनमें मूल्यवान हीरे जड़े हैं। इस मंदिर में सर्व साधारण को जाने की अनुमति नहीं।

बैंकाक का 'वाट-फो' बौद्ध मंदिर सबसे विशाल मंदिर है। इसमें भगवान बुद्ध की जो मूर्ति स्थापित की गई है उसकी लम्बाई ९६ फिट है। भगवान बुद्ध को आनन्द-मुग्ध मुद्रा में लेटे दिखाया गया है।

स्याम में बौद्ध मूर्तियों को बड़ा सम्मान दिया जाता है। यहां के कलाकार अनेक प्रकार से मूर्तियों का निर्माण करते हैं। वे कांसे, पत्थर, लकड़ी और मिट्टी द्वारा इन मूर्तियों को छोटे बड़े आकारों में तैयार करते हैं।

स्याम के मंदिरों में जो भित्तिचित्र अंकित मिलते हैं उनमें रामायण के अनेक पात्रों के चित्र हैं। अंकोरावाट मंदिर में बने भित्तिचित्र में रावण को दस मुख वाला दिखाया है। ऐसे ही यहां राम और हनुमान आदि के अनेक चित्र भी मिलते हैं।

स्याम में हिन्दू संस्कृति–

स्याम देश पर हिन्दू संस्कृति की पूरी छाप लगी। हिन्दुओं के अनेक त्यौहारों को स्यामवासियों ने अपनाया। उन्होंने श्राद्ध को भी अपने धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित किया। आश्विन मास में स्याम में पितृपक्ष मनाने की प्रथा अब तक चली आ रही है। भारत के समान स्याम में पुजारियों और पुरोहितों का सम्मान किया जाता है। राजा भी पुरोहित को बड़ा आदर देता है। राजा के पुरोहित 'वासुदेव' कहलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्यामवासियों ने इस शब्द को रामायणकालीन पुरोहितं से लिया। कहा जाता है कि श्री रामचंद्र जी के पुरोहित का नाम 'वासुदेव' था।

स्याम देश में वहां की भाषा में संस्कृत शब्दों को विशेष स्थान प्राप्त है। अयोध्या, स्वराष्ट्र, महाराष्ट्र, प्राचीनपुरी तथा धर्मराज जैसे शब्दों का प्रयोग वहां के प्रान्तों के लिये किया गया है। व्यक्तियों के नामों में भी भारतीय नाम सम्मिलित हैं।

स्याम में बौद्ध साहित्य के साथ २ पौराणिक साहित्य ने भी विशेष स्थान प्राप्त किया। रामायण की कथा तो वहां के जन-जीवन का एक अंग ही बन गई है। घर घर राम के प्रति श्रद्धा प्रगट की जाती है। नगर और गांव गांव में रामलीलायें होती हैं।

राम शब्द ने राजवंश में स्थान प्राप्त किया हुआ है। वहां के राजाओं के नामों में राम शब्द का प्रयोग मिलता है। वहां के राजाओं के महावज्र बुद्धराम, महायंतकराम, सुखदेवराम जैसे नाम मिलते हैं।